ऋषभदेव : एक परिशीलन

लेखक
राजस्थानकेसरी अध्यात्मयोगी उपाध्यायप्रवर
श्री पुष्कर मुनिजी महाराज के सुशिष्य
देवेन्द्र मुनि शास्त्री

प्रकाशक
श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय
शास्त्री सर्कल, उदयपुर (राजस्थान)

अध्यात्मयोगी उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी दीक्षा स्वर्ण जयन्ती समारोह
के उपलक्ष्य में प्रकाशित

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थमाला पुष्प : ८६

पुस्तक :
ऋषभदेव : एक परिशीलन

लेखक :
देवेन्द्र मुनि शास्त्री

सम्पादिका :
साध्वी विजयाश्री

अर्थ सहयोगी :
श्रीमान् जेठमलजी चोरड़िया, महावीर ड्रग हाउस, बैंगलोर

प्रथम संस्करण : १९६७

द्वितीय संशोधित एवं
परिवर्द्धित संस्करण : वि० सं २०३४ आश्विन, विजयदशमी

प्रकाशक :
श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय
शास्त्री सर्कल, उदयपुर (राजस्थान)

मुद्रक :
दुर्गा प्रिंटिंग वर्क्स, आगरा-४

मूल्य : पन्द्रह रुपये

ṚṢABHADEVA : EK PARIŚĪLAN

[An Exhaustive Study of Tīrthankara ṚṢABHADEVA as described in Ancient and Modern Indian and Western Literature]

By

Devendra Muni Shastri

Disciple of

Rajasthankesari Adhyatmayogi Upadhyayapravar

Sri Pushkar Muniji Maharaj

Published by

Sri Tarak Guru Jain Granthalaya, Udaipur (Raj.)

Published on the occasion of the Deeksha Golden Jubilee of Adhyatmayogi Upadhyaya Sri Pushkar Muniji

Sri Tarak Guru Jain Granthmala Publication No. 89.

☐ *Subject*
An Exhaustive Study of Life-sketch and Teachings of
ṚṢABHADEVA

☐ *Author*
Devendra Muni Shastri

☐ Second Revised and Enlarged Edition
Vijayadashmi, 2034, Vikrami
October 1977

☐ *Donator*
Sri Jethmal Chauradia, Mahavir Drug House, Bangalore

☐ *Publisher*
Sri Tarak Guru Jain Granthalaya
Shastri Circle, Udaipur, Rajasthan (India)

☐ *Printer*
Durga Printing Works, Agra–4

☐ *Price* : Rs. Fifteen only
Rs. 15/- only

समर्पण

श्रद्धालोक के अमर देवता
साहित्य-वारिधि महामनीषी
परम श्रद्धेय सद्गुरुवर्य
राजस्थानकेसरी उपाध्याय
श्री पुष्कर मुनि जी महाराज
के पुनीत कर-कमलों में
सादर, सविनय समर्पित

—देवेन्द्र मुनि

प्रकाशकीय

भगवान ऋषभदेव विश्वसंस्कृति के आदि-पुरुष हैं। उनकी जीवनगाथा गगा के प्रवाह की तरह निर्मल रही है, जो हजारो-लाखो वर्षों से जन-जीवन को प्रेरणा प्रदान करती रही है। उसी महापुरुष ने भोगभूमि के मानवों को कर्मभूमि में जीने योग्य बनाया। असि, मसि और कृषि की सुव्यवस्था कर जन-जीवन में सुख और शान्ति की सस्थापना की। साथ ही कला की कालिन्दी, साहित्य की सरस्वती और धर्म की गगा प्रवाहित करने वाला हिमाच्छादित हिमालय की तरह वह उत्तंग महापुरुष था।

जैन, बौद्ध और वैदिक परम्परा मे ही नही, विश्व की अन्य संस्कृतियों में भी उनकी यशोगाथा गायी गयी है और विभिन्न रूपो मे उनके पवित्र चरित्र को उट्टंकित किया गया है। प्राचीन साक्षियो के आधार से गभीर अनुसन्धान कर देवेन्द्र मुनिजी ने 'ऋषभदेव : एक परिशीलन' ग्रन्थ का निर्माण किया। प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रथम संस्करण सन् १९६७ में सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा से प्रकाशित हुआ। भारत के मूर्धन्य मनीषियों ने तथा पत्र-पत्रिकाओं ने ग्रन्थ की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की। इस ग्रन्थ की प्रतियाँ कुछ ही समय मे समाप्त हो गयी। इस बीच देवेन्द्र मुनि जी ने 'भगवान पार्श्व : एक समीक्षात्मक अध्ययन', 'भगवान अरिष्टनेमि और कर्मयोगी श्री कृष्ण : एक अनुशीलन', 'भगवान महावीर : एक अनुशीलन' जैसे शोध-प्रधान तुलनात्मक दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ तीन तीर्थंकरो पर लिखे। बहुत-सी नई जानकारी प्राप्त हुई, जिसके आधार से मुनिश्री ने इसका नया सस्करण तैयार किया। इस सस्करण मे पहले की अपेक्षा संशोधन, परिमार्जन ही नही किया गया, बल्कि विषय की दृष्टि से भी इसे पल्लवित और संवर्धित किया गया है।

भगवान ऋषभदेव से सम्बन्धित जितनी भी सामग्री मिल सकती है, उसे लेखक ने एकत्रित करने का प्रयास किया है। सैकड़ो ग्रन्थो का परिशीलन कर भगवान ऋषभदेव के व्यक्तित्व, कृतित्व और जीवन को जिस संक्षेप और प्रामाणिक और तुलनात्मक शैली मे प्रस्तुत किया गया है वह वस्तुत: अभिनन्दनीय ही नहीं, अनुकरणीय भी है। प्रस्तुत ग्रन्थ की सपादिका हैं महासती विजयाश्री जी, जो प्रतिभा संपन्न साध्वी हैं, पंजाब सिंहणी परम विदुषी महासती श्री केसरदेवीजी, तथा अध्यात्म प्रेमी महासती कौशल्यादेवी जी की सुशिष्या हैं। उन्होंने मुनिश्री के निर्देशानुसार

प्रस्तुत ग्रन्थ का श्रमपूर्ण संपादन किया है। साथ ही श्रीचन्द जी सुराना 'सरस' ने ग्रन्थ को मुद्रण कला की दृष्टि से सुन्दर बनाने का प्रयास किया है। महावीर ड्रग हाउस, बैंगलोर के सचालक श्रीमान् धर्मप्रेमी सुश्रावक जेठमल जी साहब चोरडिया के उदार आर्थिक सौजन्य से प्रस्तुत संस्करण प्रकाशित हो रहा है। अतः हम उक्त सभी के आभारी हैं।

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय ने महत्त्वपूर्ण प्रकाशन कर साहित्य के क्षेत्र में अत्यधिक आदर व गौरव प्राप्त किया है। मुनिश्री जी के संपूर्ण साहित्य के प्रकाशन का गौरव हमे मिला है। परम श्रद्धेय राजस्थानकेसरी अध्यात्मयोगी प्रसिद्ध वक्ता उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी महाराज के शुभ-आशीर्वाद से हम प्रतिपल प्रतिक्षण प्रगति कर रहे हैं। हमारे प्रकाशन अधिकाधिक लोक-प्रिय बन रहे हैं। हमारा यह प्रकाशन भी पूर्व-प्रकाशनो की तरह अधिकाधिक लोकप्रिय बनेगा, इसी मंगल आशा के साथ यह नया परिवर्द्धित संस्करण प्रबुद्ध पाठको के कर-कमलों मे समर्पित करते हुए हमे अपार आह्लाद है।

मन्त्री
श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय
उदयपुर

लेखक की कलम से

हम जिस विराट विश्व में जी रहे हैं, वह क्या है ? वह कहाँ पर है ? और वह कब से है ? उसका एक रूप है या बहुत रूप ? उसकी सरचना किसने की ?—ये प्रश्न अतीत काल से ही जन-जन के अन्तर्मानस में उद्‌बुद्ध होते रहे हैं। मानव ने इन्ही प्रश्नो का समाधान पाने के लिए दर्शनशास्त्र की रेखाएँ खीची हैं। दर्शन एक देखने की पद्धति है। वस्तु को हम दो साधनो से देखते हैं। प्रत्यक्षीकरण साक्षात्कार यह प्रथम साधन है और हेतुवाद यह द्वितीय साधन है।

ध्यान साधना के सिद्ध होने पर मानव विश्व को अन्तर्दृष्टि से देखता है। उसके लिए अध्ययन आदि की कोई प्रक्रिया नही है। किन्तु बौद्धिक मानव तार्किक दृष्टि से देखता है। तर्क मानव के ऐन्द्रिक अनुभवो से प्राप्त ज्ञान है। वह सामूहिक बोध है। इसलिए उसके अध्ययन का क्रम है। अन्तर्दृष्टि से जिन तत्त्वों को देखा गया उन तत्त्वों का प्रतिपादन करने वाला शास्त्र दर्शनशास्त्र है। और तार्किक ज्ञान के द्वारा जिसका प्रतिपादन किया जाता है वह तर्कशास्त्र है। किन्तु आज दर्शनशास्त्र और तर्कशास्त्र दोनों प्रायः मिल गये हैं।

जैनदर्शन एक तर्कसम्मत वैज्ञानिक दर्शन है। उसने सूक्ष्म से सूक्ष्म प्रश्नों का समाधान प्रस्तुत किया है जैसे—(१) यह विराट् विश्व चेतन और अचेतन द्रव्यों का समवाय है। (२) आकाश अनन्त है। उस आकाश का मध्यवर्ती यह आकाश खण्ड है। (३) यह शाश्वत है, इसका आदि नहीं है। (४) पर्याय की दृष्टि से वह परिवर्तनशील भी है जो प्रतिपल-प्रतिक्षण अभिनव रूपों में परिवर्तित होता रहता है। (५) द्रव्य दृष्टि से वह अनादि है, अतः वह किसी शक्तिविशेष की कृति या प्रतिकृति नहीं है। यहाँ हम दार्शनिक दृष्टि से इन प्रश्नों पर चर्चा न कर प्रागैतिहासिक दृष्टि से चिन्तन करेंगे कि यह विराट् विश्व शाश्वत और अशाश्वत दोनों का सम्मिलित रूप है।

भगवतीसूत्र मे आर्य स्कन्दक के प्रश्न का समाधान करते हुए भगवान महावीर ने कहा—'ऐसा कोई अतीत काल मे क्षण नही था, वर्तमान मे नहीं है और न भविष्य मे ऐसा क्षण होगा जिसमे इस जगत् का अस्तित्व न हो। यह जगत् शाश्वत है।'

भगवान महावीर ने भगवतीसूत्र मे ही अन्यत्र जमाली से कहा—'जमाली, इस जगत मे काल-चक्र निरन्तर गतिशील रहता है। सदा अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के रूप में चलता रहता है जिससे जगत् का परिवर्तन होता रहता है। परिवर्तन की

दृष्टि से भगवान ने जगत का अशाश्वत रूप प्रतिपादन किया है। ऐतिहासिक दृष्टि से जो जगत् का अध्ययन करना चाहते हैं उनके लिए परिवर्तनशील रूप अधिक लाभप्रद है।

कालचक्र जगत् के ह्रास और विकास का उन्नति और अवनति का प्रतीक है। जब कालचक्र नीचे की ओर गमन करता है तब मानवीय सभ्यता-संस्कृति में ह्रास होता है। और जब वह ऊपर की ओर गति करता है तब विकास होता है। काल की प्रस्तुत ह्रासोन्मुखी गति को जैन पारिभाषिक शब्द में अवसर्पिणी काल कहा है, जिसमे वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, संहनन, संस्थान, अवगाहना, शरीर, सुख प्रभृति पर्यायों में क्रमशः अवनति होती है। और विकासोन्मुखी गति को जैन पारिभाषिक शब्द मे उत्सर्पिणी कहा है जिसमें उक्त पर्यायों की क्रमशः उन्नति होती है। यह अवनति और उन्नति वैयक्तिक नहीं, सामूहिक है। जब अवसर्पिणी की चरम सीमा हो जाती है तब उत्सर्पिणी का जन्म होता है और उत्सर्पिणी का अन्त होने पर अवसर्पिणी का प्रारम्भ होता है। प्रत्येक अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के छह-छह आरे होते हैं, वे इस प्रकार हैं—(१) सुषम-सुषमा (२) सुषमा (३) सुषम-दुखमा (४) दुःषम-सुषमा (५) दुःषमा (६) दुःषम-दु.षमा। उत्सर्पिणी के आरो का क्रम अवसर्पिणी के आरों के क्रम से व्यतिक्रम-विपरीत होता है।

हम आज अवसर्पिणी के पांचवे दुःषम आरे मे जीवनयापन कर रहे हैं। हमारे युग का प्रारम्भ सुषम-सुषमा से होता है। उस समय यहाँ की भूमि अत्यन्त स्निग्ध थी, मिट्टी का मिठास मिश्री से भी बहुत अधिक मीठा था। पदार्थ इतने स्निग्ध थे कि तीन दिन के पश्चात् मानव को क्षुधा लगती और अरहर की दाल जितनी-सी वनस्पति खाने पर वह पूर्ण तृप्त हो जाता था। विकार अत्यन्त अल्प थे। अतः वे बहुत दीर्घजीवी होते थे अर्थात् तीन पल्य की आयु होती थी। कभी भी अकालमृत्यु नही होती थी। उस समय मानव का शरीर तीन गाऊ ऊँचा था। वह स्वभाव से बहुत ही शान्त और सन्तुष्ट था। इस प्रकार प्रथम आरा चार कोटाकोटि सागरोपम का समाप्त होने पर द्वितीय आरा तीन कोटाकोटि सागरोपम का आरम्भ हुआ। इसमे पूर्वापेक्षया भूमि तथा पदार्थों की स्निग्धता कम होने से मानव को दो दिन के अन्तर से भूख लगने लगी और उसकी मात्रा भी बेर के फल जितनी होगयी, उसकी आयु दो पल्य की और शरीर की ऊँचाई दो गाऊ की। काल का पहिया आगे सरका, सुषम-दुःषमा नामक तीसरा आरा प्रारम्भ हुआ जो दो कोटाकोटि सागर का था। पदार्थों की स्निग्धता मे प्रतिपल कमी होने के कारण एक दिन के अन्तर से मानव को भूख लगने लगी और उसकी मात्रा आँवले के समान हो गयी। आयु भी एक पल्य की और शरीर की ऊँचाई एक गाऊ की हो गयी। इस आरे के अन्तिम चरण में जब स्निग्धता के अभाव मे मानव को पहले से अधिक भूख सताने लगी, सहज प्राकृतिक जीवन में परिवर्तन हुआ। उस समय मानव के जीवन में उच्छृङ्खलता बढ़ने लगी। तब नये युग का प्रारम्भ हुआ। उस संक्रांति काल में परस्पर संघर्ष और लूट-खसोट

होने लगी। अपराधी-मनोवृत्ति का बीज पनपने लगा। तब कुलकर नामक एक नयी व्यवस्था का निर्माण किया गया। लोग कुल बनाकर रहने लगे और उन कुलों का मुखिया कुलकर कहलाता। वह कुलों की व्यवस्था करता। उन कुलों की सुख-सुविधा का ध्यान रखता, और अपराध करने पर दण्ड देता। यह शासन-तन्त्र का आदि रूप था।

भगवान ऋषभदेव के पिता नाभि अतिम कुलकर थे। जब अपराध अधिक बढ़ने लगे और कुलकर व्यवस्था का भी उल्लंघन होने लगा तब सर्वप्रथम ऋषभदेव राजा हुए। उन्होने गाँवो और नगरों का निर्माण कराया। लोग अरण्यवास से हटकर भवनवासी बने। राज्य की समृद्धि के लिए गायो, घोड़ों और हाथियों का संग्रह प्रारम्भ किया। मत्रि-मडल बनाया। आरक्षक दल स्थापित किया। चतुरग सेना और सेनापतियो की व्यवस्था की। साम, दाम, भेद, दण्ड नीति का प्रवर्तन किया। विवाह-पद्धति का प्रारम्भ किया। खेती कर खाद्य समस्या का समाधान किया। शिल्पकला और व्यवसाय का प्रशिक्षण दिया। इस प्रकार सभी जीवों को सुखी बनाया और जीवन के अन्तिम भाग मे राज्य व्यवस्था त्यागकर वे श्रमण बने। हजार वर्ष की साधना के पश्चात् उन्हे कैवल्य लाभ हुआ। श्रमण-श्रमणी, श्रावक-श्राविका इन चार तीर्थों की संस्थापना की। श्रमणधर्म के लिए पाँच महाव्रत और श्रावकधर्म के लिए बारह व्रतों का उपदेश दिया।

भगवान ऋषभदेव सर्वप्रथम सम्राट, सर्वप्रथम परिव्राट्, सर्वप्रथम केवली और सर्वप्रथम तीर्थंकर थे। उनके पवित्र चरित्र को ही शताधिक ग्रन्थों के प्रकाश में मैंने लिखा, जिसे मूर्धन्य मनीषियो ने अत्यधिक पसन्द किया।

प्रथम संस्करण कभी का समाप्त हो चुका था। द्वितीय संस्करण की माँग दिनोंदिन बढ़ रही थी। अन्यान्य लेखन कार्यों में व्यस्त होने के कारण परिष्कृत संस्करण तैयार करने का समय नहीं मिल पा रहा था। पूना वर्षावास में स्नेह सौजन्य की साक्षात् प्रतिमा बहन महासती विजयाश्री ने मुझे सहयोग दिया और ग्रन्थ का अभिनव संस्करण तैयार हो गया। किन्तु अन्य ग्रंथों का प्रकाशन हो रहा था। अतः इसके प्रकाशन में कुछ अधिक समय लग गया। महासती विजयाश्री जी का श्रम मूल्यवान है, उनके श्रम का मूल्यांकन भावात्मक है। अतः साधुवाद देकर उसका मूल्य कम करना मुझे इष्ट नही है।

श्रद्धेय सद्गुरुवर्य राजस्थानकेसरी अध्यात्मयोगी उपाध्याय पण्डितप्रवर श्री पुष्कर मुनि जी महाराज का मार्गदर्शन मुझे सहज सुलभ रहा है। मैं इसे अपना परम सौभाग्य मानता हूँ। कृतज्ञता-ज्ञापन में उसकी अनुभूति को व्यक्त कर सकूँ यह सम्भव नही है। उनका सदा आशीर्वाद प्राप्त होता रहे जिससे मैं नित्य नूतन साहित्य का सृजन करता रहूँ, यही हार्दिक अभिलाषा है। रमेशमुनि, राजेन्द्र मुनि, दिनेश मुनि की सेवा-भावना भी विस्मृत नही की जा सकती और ग्रन्थ को मुद्रण कला की दृष्टि से सुन्दर, सुरुचिपूर्ण और अशुद्धिरहित बनाने मे स्नेह मूर्ति 'सरस' जी ने जो श्रम किया है वह भी भुलाया नही जा सकता।

भगवान ऋषभदेव का जीवन-दर्शन नये परिधान के साथ श्रद्धेय सद्गुरुवर्य की ६८वी जन्म जयन्ति के सुनहरे अवसर पर प्रस्तुत हो रहा है, यह मेरे लिए आह्लाद का विषय है।

जैन स्थानक चिकपेठ,
बैंगलोर (कर्णाटक)

—देवेन्द्र मुनि

अन्तर के बोल

हिन्दी साहित्य के सुप्रसिद्ध कवि सुमित्रानन्दन पन्त ने महामानव के जीवन का विश्लेषण करते हुए कहा—महान् व्यक्तित्व-सम्पन्न व्यक्ति का जीवन एक स्वच्छ एवं निर्मल दर्पण के समान होता है जिसमें राष्ट्र, जाति, समाज एवं धर्म के पवित्र आदर्श, सांस्कृतिक भावनाएँ, दर्शन तथा चिन्तन की आकृति प्रतिबिंबित होती रहती है। उसका जीवन आत्म-ज्योति से द्योतित होता है। उसके आत्म-आलोक से धर्म, समाज और राष्ट्र आलोकित हो उठता है। उसके हृदय के स्पन्दन में सम्पूर्ण मानवता की ही नहीं, सम्पूर्ण विश्व की मधुर धड़कन होती है। इस चिन्तन को कवि ने इस रूप में व्यक्त किया है—

> जिसमें हो अन्तर का प्रकाश,
> जिसमे समवेत हृदय-स्पन्दन।
> मैं उस जीवन को वाणी दूं,
> जो नव आदर्शों का दर्पण॥

विश्व, समाज, धर्म के उदयाचल पर कभी-कभी ऐसे तेजस्वी वर्चस्वी व्यक्तित्ववाले महान् पुरुष उदित होते हैं जो अपने विमल विचारों से और पवित्र आचार से जन-जन के मानस को आलोकित करते हैं, जिनमें एक ही साथ धर्म, दर्शन, सस्कृति और सभ्यता का चतुमुख रूप अभिव्यक्त होता है। उनकी पवित्र वाणी में धर्म और दर्शन अवतरित होते हैं और उनके निर्मल व्यवहार मे संस्कृति और सभ्यता का रूप निखरता है। उनका जीवन केवल जीवन ही नहीं, ज्ञान, भक्ति और कर्म का सुन्दर संगम होता है।

भारत की पावनभूमि में इस प्रकार व्यक्तित्व-सम्पन्न तेजस्वी व्यक्ति समय-समय पर उत्पन्न हुए हैं। उनके विचार और आचार, ज्ञान और क्रिया का दिव्य प्रकाश आज भी धर्म एवं समाज तथा भारतीय संस्कृति के सभी अंचलों को प्रकाशित कर रहा है। उन्हीं महापुरुषों की पवित्र

पंक्ति में अग्रगण्य हैं भगवान् ऋषभदेव जो धर्मतीर्थ के आद्य प्रणेता, समाज-स्रष्टा एवं नीति-निर्माता होने के कारण आदिनाथ या आदम बाबा के नाम से भी लोकपूजित हैं।

श्रीमद्भागवत और मनुस्मृति के अनुसार भगवान ऋषभदेव का जन्म मनु की पाँचवीं पीढ़ी में हुआ था। परिगणना करने पर वह काल प्रथम सतयुग का अन्तिम चरण निकलता है। उस सतयुग के पश्चात् आज तक अट्ठाईस युग व्यतीत हो चुके हैं। ब्रह्माजी की आयु का भी अधिकांश भाग समाप्त हो चुका है। इस उल्लेख से यह परिज्ञात होता है कि भगवान ऋषभदेव का काल अति प्राचीन काल है जो वर्षों की सीमा से अतीत है। जैन दृष्टि से भी भगवान ऋषभदेव अवसर्पिणी काल के तृतीय पर्व (आरे) में हुए थे।

वैदिक धर्म का प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद है। उसमें अनेक स्थलों पर भगवान ऋषभदेव के नाम का उल्लेख हुआ है और अत्यन्त भक्ति भावना से विभोर होकर उनकी स्तुति की गयी है। इस प्रकार भगवान ऋषभदेव वैदिक एवं जैन धर्म दोनों में समान रूप से आदरणीय तथा पूजनीय रहे हैं। उनके तप और त्याग तथा महान् जीवन की झांकियाँ वेद, पुराण, स्मृतियाँ, महाभारत, श्रीमद्भागवत, प्रभृति वैदिक साहित्य तथा जैन साहित्य के विशाल भण्डार में यत्र-तत्र बिखरी पड़ी हैं। अनेकों सुधी-विचारकों एवं मूर्धन्य मनीषियों ने अपनी प्रखर प्रज्ञा द्वारा उस महापुरुष के जीवन को उद्घाटित करने का प्रयास किया है।

वर्तमान युग शोध प्रधान है। इस युग में साहित्य की प्रत्येक विधा में शोधकार्य प्रचलित है। श्रद्धेय गुरुदेव देवेन्द्रमुनि जी ने सर्वप्रथम तीर्थंकरों की जीवनियों पर शोधकार्य किया। उन्होंने भगवान ऋषभदेव, भगवान अरिष्टनेमि और कर्मयोगी श्रीकृष्ण, भगवान पार्श्व और भगवान महावीर पर शताधिक ग्रन्थों के प्रकाश में शोध प्रधान और तुलनात्मक दृष्टि से चार ग्रन्थ लिखे। वे ग्रन्थ अत्यधिक लोक-प्रिय हुए। भारत के मूर्धन्य मनीषियों ने उनकी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की।

पूना वर्षावास में गुरुदेव श्री के दर्शन का सौभाग्य मिला। मैंने अपनी आँखों से रात-दिन उन्हें साहित्य-साधना में संलग्न देखा। स्वास्थ्य प्रतिकूल होते हुए भी वे नित्य नूतन शोधकार्य में संलग्न थे। उनके शोध

कार्य और साहित्य-साधना से मैं अत्यधिक प्रभावित हुई। मैंने गुरुदेव से निवेदन किया कि मुझे भी कुछ कार्य दीजिए ताकि मैं आपकी देखरेख में कुछ कार्य कर सकूं। मेरी नम्र प्रार्थना को सन्मान देकर मुझ बाला को प्रोत्साहन देने के लिए ऋषभदेव का प्रथम संस्करण समाप्त हो चुका था, अतः द्वितीय संस्करण तैयार करने के लिए आपश्री ने कहा। मैंने गुरुदेव श्री के आदेश-निर्देशानुसार उसे तैयार किया। इसमें मेरा अपना कुछ भी नही है। गुरुदेवश्री के ही भाव-भाषा को एकरूपता देने का प्रयास किया। इसका सम्पादन जो केवल नाममात्र का था, किन्तु उसे करते समय मुझे अचिन्त्य आनन्द की अनुभूति हुई। मुझे आशा ही नहीं अपितु दृढ़ विश्वास है कि इसी प्रकार आनन्द की अनुभूति प्रबुद्ध पाठकों को भी होगी।

प्रस्तुत कार्य को करते समय सद्गुरुवर्य राजस्थानकेसरी अध्यात्म-योगी उपाध्याय परम श्रद्धेय श्री पुष्कर मुनिजी महाराज तथा सद्गुरुनी श्री परमादरणीया महासती केसरदेवीजी और परम विदुषी सद्गुरुनी श्री कौशल्या देवी जी का हार्दिक आशीर्वाद मुझे मिला, जिसे मैं अपना परम सौभाग्य समझती हूँ।

प्रस्तुत ग्रन्थरत्न को विज्ञगण अपनायेंगे और अपने जीवन को पवित्र बनायेंगे इसी मंगल आशा के साथ यह ग्रन्थ 'त्वदीयं वस्तु गोविन्दं तुभ्यमेव समर्पये' की उक्ति के अनुसार गुरुदेव श्री को ही समर्पित करती हूँ।

जैन स्थानक, हैदराबाद — **जैन साध्वी विजयाश्री**

दिनांक १८ सितम्बर, १९७७

आदिमं पृथ्वीनाथम्
आदिमं निष्परिग्रहिम्
आदिमं तीर्थनाथ च
ऋषभस्वामिनं स्तुमः

—आचार्य हेमचन्द्र

प्रस्तावना

अनन्त असीम व्योममण्डल से भी विराट् ! अगाध अपार महासागर से भी विशाल ! एक अद्भुत, एक अद्वितीय ज्योतिर्धर व्यक्तित्व ! जिधर से भी देखिए, जहाँ भी देखिए, और जब भी देखिए— सहस्र-सहस्र, लक्ष-लक्ष, कोटि-कोटि, असंख्य अनन्त प्रकाश किरणें विकीर्ण होती दीखेंगी। महाकाल इतिहास की गणना से परे हो गया, संख्यातीत दिन और रात गुजरते चले गए, परन्तु वह ज्योति न बुझी है न बुझ सकेगी।

भगवान् ऋषभदेव के व्यक्तित्व और कृतित्व को शब्दों की सीमा मे नही बाँधा जा सकता। प्राकृत मे, संस्कृत में, अपभ्रंश में, नानाविध अन्यान्य लोक-भाषाओं में ऋषभदेव के अनेकानेक जीवन चरित्र लिखे गए हैं, लिखे जा रहे हैं, परन्तु उनके विराट् एवं भव्य जीवन की सम्पूर्ण छवि कोई भी अंकित नही कर सका है। अनन्त आकाश मे गरुड़-जैसे असख्य विहग जीवन-भर उड़ान भरते रहे हैं, पर आकाश की इयत्ता का अता-पता न किसी को लगा है, न लगेगा। क्या लौकिक और क्या लोकोत्तर, क्या भौतिक और क्या आध्यात्मिक, क्या सामाजिक और क्या राष्ट्रीय, क्या नैतिक और क्या धार्मिक- सभी दृष्टियों से उनका जीवन दिव्य है, महतोमहीयान् है। हम जीवन-निर्माण की दिशा मे जब भी और जो कुछ भी पाना चाहे, उनके जीवन पर से पा सकते हैं। आवश्यकता है केवल देखने वाली दृष्टि की और उस दृष्टि को सृष्टि के रूप मे अवतरित करने की।

भगवान् ऋषभदेव मानवसस्कृति के आदि सस्कर्ता हैं, आदि निर्माता हैं। पौराणिक गाथाओ के आधार पर, वह काल, आज भी हमारे मानस-चक्षुओं के समक्ष है, जबकि मानव मात्र आकृति से ही मानव था। अपने क्षुद्र देह की सीमा मे बँधा हुआ एक मानवाकार पशु ही तो था, और क्या ? न उसे लोक का पता था, न परलोक का। न उसे समाज का पता था, न परिवार का। न उसे धर्म का पता था, न अधर्म का। बिल्कुल कटा हुआ-सा अकेला शून्य जीवन। पिता-पुत्र, भाई-बहिन, पति-पत्नी—जैसा कुछ भी लोक-व्यवहार नही, कोई भी मर्यादा नही। साथ रहने वाली नारी को हम भले ही आज की शिष्ट भाषा में पत्नी कह दें, परन्तु सचाई तो यह है कि वह उस युग में एकमात्र नारी थी, स्त्री थी; और कुछ नहीं। स्त्री केवल देह है और पत्नी इससे कुछ ऊपर है। पति-पत्नी दो शरीर नहीं हैं, जो वासना के माध्यम से एक-दूसरे के साथ हो लेते हैं। वह एक सामाजिक एवं नैतिक भाव है, जो कर्तव्य की स्वर्णरेखाओ से मर्यादाबद्ध है। और यह सब उस आदि युग में कहाँ

था ? वन की सभ्यता। अकेला व्यक्तित्व ! भूख लगी तो इधर-उधर गया, कन्द-मूल फल खा आया। प्यास लगी तो झरनो का बहता पानी पी आया। अन्य किसी के लिए न लाना और न ले जाना। न भविष्य के लिए ही कुछ सग्रह। अतीत और अनागत से कट कर केवल वर्तमान मे आबद्ध। अपने ही पेट की क्षुधा-पिपासा से घिरा केवल व्यक्तिनिष्ठ जीवन ! प्रकृति पर आश्रित, वृक्षो से परिपोषित ! कर्तृत्व नहीं, केवल भोक्तृत्व ! श्रम नही, पुरुषार्थ नहीं। न अपने पैरो खडा होना, और न अपने हाथों कुछ करना। मनुष्य के शरीर मे नीचे क्षुधातुर पेट और ऊपर खाने वाला मुख। बीच में हाथ-पैरों का कोई खास काम नही, उत्पादक के रूप में। यह चित्र है, भगवान् ऋषभदेव से पूर्व मानव-सभ्यता का।

भगवान् ऋषभदेव के युग मे यह वन-सभ्यता बिखर रही थी। जनसंख्या बढने लगी थी। उपभोक्ता अधिक होते जा रहे थे, परन्तु उनकी तुलना में उपभोग-सामग्री अल्प। ऐसी स्थिति मे संघर्ष अवश्यम्भावी था, और वह हुआ भी। क्षुधातुर जनता वृक्षों के बँटवारे के लिए लड़ने लगी। सब ओर आपाधापी मच गई। भगवान् ऋषभ-देव ने उक्त विषम स्थिति मे अभावग्रस्त जनता का योग्य नेतृत्व किया। उन्होंने घोषणा की—अकर्म भूमि का युग समाप्त हो रहा है, अब जनसमाज को कर्मभूमि युग का स्वागत करना चाहिए। प्रकृति रिक्त नही है। अब भी उसके अन्तर मे अक्षय भण्डार छिपा पड़ा है। पुरुष हो, पुरुषार्थ करो। अपने मन मस्तिष्क से सोचो-विचारो और उसे हाथों से मूर्तरूप दो। श्रम मे ही श्री है, अन्यत्र नही। एक मुख है खाने वाला, तो हाथ दो हैं खिलाने वाले। भूखों मरने का प्रश्न ही कहाँ है ? अपने श्रम के बल पर अभाव को भाव से भर दो। भगवान् ऋषभदेव ने कृषि का सूत्रपात किया। अनेकानेक शिल्पो की अवतारणा की। कृषि और उद्योग मे वह अद्भुत सामजस्य स्थापित किया कि धरती पर स्वर्ग उतर आया। कर्मयोग की वह रसधारा बही कि उजड़ते और वीरान होते जन-जीवन मे सब ओर नव-वसन्त खिल उठा, महक उठा। हे मेरे देव ! यदि उस समय तुम न होते तो पता नही, इस मानव जाति का क्या हुआ होता ? होता क्या, मानव-मानव एक दूसरे के लिए दानव हो गया होता, एक दूसरे को जंगली जानवरो की तरह खा गया होता। "बुभुक्षितः किं न करोति पापम् ?"

भौतिक वैभव एव ऐश्वर्य के उत्कर्ष में एक खतरा है, वह यह कि मनुष्य स्वय को भूल जाता है, अन्धेरे मे भटक जाता है। भोग में भय छिपा है, "भोगे रोगभयम्।" तन का रोग ही नही, मन का रोग भी। मन का रोग तन के रोग से भी अधिक भयावह है। बढती हुई मन की विकृतियाँ मानव को कही का भी नही छोड़ती—न घर का न घाट का। भगवान् ऋषभदेव ने इस तथ्य को भी ध्यान मे रखा। उनका गृहसंसार मे महाभिनिष्क्रमण अपनी अन्तरात्मा को परिमार्जित एव परिष्कृत करने के लिए तो था ही, साथ ही सार्वजनीन हित का भाव भी उसके मूल में था। महापुरुषों की साधना स्व-परकल्याण की दृष्टि से द्व्यर्थक होती है—"एका

किया ह्यर्थंकरः प्रसिद्धः ।" भगवान् ऋषभदेव ने शून्य निर्जन वनों में, एकान्त गिरि-निकुञ्जो में, भयावह श्मशानों मे, गगनचुम्बी पर्वतों की शान्त नीरव गुफाओं में तप:साधना की। यह तप जहाँ बाह्य रूप में ऊँचा और बहुत ऊँचा था वहाँ आभ्यन्तर रूप मे गहरा और बहुत गहरा भी था। वे शरीर से परे, इन्द्रियों से परे और मन से परे होते गए—होते गए, और अपने आप के निकट, अपने शुद्ध—निरंजन—निर्विकार स्वरूप के समीप पहुँचते गए—पहुँचते गए। और लम्बी साधना के बाद एक दिन वह मगल क्षण आया कि अन्तर मे कैवल्य ज्योति का अनन्त अक्षय-अव्याबाध महाप्रकाश जगमगा उठा, स्वमंगल के साथ ही विश्वमंगल का द्वार खुल गया। भगवान् ऋषभदेव तीर्थङ्कर बन गए। धर्मदेशना के रूप में उनकी अमृतवाणी का वह दिव्यनाद गूंजा कि जन-जीवन मे फैलता आ रहा अन्धकार छिन्न-भिन्न होगया, सब ओर आध्यात्मिक भावो का दिव्य आलोक आलोकित हो गया।

भगवान् ऋषभदेव का जीवन समन्वय का जीवन है। वह मानवजाति के समक्ष इहलोक का आदर्श प्रस्तुत करता है, परलोक का आदर्श प्रस्तुत करता है, और प्रस्तुत करता है—इहलोक-परलोक से परे लोकोत्तरता का आदर्श। उनका जीवन-दर्शन उभयमुखी है। जहाँ वह बाह्यजीवन को परिष्कृत एवं विकसित करने की बात करता है, वहाँ अन्तर्जीवन को भी विशुद्ध एवं प्रबुद्ध रखने का परामर्श देता है। उनका अध्यात्म भी निष्क्रिय, जड़ एवं एकांगी नहीं है, वह सचेतन है, प्राणवान है और देश-काल एवं व्यक्ति की भूमिकाओं को यथार्थ के धरातल पर स्पर्श करता है। इस सन्दर्भ मे उनके अपने ही जीवन के एक-दो प्रसंग हैं।

साधना-काल मे जब भगवान जगलों एव पहाड़ों के सूने अंचलों में एकान्त साधनारत रह रहे थे, तो प्रारम्भ में एक वर्ष तक उन्होंने अन्न-जल ग्रहण नही किया, अनशनतप की लम्बी साधना चलती रही। प्रभु के लिए तो यह सहज था, परन्तु साथ में दीक्षित होने वाले चार सहस्र साधक विचलित हो गये। वे भूख की वेदना को अधिक काल तक सहन न कर सके। भगवान् की देखा-देखी कुछ दूर तक तो अनशन के पथ पर साथ-साथ चले, परन्तु गजराज की गति को कोई पकड़े भी तो कहाँ तक पकड़े? सब के सब पिछड़ते चले गये कोई कही तो कोई कहीं। पिछड़े ही नहीं, पथ-भ्रष्ट भी हो गये। विवेकज्ञान के अभाव में ऐसा ही कुछ हुआ करता है—**देखा-देखी साधे जोग, छीजे काया बाढ़े रोग।** भगवान ऋषभदेव ने वर्ष समाप्त होते-होते जब यह देखा तो उनका चिन्तन मोड़ ले गया। उन्होने आहार ग्रहण करने का संकल्प किया, अपने लिए उतना नही, जितना कि भविष्य के साधकों को साधना के मध्यम मार्ग की दृष्टि प्रदान करने के लिए। भगवान् के तत्कालीन अनक्षर चिन्तन को अक्षरबद्ध किया है—जैनदर्शन के सुप्रसिद्ध तत्त्वचिन्तक महामनीषी आचार्य जिनसेन ने, अपने महापुराण मे—

न केवलमयं कायः, कर्शनीयो मुमुक्षुभिः ।
नाऽप्युत्कटरसैः पोष्यो, मृष्टैरिष्टैश्च वल्भनैः ॥५॥
वशे यथा स्युरक्षाणि, नोत धावन्त्यनूत्पथम् ।
तथा प्रयतितव्यं स्याद्, वृत्तिमाश्रित्य मध्यमाम् ॥६॥
दोषनिर्हरणायेष्टा, उपवासाद्युपक्रमाः ।
प्राणसन्धारणायायम्, आहारः सूत्रदर्शितः ॥७॥
कायक्लेशो मतस्तावन्, न संक्लेशोऽस्ति यावता ।
संक्लेशे ह्यसमाधान, मार्गात् प्रच्युतिरेव च ॥८॥

—पर्व २०

—मुमुक्षु साधकों को यह शरीर न तो केवल कृश एवं क्षीण ही करना चाहिए और न रसीले एवं मधुर मनचाहे भोजनो से इसे पुष्ट ही करना चाहिए।

—जिस तरह भी ये इन्द्रियाँ साधक के वशवर्ती रहें, कुमार्ग की ओर न दौड़ें, उसी तरह मध्यम वृत्ति का आश्रय लेकर प्रयत्न करना चाहिए।

—दोषों को दूर करने के लिए उपवास आदि का उपक्रम है, और प्राण धारण के लिए आहार का ग्रहण है, यह जैन सिद्धान्तसम्मत साधना सूत्र है।

—साधक को कायक्लेश तप उतना ही करना चाहिए, जितने से अन्तर में संक्लेश न हो। क्योंकि संक्लेश हो जाने पर चित्त समाधिस्थ नहीं रहता; उद्विग्न हो जाता है, जिसका किसी न किसी दिन यह परिणाम आता है कि साधक पथभ्रष्ट हो जाता है।

भगवान् ऋषभ के द्वितीय पुत्र महाबली बाहुबली, युद्ध मे अपने ज्येष्ठ बन्धु भरत चक्रवर्ती को पराजित करके भी, राज्यासन से विरक्त हो गए। कायोत्सर्ग मुद्रा मे अचल हिमालय की तरह अविचल एकान्त वनप्रदेश मे खड़े हो गए। एक वर्ष पूरा होने को आया, न अन्न का एक दाना और न पानी की एक बूंद। न हिलना, न डुलना। सचेतन भी अचेतन की तरह सर्वथा निष्प्रकम्प। कथाकारो की भाषा में मस्तक पर के केश बढ़ते-बढ़ते जटा हो गए और उनमे पक्षी नीड़ बनाकर रहने लगे। घुटनों तक ऊँचे मिट्टी के वल्मीक चढ़ गए, और उनमे विषधर सर्प निवास करने लगे। कभी-कभी सर्प वल्मीक से निकलते, सरसराते ऊपर चढ़ जाते और समग्र शरीर पर लीला-बिहार करते रहते। भूमि से अंकुरित लताएँ पादयुगल को परिवेष्टित करती हुई भुजयुगल तक लिपट गईं। इतना होने पर भी कैवल्य नहीं मिला, नहीं मिला। तप का ताप चरमबिन्दु पर पहुँच गया, फिर भी अन्तर का कल्मष गला नहीं, मन का मालिन्य धुला नहीं। इतनी अधिक उग्र, इतनी अधिक कठोर साधना प्रतिफल की दिशा में शून्य क्यों, यह प्रश्न हर साधक के मन पर मँडराने लगा। भगवान् ऋषभदेव ने ब्राह्मी और सुन्दरी को भेजा, इसलिए कि वह बाहर से अन्दर में प्रवेश करे, अन्दर के अहं को तोड़ गिराए। ब्राह्मी और सुन्दरी के माध्यम से भगवान् ऋषभदेव का सन्देश मुखरित हुआ—

"आज्ञापयति तातस्त्वां, ज्येष्ठार्य ! भगवानिदम् ।
हस्तिस्कन्धाधिरूढानाम् उत्पद्येत न केवलम् ॥"

—त्रिषष्टि० १।६।७८८

—हे आर्य, पूज्य पिता भगवान् ऋषभदेव तुम्हे सूचित करते हैं कि हाथी पर चढ़े हुओं को केवलज्ञान नही हो सकता ।

कैसा हाथी ? 'मैं बड़ा हूँ, अपने से छोटे बन्धुओं को कैसे वन्दन करूँ'—यह अहंकार का हाथी । इसी हाथी पर से नीचे उतरना है । बाहुबली के चिन्तन ने अहं से निरहं की ओर मोड़ लिया और ज्योंही वंदन के लिए कदम उठाया कि केवलज्ञान का महाप्रकाश जगमगा उठा । उक्त उदाहरण से क्या ध्वनित होता है ? यही कि भगवान् ऋषभदेव साधना के केवल बाह्य परिवेश तक ही प्रतिबद्ध नही थे । उनकी साधनाविषयक प्रतिबद्धता बाहर की नही, अन्दर की थी । उनकी साधना का मुख्य आधार तन नही, मन था । मन भी क्या अन्तश्चैतन्य था । और भगवान् का यह दिव्य दर्शन जैनसाधना का बीज मंत्र हो गया । आदिकाल से ही जैनदर्शन तन का नहीं, मन का दर्शन है, अन्तश्चैतन्य का दर्शन है । वह साधना के बाह्य पक्ष को स्वीकारता है अवश्य, परन्तु अमुक सीमा तक ही । बाह्य सान्त है, अन्तर ही अनन्त है । अत: अनन्त की उपलब्धि बाहर मे नही, अन्दर मे है । जब-जब साधक बाहर भटकता है, बाहर को ही सब कुछ मान बैठता है, तब-तब भगवान् ऋषभदेव के जीवन-प्रसग साधक को अन्दर की ओर उन्मुख करते हैं, हठयोग से सहजयोग की ओर अग्रसर करते हैं ।

भगवान् ऋषभदेव की निर्मल धर्मचेतना आज की भाषा में कहे जाने वाले पन्थों—मतो—सम्प्रदायों से सर्वथा अतीत थी । उनका सत्य इन सब क्षुद्र परिवेशों में बद्ध नहीं था । जब कभी प्रसग आया, उन्होंने सत्य के इस मर्म को स्पष्ट किया है—बिना किसी छिपाव और दुराव के । राजकुमार मरीचि भगवान के पास आर्हती दीक्षा ग्रहण कर लेता है, पर समय पर ठीक तरह साध नही पाता है । तितिक्षा की कमी, परीषहों के आक्रमण मे विचलित हो गया; तो पथ-च्युत हो गया, परिव्राजक हो गया । इस पर, सम्भव है, और सबने धिक्कारा हो, परन्तु भगवान् सर्वतोभावेन तटस्थ रहे । मरीचि जैन श्रमण-परम्परा के विपरीत परिव्राजक का बाना लिए समव-सरण के द्वार पर बैठा रहता, परन्तु इधर से कोई ननुनच नही । इतना ही नहीं, एक बार भरत चक्रवर्ती के प्रश्न के समाधान मे घोषणा की कि मरीचि वर्तमान कालचक्र का अन्तिम तीर्थंकर होगा । श्रमण परम्परा से उत्प्रव्रजित व्यक्ति के लिए भगवान की यह घोषणा एक गम्भीर अर्थ की ओर सकेत करती है । वेष और पन्थ की सीमाएँ सत्य की सीमा को काट नही सकती । सत्य क्षीरसागर के जल की भाँति सदा निर्मल एवं मधुर होता है, चाहे वह किसी भी पात्र में हो, और जब भी कभी हो । वेष और पन्थ की सीमाओं को लाँघ कर व्यक्ति मे आज नही, तो कल अभि-व्यक्त होने वाले सत्य का इस प्रकार उद्घाटन करना, भगवान् ऋषभदेव की निर्मल

सत्यनिष्ठा का एक अद्भुत उदाहरण है। मैं अनुभव करता हूँ, यदि कोई और होता तो ऐसी स्थिति मे कुछ और ही कहता या मौन रहता। परन्तु भगवान ऋषभदेव, देव क्या, देवाधिदेव थे। जिन्होने पथभ्रष्ट मरीचि के धूमिल वर्तमान को नहीं, किन्तु उज्ज्वल भविष्य को उजागर किया और यह सत्य प्रमाणित किया कि पतित से पतित व्यक्ति भी घृणापात्र नही है। क्या पता, वह कहाँ और कब जीवन की ऊँची से ऊँची बुलन्दियों को छूने लगे, आध्यात्मिक पवित्रता को पूर्णरूपेण आत्मसात् करने लगे। क्या आज हम उक्त घटना पर से अपने प्रतिपक्षी खेमे के लोगो के प्रति सद्भावना का भावादर्श नही ले सकते ?

भगवान् ऋषभदेव जीवन के हर कोण पर उसी प्रकार दिव्य हैं, जिस प्रकार वैडूर्यरत्न। उनका जीवन आज की विषम परिस्थितियों मे भी अपने निर्मल चरित्र की आभा बिखेर रहा है। सत्य की खोज मे चल रहे हर यात्री के मन पर एक गहरी छाप डाल रहा है। उनका स्मरण होते ही तमसाच्छन्न जन-मानस मे एक दिव्य एव सुखद प्रकाश फैल जाता है। उनके जीवन-चरित्र मानव चरित्र के निर्माण के लिए हर युग में प्रेरणा स्रोत रहे हैं और रहेंगे। यही कारण है कि महाकाल के प्रवाह मे कोटि-कोटि दिन और रात बह गये परन्तु उनके जीवनलेखन की परम्परा अब भी गगा की धारा के समान प्रवहमान है।

मुझे हार्दिक हर्ष है कि भगवान ऋषभदेव के जीवनचरित्रो के मुक्ताहार मे एक और सुन्दर मुक्ता पिरोया गया है। हमारे तरुण साहित्यकार श्री देवन्द्र मुनि ने भगवान ऋषभदेव के चरणकमलों मे अपनी भावभरी श्रद्धाञ्जलि अर्पित की है; और इस रूप मे भगवान आदिनाथ का एक सुन्दर अनुशीलनात्मक जीवन-चरित्र लिखा है।

श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा के प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर लिखा गया यह प्रमाणपुरस्सर जीवनचरित्र, चरित्रग्रन्थों के संदर्भ मे नवीन शैली प्रस्तुत करता है। देवेन्द्र जी का बौद्धिक उन्मेष जो नवीन आलोक पा रहा है, उसका स्पष्ट सकेत उनकी यह कृति है।

मैं शुभाशा करता हूँ, भविष्य उनका साथ दे और वे अपने अध्ययन-अनुशीलन एवं चिन्तन को और अधिक व्यापक बनाते हुए, भविष्य मे और भी अधिक सुन्दर एव विचारपूर्ण कृतियों से जैन साहित्य की श्रीवृद्धि कर यशस्वी हो।

जैन स्थानक
आगरा
१० अप्रेल, १९६७

—उपाध्याय अमर मुनि

FOREWORD

Shri Devendra Muni Shastriji has done unique service to the history of human civilization and culture by writing this remarkable book on Ṛṣabhadeva, the promoter of human religion and philosophy. He is the first Tīrthankara of Jaina religion and has been described by the *Dhammapada*, the most important scripture of the Buddhists, as the supreme hero It was he who first taught the people of *Bharat-Varṣa*, the art of Agriculture, so much so that some learned men call his age as the Age of Agriculture. According to the Bhāgavat, he was born to show the people of this world the path of salvation. It was he who advised the people to follow the path of eternal bliss, instead of indulging in a life of worldly pleasures and enjoyment. Ṛṣabha, the son of Nābhi and Marudevi is counted as the foremost emperor of India He is the founder and promoter of the *Śramaṇic* culture.

The book bears ample testimony to the wide knowledge and depth of study of the Vedas and the Purāṇas which contain numerous references to Ṛṣabha, his life and teachings The *Ṛgveda* describes him as a great personage who propounded the knowledge of the soul and showed that anger and other passions were the real enemies of the soul. He preached that the Self was the abode of real knowledge and was the supreme architect of his own fortune. The *Yajurveda* advised the people to invoke the blessings of Ṛṣabhadeva in order to annihilate sins and to enhance the prowess of the Self. The *Bhāgavat* regards him as having been born to awaken the people to their own spiritual greatness so that they could free themselves from all desires and excitements. The *Bhāgavat* has clearly stated that India came to be known as *Bhārat* after the name of her illustrious emperor, Bharat the son of Ṛṣabha.

Apart from establishing the antiquity of Jainism, the numerous references and quotations given by the author give a clear idea of the immense contribution made by that religion to the enrichment

of the Indian culture. The Muniji has also quoted Western scholars to show that the principles propounded by Ṛṣabha had a scientific basis and were the results of his personal experiences. He has refuted the charge that Jainism is an atheistic religion by showing that it believes in the immortality of the soul and the theories of merit and demerit as being responsible for rebirth in heaven, hell or in this world as a human being or in any other state of living being It is fundamental to Jainism that the soul is immortal and the universe is without a beginning The *Jīva* has been transmigrating in the universe due to the bondage of various kinds of Karmas.

In order to illustrate that Karma is inexorable, the Muniji has referred to the previous births of the soul before it was born as Ṛṣabha, both according to the *Svetāmbara* and *Digambara* traditions The need to cultivate in practical life the supreme principles of ethics like charity, character, truthfulness, peace of mind, friendship, sympathy towards all living beings and equanimity in sorrow and happiness has been emphasised ; the practice of penances and meditation for annihilation of Karmas is common both to the Jaina and Buddhist tenets. The *Śramanic* culture proclaims that every soul must purge itself of what is foreign and inculcate what is necessary to develop its own inner attributes to the maximum extent in order to attain divinity or the status of the Supreme Self. The message of Jainism to every individual is that every *Ātman* must become the *Paramātman* by liberating the *Ātman* from the shackles of the Karmas.

The book refers to the history of the *Kulakars* or the *Manus* as referred to in the Vedic literature. Reference is made to the birth of Ṛsabha from Nabhi and Marudevi, the dreams that the latter had before she conceived of the child and the circumstances under which Ṛṣabha came to be regarded as the founder of a new age and civilization. It is natural that such a unique personality should be claimed by the other creeds having taken birth in their own traditions, the Hindus claiming him as the incarnation of *Viṣṇu* or of *Śiva* as evidenced by the *Viṣṇupurāna* and the *Śivapurāṇa* respectively.

It was Ṛṣabha who laid the foundations of modern concepts of democratic administration by appointment of ministers and necessary officers to maintain law and order within the country. For the first time, people were taught the art of agriculture and making use of the produce from lands. Bharat was taught the 72

arts while Bāhubali was taught the characteristics of animals. Sundari studied the fine arts while Brāhmi studied eighteen scripts.

There are detailed accounts of the penances, fasts and other austerities practised by Ṛṣabha after he had renounced the world and become an ascetic. His meditations were deep and long till he attained Omniscience and infinite perception. His absorption in *Śukla-dhyāna* or complete absorption in the meditation of the attributes of the Self enabled him to annihilate all the Karmas and attain salvation.

He expounded the ethics of *Ahiṁsā*, truthfulness, non-stealing, celibacy and non-possessiveness and emphasised that the end and aim of life was not enjoyment of the pleasures of life but renunciation; it is not attachment but deatchment from the worldly objects. When Ṛṣabha attained Omniscience, four thousands of his subjects accepted asceticism with his blessings He advised them to acquire self-knowledge, self-control and self-reverence in order to attain higher states of spiritual advancement. They were called upon to stop all inauspicious activities of thought, speech and body, and attain purity in *yogic* activities.

The Muniji has narrated the life history of Marīci the son of Bharat who took to asceticism but could not attain spiritual progress on acount of his passions of pride and vanity. After hearing the first discourse of Ṛṣabha, his daughter Sundari was initiated as a nun as she had acquired self-control and prayed for a life of austerity and piety.

There is an interesting account of Bharat and Bāhubali. The former became ambitious and wanted to become an emporer by winning over all the territories given by his father to his brothers. All brothers except Bāhubali surrendered their kingdoms but Bharat waged war with Bāhubali After the two armies had fought for sometime, Bāhubali thought that war was resulting in horrible loss of life and renunciated his kingdom to Bharat after adopting the vows of a monk. The Muniji has referred to the version of the Digambaras also ; according to it, there was war between the brothers only as a trial of strength and that Bharat was defeated in all three kinds of test of personal strength. This is an interesting account of war in the cultural traditions of ancient history.

It would thus be seen that the entire book is an excellent exposition of Jaina traditions, philosophy, ethics and of its contribu-

tions to Indian culture and civilization. The Muniji's studies of both Jaina and Vedic literatures is so vast and extensive that one wonders how thorough he has been in the treatment of the various aspects of his subject. His depth of learning and his objective presentation of the various view-points by synthetic arrangement evoke our admiration and silent reverence. I have no doubt that a study of the book would be rewarding to every student of ancient Jaina history and Indian culture.

Kuber Nivas,
115, Elephant Rock Road
Jayanagar, Bangalore-560011

—T. K. Tukol,
M.A., LL B.

अनुक्रमणिका

प्रथम खण्ड
भारतीय साहित्य में ऋषभदेव १-८३

तृतीय खण्ड

जन्म और साधना ११३–१७०

चतुर्थ खण्ड

तीर्थंकर जीवन १७१–२४०

परिशिष्ट १–७३

नित्यानुभूतनिजलाभनिवृत्ततृष्ण:
श्रेयस्यतद्रचनया चिरसुप्तबुद्धे:
लोकस्य य: करुणयाभयमात्मलोक-
माख्यान्नमो भगवते ऋषभाय तस्मै ।।

—श्रीमद्भागवत ५।६।१९।५६९

प्रथम खण्ड

भारतीय साहित्य में ऋषभदेव

- जैन साहित्य में ऋषभदेव
- वैदिक साहित्य में ऋषभदेव
- बौद्ध साहित्य में ऋषभदेव
- इतिहास और पुरातत्त्व के आलोक में
- पाश्चात्य विद्वानों की खोज

जैन साहित्य में ऋषभदेव

- आगम साहित्य में
- निर्युक्ति साहित्य में
- भाष्य साहित्य में
- चूर्णि साहित्य में
- प्राकृत साहित्य में
- संस्कृत साहित्य में
- आधुनिक साहित्य में

जैन साहित्य में ऋषभदेव

भारतवर्ष के जिन महापुरुषों का मानव-जाति के विचारों पर स्थायी प्रभाव पड़ा है, उनमें भगवान श्री ऋषभदेव का स्थान प्रमुख है। उनके अप्रतिम व्यक्तित्व और अभूतपूर्व कृतित्व की छाप जन-जीवन पर बहुत ही गहरी है। आज भी अगणित व्यक्तियों का जीवन उनके विमल विचारों से प्रभावित व अनुप्रेरित है। उनके हृदयाकाश में चमकते हुए आकाश-दीप की तरह वे सुशोभित हैं। जैन, बौद्ध और वैदिक साहित्य उनकी गौरव-गाथा से छलक रहा है। इतिहास और पुरातत्त्व उनकी यशोगाथा को गा रहा है। उनका विराट् व्यक्तित्व कभी भी देश, काल, सम्प्रदाय, पंथ, प्रान्त और जाति के संकीर्ण घेरे में आबद्ध नहीं रहा। जैन साहित्य में वे आद्य तीर्थंकर के रूप में उपास्य रहे हैं तो वैदिक साहित्य में उनके विविध रूप प्राप्त होते हैं। कहीं पर उन्हें ब्रह्मा मानकर उपासना की गई है तो कहीं पर विष्णु और कहीं पर महेश्वर का रूप मानकर अर्चना की गई है। कहीं पर अग्नि, कहीं पर केशी, कहीं पर हिरण्यगर्भ और कहीं पर वातरशना के रूप में उल्लेख है। बौद्ध साहित्य में उनका ज्योतिर्धर व्यक्तित्व के रूप में उल्लेख हुआ है। इस्लाम धर्म में जिनका आदम बाबा के रूप में स्मरण किया गया है जापानी जिसे 'रोकशव' कहकर पुकारते हैं। मध्य एशिया में जो 'बाड आल' के नाम से उल्लिखित हैं। फणिक उनके लिए 'रेशेफ' शब्द का प्रयोग करते हैं। पाश्चात्य देशों में भी जिनकी ख्याति कहीं पर कृषि के देवता, कहीं पर भूमि के देवता और कहीं पर 'सूर्यदेव' के रूप में विश्रुत रही है। वे वस्तुतः मानवता के ज्वलंत कीर्तिस्तम्भ हैं।

भगवान ऋषभदेव का समय वर्तमान इतिहास की काल-गणना परिधि में नहीं आता। वे प्राग्-ऐतिहासिक महापुरुष हैं। उनके अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए पुरातत्त्व तथा जैन व जैनेतर साहित्य ही प्रबल प्रमाण है। उन्हीं के प्रकाश में अगले पृष्ठों में चिन्तन किया जा रहा है। सर्वप्रथम जैन साहित्य में जहाँ-जहाँ पर ऋषभदेव का उल्लेख प्राप्त होता है उस पर अनुशीलन किया जा रहा है।

आगम साहित्य में ऋषभदेव

सूत्रकृतांगसूत्र

आधुनिक भाषा वैज्ञानिकों ने आचारांग व सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध को भगवान महावीर की मूलवाणी के रूप में स्वीकार किया है। आचारांग में भगवान ऋषभदेव के सम्बन्ध में कुछ भी उल्लेख नहीं मिलता। सूत्रकृतांग का द्वितीय अध्ययन 'वेयालिय' है। इस अध्ययन के सम्बन्ध में यद्यपि मूल आगम में ऐसा कोई संकेत नहीं है, कि यह अध्ययन भगवान ऋषभदेव ने अपने पुत्रों को कहा था, तथापि आवश्यकचूर्णि,[1] आवश्यकहारिभद्रीयावृत्ति[2] एवं आवश्यकमलयगिरिवृत्ति[3] तथा सूत्रकृतांगचूर्णि आदि ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से यह वर्णन है, कि भगवान ऋषभदेव ने प्रस्तुत अध्ययन अपने अट्ठानवें पुत्रों को कहा, जिससे उन्हें सम्बोध प्राप्त हुआ। वैतालिक का अर्थ है जगाने वाला।[4] यह अध्ययन अनन्तकाल से सोई हुई आत्मा को जगाने वाला है। जैसा नाम है वैसा ही गुण इस अध्ययन में रहा है। आज भी इस अध्ययन को पढ़कर साधक आनन्द विभोर हो जाता है और उसकी आत्मा जाग जाती है।

भगवान ने कहा—पुत्रो! आत्महित का अवसर कठिनता से प्राप्त होता है।[5] भविष्य में तुम्हें कष्ट न भोगना पड़े अतः अभी से अपने को विषय-वासना से दूर रखकर अनुशासित बनो।[6] जीवन-सूत्र टूट जाने के

---

१ एव वेयालियं अज्झयणं भासंति 'संबुज्झह किं न बुज्झह' एवं अट्ठाणउईवित्तेहिं अट्ठाणउई कुमारा पव्वइयत्ति। आवश्यकचूर्णि, पृ० २१० पूर्वभाग, प्रकाशक—ऋषभदेव केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था, रतलाम, सन् १९२८।

२ आवश्यकहारिभद्रीयावृत्ति, प्रथम विभाग, पृ० १५२, प्रकाशक—आगमोदय समिति, सन् १९१६।

३ आवश्यकमलयगिरिवृत्ति, पूर्वभाग, पृ० २३१, प्रकाशक—आगमोदय समिति, सन् १९२८।

४ वैतालिका बोधकराः। —अमरकोश, काण्ड २, वर्ग ८ श्लोक ९७।

५ सूत्रकृतांग १।२।२।३०

६ वही १।२।३।७

पश्चात् पुनः नहीं जुड़ पाता।[१] एक ही झपाटे में बाज जैसे बटेर को मार डालता है वैसे ही आयु क्षीण होने पर मृत्यु भी जीवन को हर लेती है।[२] जो दूसरों का परिभव अर्थात् तिरस्कार करता है वह संसार वन में दीर्घकाल तक भटकता रहता है।[३] साधक के लिए वन्दन और पूजन एक बहुत बड़ी दलदल के सदृश है।[४] भले ही नग्न रहे, मास-मास का अनशन करे और शरीर को कृश एवं क्षीण कर डाले किन्तु जिसके अन्तर में दम्भ रहता है वह जन्म-मरण के अनन्त चक्र में भटकता ही रहता है।[५] जो क्षण वर्तमान में उपस्थित है वही महत्त्वपूर्ण है अतः उसे सफल बनाना चाहिए।[६] सम-भाव उसी को रह सकता है जो अपने को हर किसी भय से मुक्त रखता है।[७] पुत्रो! अभी इस जीवन को समझो। क्यों नहीं समझ रहे हो, मरने के बाद परलोक में सम्बोधि का मिलना बहुत ही दुर्लभ है। जैसे बीती रातें फिर लौटकर नहीं आतीं इसी प्रकार मनुष्य का गुजरा हुआ जीवन फिर हाथ नहीं आता।[८] मरने के पश्चात् सद्गति सुलभ नहीं है।[९] अतः जो कुछ भी सत्कर्म करना है, यहीं करो। आत्मा अपने स्वयं के कर्मों से ही बन्धन में पड़ता है। कृत-कर्मों के भोगे बिना मुक्ति नहीं है।[१०] मुमुक्षु तपस्वी अपने कृत-कर्मों का बहुत शीघ्र ही अपनयन कर देता है जैसे कि पक्षी अपने पंखों को फड़फड़ा कर उन पर लगी धूल को झाड़ देता है।[११] मन में रहे हुए विकारों के सूक्ष्म शल्य को निकालना कभी-कभी बहुत ही कठिन हो जाता है।[१२] बुद्धिमान को कभी किसी से कलह-झगड़ा नहीं करना चाहिए। कलह से बहुत बड़ी हानि होती है।

सूत्रकृतांगनिर्युक्ति[१३] में कहा है कि भगवान के प्रेरणाप्रद उद्बोधन

---

१ सूत्रकृतांग १।२।३।१०

२ वही १।२।१।२

३ वही १।२।२।१

४ वही १।२।२।११

५ वही १।२।१।९

६ वही १।२।३।१९

७ वही १।२।२।१७

८ संबुज्झह किं न बुज्झह ? संबोही खलु पेच्च दुल्लहा।
णो हूवणमंति राइयो, नो सुलभं पुणरावि जीविय॥ —सूत्र० १।२।१।१

९ सूत्र० १।२।१।३

१० वही १।२।१।४

११ वही १।२।१।१५

१२ वही १।२।२।११

१३ कामं तु सासणमिणं कहियं अट्ठावयं मि उसभेणं।
अट्ठाणउतिसुयाणं सोऊणं ते वि पव्वइया॥ —सूत्रकृतांगनिर्युक्ति ३९

से प्रबुद्ध हुए अठानवें पुत्र महाप्रभु ऋषभ के चरणों में दीक्षित हो गये। जिनत्व की साधना के, अमृत-पथ के यात्री हो गये। उनका जीवन बदल गया और वे आत्म-राज्य के राजा हो गये।

स्थानांगसूत्र

इस सूत्र की रचना कोश शैली में की गई है। इसमें संख्याक्रम से जीव, पुद्गल आदि की स्थापना होने से इसका नाम स्थान है। बौद्धों का अंगुत्तरनिकाय भी इसी प्रकार की शैली में ग्रथित हुआ है। इस आगम में एक से दस स्थानों तक का वर्णन है। यद्यपि इसमें भगवान ऋषभदेव का क्रमबद्ध वर्णन नहीं मिलता है, तथापि यत्र-तत्र उनका उल्लेख प्राप्त होता है और उनके जीवन की महत्त्वपूर्ण विशेषताओं का भी पता चलता है। जैसे—

अन्तक्रियाओं का वर्णन करते हुए भरत चक्रवर्ती व मरुदेवी माता का दृष्टान्त के रूप में नामोल्लेख किया है। भरत चक्रवर्ती लघुकर्मा, प्रशस्त मन-वचन-काया वाले, दुःखजनक कर्म का क्षय करने वाले, बाह्य व आभ्यन्तर जन्य पीड़ा से रहित, चिरकालिक प्रव्रज्या रूप करण द्वारा सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हुए। चौथी अन्तक्रिया में मरुदेवी माता का दृष्टान्त दिया गया है, वे लघुकर्मा एवं अल्पपर्याय से परीषह-उपसर्गों से रहित होकर सिद्ध, बुद्ध हुईं।[1]

चतुर्थ स्थान के तृतीय उद्देशक में भरत नरेश को 'उदितोदित' कहा गया है।[2]

प्रथम एव अन्तिम तीर्थङ्करों के मार्ग पाँच कारणों से दुर्गम बताये हैं—कठिनाई से कहा जाने वाला, दुर्विभाज्य—वस्तुतत्त्व को विभागशः संस्थापन करना दुःशक्य है, दुर्दर्श—कठिनाई से दिखाया जाने वाला, दुस्तितिक्ष अर्थात् कठिनाई से सहा जाने वाला, दुरनुचर—कठिनाई से आचरण किया जाने वाला।

पञ्चम स्थान के द्वितीय उद्देशक में कौशल देशोत्पन्न ऋषभदेव

---

१ स्थानांगसूत्र, ४ स्थान, प्र० उ०, सू० २३५, पृ० १३३ —मुनि कन्हैयालाल सम्पादित, प्रकाशक—आगम अनुयोग, सांडेराव (राज०) सन् १९७२।

२ वही, ४ स्थान, उ० ३।

भगवान, चक्रवर्ती सम्राट् भरत, बाहुबली, ब्राह्मी एवं सुन्दरी की ऊँचाई पाँच सौ धनुष की कही गई है।

षष्ठम स्थान में चतुर्थ कुलकर अभिचन्द्र की ऊँचाई छह सौ धनुष और सम्राट् भरत का राज्य-काल छह लक्ष पूर्व तक का वर्णित किया है।

सप्तम स्थान में वर्तमान अवसर्पिणी के सात कुलकर—विमलवाहन, चक्षुष्मान्, यशस्वान, अभिचन्द्र, प्रसेनजित्, मरुदेव, नाभि तथा इनकी भार्याओं के नाम—चन्द्रयशा, चन्द्रकान्ता, सुरूपा, प्रतिरूपा, चक्षुकान्ता, श्रीकान्ता एवं मरुदेवी का उल्लेख किया है। विमलवाहन कुलकर के समय उपभोग्य सप्त कल्पवृक्ष थे—मत्तांगक, भृङ्ग, चित्रांग, चित्ररस, मण्यङ्ग, अनग्न आदि।

सम्राट् भरत के पश्चात् आठ राजा सिद्ध-बुद्ध हुए—आदित्ययश, महायश, अतिबल, महाबल, तेजोवीर्य, कीर्तिवीर्य, दण्डवीर्य और जलवीर्य।

नवम स्थान में विमलवाहन कुलकर की नौ सौ धनुष की ऊँचाई का वर्णन है तथा श्री ऋषभदेव के चतुर्विध संघ की स्थापना अवसर्पिणी काल के नौ कोटाकोटि सागरोपम प्रमाण काल व्यतीत होने पर हुई, उसका वर्णन है।

दशम स्थान में दस आश्चर्यकारी बातों का वर्णन है, जो अनन्तकाल के बाद प्रस्तुत अवसर्पिणी काल में हुई थीं। इसमें एक आश्चर्य भगवान ऋषभदेव के समय का माना जाता है, कि भगवान ऋभषदेव के तीर्थ में उत्कृष्ट अवगाहना वाले १०८ मुनि एक साथ, एक ही समय में सिद्ध हुए थे।

यहाँ पर इसलिए आश्चर्य माना गया है कि भगवान ऋषभ के समय उत्कृष्ट अवगाहना थी। उत्कृष्ट अवगाहना में केवल एक साथ दो ही व्यक्ति सिद्ध हो सकते हैं।[१] प्रस्तुत सूत्र में एक सौ आठ व्यक्ति उत्कृष्ट अवगाहना में मुक्त हुए, अतः आश्चर्य है।

आवश्यकनिर्युक्ति में ऋषभदेव के दस हजार व्यक्तियों के साथ सिद्ध होने का उल्लेख है।[२] उसका तात्पर्य यही है दस हजार अनगारों के एक ही नक्षत्र में सिद्ध होने के कारण उनका ऋषभदेव के साथ सिद्ध होना बताया है। एक समय में नहीं।[३]

---

१ उत्तराध्ययन ३६।५३।

२ आवश्यकनिर्युक्ति गा० ३११।

३ देखिए—लेखक का 'जैन आगमों में आश्चर्य' लेख।

समवायांगसूत्र [1]

इसकी संकलना भी स्थानांग के समान ही हुई है। इसके अठारहवें समवाय में ब्राह्मीलिपि के लेखन के अठारह प्रकार बताये हैं। तेईसवें समवाय में ऋषभदेव को पूर्वभव में चौदह पूर्व के ज्ञाता तथा चक्रवर्ती सम्राट् कहा है। चौबीसवें समवाय में ऋषभदेव का प्रथम देवाधिदेव के रूप में उल्लेख है। पच्चीसवें समवाय में प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के पञ्च महाव्रतों की पच्चीस भावनाओं का निरूपण है।[2]

छियालीसवें समवाय में ब्राह्मीलिपि के छियालीस मातृकाक्षरों का उल्लेख है। त्रेसठवें समवाय में भगवान ऋषभदेव का ६३ लाख पूर्व तक राज्य-पद भोगने का, सतहत्तरवें समवाय में भरत चक्रवर्ती के ७७ लाख पूर्व तक कुमारावस्था में रहने का, तिरासीवें समवाय में भगवान ऋषभदेव एवं भरत के ८३ लाख पूर्व तक गृहस्थावस्था के काल का तथा चौरासीवें समवाय में ऋषभदेव, भरत, बाहुबली, ब्राह्मी एवं सुन्दरी की सर्वायु ८४ लाख पूर्व की वर्णित की गई है। भगवान के चौरासी हजार श्रमण थे।

नवासीवें समवाय में अरिहृत कौशालिक श्री ऋषभदेव इस अवसर्पिणी के तृतीय सुषम-दुषम आरे के अन्तिम भाग में नवासी पक्ष शेष रहने पर निर्वाण को प्राप्त हुए; इसका उल्लेख है। तथा भगवान ऋषभदेव और अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान महावीर का अव्यवहित अन्तर एक कोटाकोटि सागरोपम का वर्णित है। इनके अतिरिक्त उनके पूर्वभव का नाम, शिविका का नाम, माता-पिता के नाम, सर्वप्रथम आहार प्रदाता का नाम, प्रथम भिक्षा एक संवत्सर में प्राप्त हुई—इसका उल्लेख, जिस वृक्ष के नीचे केवलज्ञान उत्पन्न हुआ वह (न्यग्रोध) वृक्ष, वृक्ष की (तीन कोस) ऊँचाई, प्रथम शिष्य, प्रथम शिष्या, भरत चक्रवर्ती और उनके माता-पिता तथा स्त्रीरत्न का नामोल्लेख इस अंग में किया गया है।

भगवतीसूत्र[3]

भगवतीसूत्र आगम-साहित्य में सर्वाधिक विशालकाय ग्रन्थरत्न है।

---

१ ठाणांग, समवायांग : सम्पादक—दलसुख मालवणिया, अहमदाबाद, सन् १९५५।

२ समवायांगसूत्र, २५वां समवाय।

३ भगवतीसूत्र २०।८।६६, अंगसुत्ताणि भाग २, भगवई—जैन विश्व भारती, लाडनूं (राज०)।

इसमें अनेक विषयों पर तलस्पर्शी चर्चाएँ की गई हैं। भगवान ऋषभदेव से सम्बन्धित वर्णन इसमें यत्र-तत्र ही देखने को मिलता है। सर्वप्रथम इसमें मंगलाचरण के रूप में 'ब्राह्मीलिपि' को नमस्कार किया गया है।

प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर भगवान का पञ्चमहाव्रत युक्त तथा प्रतिक्रमण सहित धर्म के उपदेश का कथन किया गया है। भावी तीर्थंकरों में अन्तिम तीर्थंकर का तीर्थ कौशलिक भगवान ऋषभदेव अरिहन्त के जिन-पर्याय जितना (हजार वर्ष न्यून लाख पूर्व) वर्णित किया है। इसके अतिरिक्त भगवती सूत्र में भगवान ऋषभदेव का कहीं भी उल्लेख नहीं है।

प्रज्ञापनासूत्र[1]

प्रज्ञापना जैन आगम-साहित्य में चतुर्थ उपांग है। इसमें भगवान ऋषभदेव ने अपनी पुत्री ब्राह्मी को जिस लिपि-विद्या का ज्ञान कराया था, उन अठारह लिपियों का निर्देश प्रस्तुत आगम में किया गया है।

लिपियों के सम्बन्ध में हमने परिशिष्ट में विस्तार से विवेचन किया है।

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिसूत्र[2]

इसमें भगवान ऋषभदेव का वर्णन सर्वप्रथम विस्तृत रूप से चित्रित किया गया है। कुलकरों का उल्लेख करते हुए इसमें पन्द्रह कुलकरों के नाम निर्देश किये हैं—(१) सुमति (२) प्रतिश्रुति (३) सीमंकर (४) सीमंधर (५) खेमंकर (६) खेमंधर (७) विमलवाहन (८) चक्षुवंत (९) यशःवंत (१०) अभिचन्द्र (११) चन्द्राभ (१२) प्रसेनजित (१३) मरुदेव (१४) नाभि (१५) ऋषभ।

उक्त पन्द्रह कुलकरों के समय प्रचलित दंडनीति तीन प्रकार की थी—प्रथम पाँच कुलकरों के समय 'ह्' कार दण्डनीति, द्वितीय पाँच कुलकरों के समय 'मा' कार दंडनीति एवं अन्तिम पाँच कुलकरों के समय 'धिक्' कार दंडनीति प्रचलित थी।

---

१ पण्णावणासुत्त : मुनि पुण्यविजयजी द्वारा सम्पादित, महावीर जैन विद्यालय, बम्बई-३६, सन् १९७२।

२ (क) आचार्यश्री अमोलकऋषिजी महाराज, हैदराबाद वी० सं० २४४६।
(ख) शान्तिचन्द्र विहित वृत्ति सहित—देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फंड, बम्बई; सन् १९२०, धनपतसिंह, कलकत्ता, सन् १८८५।

भगवान ऋषभदेव से सम्बन्धित उनके कुमारकाल, राज्यकाल, बहत्तर कलाओं एवं चौंसठ कलाओं का उपदेश, भरत का राज्याभिषेक, भगवान का प्रव्रज्या-ग्रहण, केशलोंच, दीक्षाकालीन तप, उनके साथ दीक्षित होने वालों की संख्या, एक वर्ष पर्यन्त देवदूष्य धारण, उपसर्ग, संयमी जीवन का वर्णन, संयमी जीवन की उपमाएँ, केवलज्ञान का काल, स्थान, उपदेश, गण, गणधर एवं आध्यात्मिक परिवार का वर्णन है। उत्तराषाढ़ा नक्षत्र में उनके पाँच प्रधान जीवन-प्रसंग हुए और निर्वाण अभिजित् में हुआ। संहनन, संस्थान, ऊँचाई, प्रव्रज्या काल, छद्मस्थ जीवन, केवली जीवन आदि का उल्लेख है। निर्वाण का दिन (माघकृष्णा त्रयोदशी), निर्वाण स्थान, भगवान के साथ निर्वाण होने वाले मुनि, निर्वाण काल का तप, निर्वाणोत्सव आदि विषयों पर इस सूत्र के द्वितीय वक्षस्कार में पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

उसके पश्चात् तृतीय वक्षस्कार में भरत चक्रवर्ती का एवं भारतवर्ष नामकरण के हेतु का सविस्तृत वर्णन है।

उत्तराध्ययनसूत्र

उत्तराध्ययन भगवान महावीर के अन्तिम प्रवचनों का संग्रह है। इसमें भगवान ऋषभदेव के सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा नहीं है, किन्तु अठारहवें अध्ययन में सम्राट् भरत का उल्लेख है, जिन्होंने भारतवर्ष के शासन का एवं काम-भोगों का परित्याग कर प्रव्रज्या ग्रहण की थी।[१]

प्रस्तुत आगम के तेवीसवें अध्ययन में 'केशी-गौतमीय' की ऐतिहासिक चर्चा है उसमें गणधर गौतम ने केशी श्रमण से कहा—प्रथम तीर्थङ्कर के साधु ऋजु और जड़ होते हैं, अन्तिम तीर्थङ्कर के साधु वक्र और जड़ होते हैं मध्य के बाईस तीर्थङ्करों के साधु ऋजु और प्राज्ञ होते हैं। प्रथम तीर्थङ्कर के मुनियों द्वारा आचार को यथावत् ग्रहण कर लेना कठिन है, अन्तिम तीर्थङ्कर के मुनियों द्वारा कल्प को यथावत् ग्रहण करना व उसका पालन करना कठिन है, परन्तु मध्य के तीर्थङ्करों के मुनियों द्वारा कल्प को यथावत् ग्रहण करना एव उसका पालन करना सरल है। यहाँ पर भगवान ऋषभ के श्रमणों के स्वभाव का चित्रण किया गया है, किन्तु स्वयं ऋषभदेव का नहीं।[२]

---

१ उत्तराध्ययनसूत्र, १८ अध्ययन, गाथा ३४।

२ उत्तराध्ययनसूत्र, २३ अध्ययन, गाथा २६,२७।

प्रस्तुत सूत्र के पच्चीसवें अध्ययन में जयघोष मुनि ने विजयघोष ब्राह्मण से कहा—'वेदों का मुख अग्निहोत्र है, यज्ञों का मुख यज्ञार्थी है, नक्षत्रों का मुख चन्द्रमा है एवं धर्मों का मुख काश्यप ऋषभदेव है।'[1]

जिस प्रकार चन्द्रमा के सम्मुख ग्रह आदि हाथ जोड़े हुए वन्दना-नमस्कार करते हुए और विनीत भाव से मन का हरण करते हुए रहते हैं उसी प्रकार भगवान ऋषभदेव के सम्मुख सब लोग रहते हैं।[2]

कल्पसूत्र[3]

कल्पसूत्र दशाश्रुतस्कन्ध का अष्टम अध्ययन है, इसमें चौबीस तीर्थङ्करों का संक्षेप में परिचय दिया गया है। भगवान ऋषभदेव के पञ्च कल्याणक का उल्लेख किया है, उसके पश्चात् उनके माता-पिता, जन्म, उनके पाँच नाम और दीक्षा-ग्रहण करने का उल्लेख है। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि ऋषभदेव ने दीक्षा के समय चारमुष्टि केशलोंच किया था जिसका इसमें उल्लेख है। अन्य तीर्थङ्करों के समान पञ्च-मुष्टि केश-लोंच नहीं किया। दीक्षा के एक हजार वर्ष पश्चात् उन्हें केवलज्ञान हुआ। प्रस्तुत सूत्र में उनकी शिष्य-सम्पदा का भी विस्तृत वर्णन किया गया है।

कल्पसूत्र के मूल में ऋषभदेव के पूर्वभवों का उल्लेख नहीं है, किन्तु कल्पसूत्र की वृत्तियों में उनके पूर्वभव व अन्य जीवन-प्रसंगों पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

निर्युक्ति साहित्य में ऋषभदेव

मूल ग्रन्थों पर व्याख्यात्मक साहित्य लिखने की परम्परा बहुत ही प्राचीन है। समवायांग, स्थानांग और नन्दी में जहाँ पर द्वादशांगी का परिचय प्रदान किया गया है वहाँ पर प्रत्येक सूत्र के सम्बन्ध में **संखेज्जाओ निज्जुत्तीओ**' यह उल्लेख है। इससे यह स्पष्ट है कि निर्युक्तियों की परम्परा आगम काल में भी थी। उन्हीं निर्युक्तियों के आधार पर बाद में भी आचार्य रचना करते रहे होंगे और उसे अन्तिम रूप द्वितीय भद्रबाहु

---

१ ·········धम्माणं कासवो मुहं ॥ —उत्तराध्ययनसूत्र, अध्ययन २५, गा० १६

२ वही, अ० २५, गा० १७।

३ कल्पसूत्र : श्री अमर जैन आगम शोध-संस्थान, गढ़ सिवाना, सम्पादक—श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री, सन् १९६८।

ने प्रदान किया। जैसे वैदिक परम्परा में पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या करने के लिये यास्क महर्षि ने निघण्टुभाष्य रूप निरुक्त लिखा वैसे ही जैन आगमों के पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या करने के लिए आचार्य भद्रबाहु ने प्राकृत पद्य में निर्युक्तियों की रचना की। शैली सूत्रात्मक एवं पद्यमय है।

आवश्यकनिर्युक्ति[१]

आचार्य द्वितीय भद्रबाहु ने दस निर्युक्तियों की रचना की है, उनमें आवश्यकनिर्युक्ति का प्रथम स्थान है। इसमें अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों पर विस्तृत और व्यवस्थित चर्चाएं की गई हैं। प्राचीन जैन इतिहास को व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत करने का यह सर्वप्रथम एवं प्रामाणिक प्रयत्न हुआ है। इसमें भगवान महावीर के पूर्वभवों का वर्णन करते हुए भगवान ऋषभदेव के जीवन पर भी विस्तार से प्रकाश डाला गया है। इतना ही नहीं, भगवान के जन्म से पूर्व होने वाले कुलकरों का वर्णन, उनकी उत्पत्ति का हेतु आदि विषयों पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला है। श्री ऋषभदेव से सम्बन्धित निम्न विषयों का निर्देश प्रस्तुत ग्रन्थ में किया गया है—

(१) ऋषभदेव के द्वादश पूर्वभवों का कथन।
(२) ऋषभदेव का जन्म, जन्म-महोत्सव।
(३) वंशस्थापना, नामकरण।
(४) अकाल मृत्यु।
(५) श्री ऋषभदेव का कन्याद्वय के साथ पाणिग्रहण।
(६) संतानोत्पत्ति।
(७) राज्याभिषेक।
(८) खाद्य-समस्या का समाधान।
(९) शिल्पादि कलाओं का परिज्ञान।
(१०) भगवान ऋषभदेव की दीक्षा।
(११) आहार-दान की अनभिज्ञता।
(१२) नमि-विनमि को विद्याधर ऋद्धि।
(१३) चार हजार साधुओं का तापस वेष ग्रहण।
(१४) श्रेयांस के द्वारा इक्षुरस का दान।

---

१ आवश्यकनिर्युक्ति, पूर्वभाग, प्रकाशक—श्री आगमोदय समिति, सन् १९२८।

(१५) श्रेयांस के पूर्वभव।
(१६) केवलज्ञान।
(१७) भरत की दिग्विजय।
(१८) सुन्दरी की प्रव्रज्या।
(१९) भारत-बाहुबली युद्ध।
(२०) मरीचि का नवीन काल्पनिक वेष-ग्रहण।
(२१) वेदोत्पत्ति।
(२२) श्री ऋषभदेव का परिनिर्वाण।
(२३) भरत को केवलज्ञान एवं निर्वाण।

ऋषभदेव के पूर्वभवों का वर्णन सर्वप्रथम इसी ग्रन्थ में हुआ है। कल्पसूत्र की टीकाओं में जो वर्णन हुआ है, उसका भी मूल स्रोत यही है।

ऋषभदेव के जीवन की घटनाओं के साथ ही उस युग के आहार, शिल्प, कर्म, ममता, विभूषण, लेख, गणित, रूप, लक्षण, मानदण्ड, प्रोतन-पोत व्यवहार, नीति, युद्ध, इषुशास्त्र, उपासना, चिकित्सा, अर्थशास्त्र, बंध, घात, ताडन, यज्ञ, उत्सव, समवाय, मंगल, कौतुक, वस्त्र, गंध, माल्य, अलंकार, चूला, उपनयन, विवाह, दत्ति, मृतपूजना, ध्यापना, स्तूप, शब्द, खेलायन, पृच्छना आदि चालीस विषयों की ओर भी संकेत किया है।[1] जिसके आद्य प्रवर्तक श्री ऋषभदेव हैं।

भाष्य साहित्य में

विशेषावश्यकभाष्य[2]

निर्युक्तियों के पश्चात् भाष्य साहित्य का निर्माण किया गया। निर्युक्तियों की तरह भाष्य भी प्राकृत भाषा में हैं। भाष्य साहित्य में विशेषावश्यकभाष्य का अत्यधिक महत्त्व है। यह जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण की एक महत्त्वपूर्ण कृति है। ज्ञानवाद, प्रमाणशास्त्र, आचार, नीति, स्याद्वाद, नयवाद, कर्मवाद प्रभृति सभी विषयों पर विस्तार से विश्लेषण

---

१ आवश्यकनिर्युक्ति गा० १८५-२०६।

२ श्री जिनभद्रगणी विरचित, विशेषावश्यक भाष्य स्वोपज्ञवृत्ति सहित, द्वितीय भाग, सम्पादक—पंडित दलसुख मालवणिया, प्रकाशक—लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्या मंदिर, अहमदाबाद, सन् १९६८।

किया गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ की यह महान् विशेषता है कि जैनतत्त्व का विश्लेषण, जैन दृष्टि से ही न होकर अन्य दार्शनिक मान्यताओं की तुलना के साथ किया गया है। आगम साहित्य की प्रायः सभी मान्यताएँ तर्क रूप में इसमें प्रस्तुत की गई हैं। इसमें भगवान ऋषभ का संक्षेप में सम्पूर्ण जीवन-वृत्त आया है। जो आवश्यकनिर्युक्ति में गाथाएँ हैं, उन्हीं का इसमें प्रयोग है। कुछ गाथाएँ नूतन भी हैं। इसमें मरीचि के भव, कुलकरों का वर्णन, ऋषभदेव के चरित्र में भावी तीर्थङ्कर, चक्रवर्ती आदि का निरूपण किया गया है। ▫

चूर्णि साहित्य में

आवश्यकचूर्णि[1]

आगम की व्याख्याओं में सर्वप्रथम निर्युक्तियाँ, उसके पश्चात् भाष्य और उसके पश्चात् चूर्णि साहित्य रचा गया है। आवश्यकचूर्णि, चूर्णि साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखती है। आवश्यकनिर्युक्ति में जिन प्रसंगों का संक्षेप में सूचन किया गया है उन्हीं प्रसंगों पर चूर्णि में विस्तार से वर्णन है। प्रस्तुत चूर्णि में भगवान ऋषभदेव से सम्बन्ध रखने वाली निम्न घटनाओं का निर्देश मिलता है—

(१) प्रथम कुलकर विमलवाहन का पूर्वभव।
(२) अन्य छह कुलकरों का वर्णन एवं दण्डनीति।
(३) ऋषभदेव के सात पूर्वभवों का उल्लेख।
(४) श्री ऋषभदेव का जन्म, जन्मोत्सव।
(५) नामकरण, वंशस्थापन।
(६) अकाल मृत्यु।
(७) ऋषभदेव का सुमंगला व सुनन्दा के साथ विवाह।
(८) सन्तानोत्पत्ति।
(९) राज्याभिषेक, शिल्पादि कर्मों की शिक्षा।
(१०) ऋषभदेव का शिष्य परिवार।
(११) दीक्षा (यह जो क्रम विपर्यय हुआ है वह सभी तीर्थङ्करों का सामूहिक वर्णन होने से हुआ है।)

---

१ आवश्यकचूर्णि, ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था, रतलाम, सन् १९२८।

(१२) नमि-विनमि को विद्याधर ऋद्धि।
(१३) भिक्षा के अभाव में चार हजार श्रमणों का पथभ्रष्ट होना।
(१४) श्रेयांसादि के स्वप्न एवं भगवान का पारणा।
(१५) श्रेयांस के पूर्वभव।
(१६) भगवान ऋषभदेव को केवलज्ञान।
(१७) माता मरुदेवी को केवलज्ञान और मोक्ष।
(१८) संघ स्थापना।
(१९) भरत की दिग्विजय।
(२०) सुन्दरी की प्रव्रज्या।
(२१) भरत-बाहुबली के दृष्टियुद्ध, बाहुयुद्ध एवं मुष्टियुद्ध का वर्णन।
(२२) बाहुबली को वैराग्य, दीक्षा और केवलज्ञान।
(२३) मरीचि द्वारा स्वेच्छानुसार परिव्राजक वेष (लिंग) की स्थापना।
(२४) ब्राह्मणोत्पत्ति।
(२५) भगवान ऋषभदेव का परिनिर्वाण।
(२६) सम्राट् भरत को आदर्श भवन में केवलज्ञान। □

प्राकृत काव्य साहित्य में

वसुदेव-हिंडी[1]

वसुदेव-हिण्डी का भारतीय कथा साहित्य में ही नहीं अपितु विश्व के कथा साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है। जैसे गुणाढ्य ने पैशाची भाषा में नरवाहनदत्त की कथा लिखी वैसे ही संघदासगणी ने प्राकृत भाषा में वसुदेव के भ्रमण की कथा लिखी। यह कथा (प्रथम खण्ड) जैन साहित्य के उपलब्ध सर्व कथा-ग्रन्थों में प्राचीनतम है। इसकी भाषा आर्ष जैन महाराष्ट्री प्राकृत है। मुख्यत: यह ग्रन्थ गद्यमय है, तथापि कहीं-कहीं पद्यात्मक शैली का भी प्रयोग किया गया है। इसमें श्रीकृष्ण के पिता वसुदेव के अनेक वर्षों के परिभ्रमण और उनका अनेक कन्याओं के साथ विवाह का वर्णन किया गया है। जिस-जिस कन्या के साथ विवाह हुआ उस-उसके नाम से मुख्य कथा के विभागों को 'लंभक' कहा गया है।

---

१ वसुदेव-हिंडी, प्रथम खण्ड, सम्पादक—मुनि पुण्यविजयजी महाराज, श्री जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, ई० सन् १९३१।

वसुदेव-हिंडी के चतुर्थ 'नीलयशा लंभक' एवं 'सोमश्री' लंभक में श्री ऋषभदेव का चरित्र चित्रण किया गया है। उसमें निम्न घटनाओं का समावेश है—

(१) मरुदेवी का स्वप्न-दर्शन।
(२) ऋषभदेव का जन्म।
(३) देवेन्द्रों और दिशाकुमारियों द्वारा भगवान का जन्मोत्सव।
(४) ऋषभदेव का राज्याभिषेक।
(५) ऋषभदेव की दीक्षा।
(६) नमि-विनमि को विद्याधर ऋद्धि की प्राप्ति।
(७) ऋषभदेव का श्रेयांस के यहाँ पारणा।
(८) सोमप्रभ का श्रेयांस को प्रश्न पूछना।
(९) श्रेयांस का प्रत्युत्तर में ऋषभदेव के पूर्वभव का वृत्तांत।
(१०) महाबल और स्वयंबुद्ध के पूर्वजों का वृत्तान्त।
(११) निर्नामिका की कथा।
(१२) आर्यवेद की उत्पत्ति।
(१३) श्री ऋषभदेव का निर्वाण।
(१४) अनार्यवेद की उत्पत्ति।
(१५) बाहुबली एवं भरत का युद्ध।
(१६) बाहुबली की दीक्षा एवं केवलज्ञान।

इस ग्रन्थ में 'जीवानन्द वैद्य' के स्थान पर 'केशव' का उल्लेख हुआ है। ऋषभदेव पूर्वभव में 'केशव' नामक वैद्यपुत्र थे एवं श्रेयांस का जीव पूर्वभव में श्रेष्ठिपुत्र 'अभयघोष' था।[१]

ऋषभदेव के निर्वाण के प्रसंग में कहा है, कि भगवान दस हजार साधुओं, निन्याणवें पुत्रों और आठ पौत्रों के साथ एक ही समय में सिद्ध-बुद्ध हुए थे।[२] …जबकि कल्पसूत्र, आवश्यकनियुंक्ति आदि ग्रन्थों में दस हजार साधुओं का ही उल्लेख है।

---

१ तत्थ सामी पियामहो सुविहि विज्जपुत्तो केसवो नामं जातो। अहं पुण सेट्ठिपुत्तो अभयघोसो। —वसुदेव-हिंडी, नीलयशा लंभक, पृ० १७७

२ भयवं च जयगुरु उसभसामी……दसहिं समणसहस्सेहिं……एगूणपुत्तसएण अट्ठहि य नत्तुयएहिं सह एगसमयेण निव्वुओ। —वही, सोमश्री लंभक, पृ० १८५

भरत-बाहुबली के युद्ध-वर्णन में आचार्य ने उत्तमयुद्ध और मध्यम-युद्ध इन दो युद्धों का वर्णन किया है। उसमें दृष्टियुद्ध को उत्तमयुद्ध कहा है और मुष्टियुद्ध को मध्यमयुद्ध बताया है।

प्रस्तुत ग्रंथ में गंधांग, मायांग, रुक्खमूलिया और कालकेसा आदि विद्याओं का वर्णन है। विषयभोगों को दुःखदायी प्रतिपादन करते हुए कौवे और गीदड़ आदि की लौकिक कथाएँ भी दी हैं।

पउमचरियं[1]

संस्कृत साहित्य में जो स्थान वाल्मीकि रामायण का है, वही स्थान प्राकृत में प्रस्तुत चरित-काव्य का है। इसके रचयिता विमलसूरि हैं। ये आचार्य राहु के प्रशिष्य, विजय के शिष्य और नाइल-कुल के वंशज थे। यद्यपि सूरिजी ने स्वय इसे पुराण कहा है, फिर भी आधुनिक विद्वान् इसे महाकाव्य मानते हैं। पउमचरियं में जैन-रामायण है। वाल्मीकि रामायण की तरह इसमें अनवरुद्ध कथा प्रवाह है। इसकी शैली उदात्त है।

'पउमचरियं' में राम की कथा इन्द्रभूति और श्रेणिक के संवाद के रूप में कही गई है। कथा के प्रारम्भ में आचार्य ने लोक का वर्णन, उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल का निरूपण करते हुए तृतीय आरे के अन्त में कुलकर वंश की उत्पत्ति का संक्षिप्त वर्णन किया है। प्रतिश्रुति कुलकर से लेकर चौदहवें कुलकर नाभि तक के युगानुरूप प्रसिद्ध कार्यों का विवरण भी प्रस्तुत किया है। तदनन्तर तीर्थंकर जन्म के सूचक मरुदेवी के चौदह स्वप्न, गर्भ में आने के छह माह पूर्व कुबेर द्वारा हिरण्यवृष्टि, भगवान का जन्म, इन्द्रों द्वारा मन्दराचल पर्वत पर भगवान का सोत्साह जन्माभिषेक, भगवान के समय की तत्कालीन स्थिति एवं ऋषभदेव के द्वारा नवनिर्माण-शिल्पादि की शिक्षा, त्रिवर्ण की स्थापना का वर्णन अति संक्षिप्त रूप से किया गया है। उसके पश्चात् सुमंगला एवं नन्दा से उनका पाणिग्रहण हुआ। संतानोत्पत्ति के पश्चात् नीलाञ्जना नाम की अप्सरा के मनोहारी नृत्य में मृत्यु का दृश्य देखकर ऋषभदेव विरक्त हुए और उन्होंने 'वसंततिलक' उद्यान में चार

---

१ श्री विमलसूरि विरचित, सम्पादक—श्री पुण्यविजयजी महाराज, प्रकाशक—प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, बाराणसी-५, ई० सन् १९६२।

सहस्र अनुगामियों के साथ 'पंचमुष्टिक लोच' कर[1] संयम ग्रहण किया। भिक्षा न मिलने से छह मास के भीतर चार हजार श्रमण पथ-विचलित हो गये। आकाशवाणी सुनकर वे चार हजार श्रमण वल्कलधारी बनकर वृक्षों से फल, फूल, कन्द आदि का आहार करने लगे। धरणेन्द्र द्वारा नमि-विनमि को उत्तम निवास के हेतु शुद्ध रजत से निर्मित पचास योजन विस्तृत वैताढ्य पर्वत तथा अनेक विद्याओं के दान देने का निरूपण किया गया है।

चतुर्थ उद्देशक में श्रेयांस के दान का, भगवान के केवलज्ञानोत्पत्ति का, उपदेश एवं भरत-बाहुबली के युद्ध का वर्णन है। भरत अपनी पराजय से क्षुभित होकर बाहुबली पर चक्ररत्न फेंकते हैं, परन्तु वह चक्र बाहुबली तक पहुँच कर ज्योंही भरत की ओर मुड़ा तो बाहुबली के मन में वैराग्य उत्पन्न हुआ। एक वर्ष तक कायोत्सर्ग की प्रतिज्ञा कर बाहुबली अन्त में तपोबल से केवलज्ञान प्राप्त करते हैं तथा मोक्ष पद के अधिकारी बनते हैं।

प्रस्तुत उद्देशक में भरत के वैभव का वर्णन करते हुए ब्राह्मण वर्ण की उत्पत्ति का हेतु निर्दिष्ट किया है। अन्त में भगवान ऋषभदेव के अष्टापद पर निर्वाण प्राप्त करने का और भरत चक्रवर्ती के राज्य-लक्ष्मी का त्याग कर अव्याबाध सुख प्राप्त करने का संक्षिप्त निरूपण किया गया है।

इस काव्य में भगवान ऋषभदेव के पंचमुष्टि लोच का निरूपण किया गया है।

तिलोयपण्णत्ति[2]

उक्त ग्रन्थ दिगम्बर परम्परा का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें तीर्थङ्कर आदि के चरित्र-तथ्यों का प्राचीन संकलन प्राकृत भाषा में किया गया है। इसके चौथे महाधिकार में—तीर्थङ्कर किस स्वर्ग से च्यवकर आये, नगरी व माता-पिता का नाम, जन्म तिथि, नक्षत्र, वंश, तीर्थङ्करों का अन्तराल, आयु, कुमारकाल, शरीर की ऊँचाई, वर्ण, राज्यकाल, वैराग्य का निमित्त,

---

१ सिद्धाणं नमुक्कार, काऊण य पञ्चमुट्ठीयं लोयं।
चउहिं सहस्सेहिं समं, पत्तो य जिणो परमदिक्खं॥

—पउमचरियं ३१।६३

२ यतिवृषभाचार्य विरचित, प्रकाशक : जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, भाग १ सन् १९४३, भाग २ सन् १९५१।

चिन्ह, दीक्षातिथि, नक्षत्र, दीक्षा का उद्यान, वृक्ष, प्राथमिक तप, दीक्षा परिवार, पारणा, दान में पञ्चाश्चर्य, छद्मस्थ काल, केवलज्ञान की तिथि, नक्षत्र, स्थान, केवलज्ञान के बाद अन्तरिक्ष हो जाना, केवलज्ञान के समय इन्द्रादि के कार्य, समवसरण का सांगोपांग वर्णन, यक्ष-यक्षिणी, केवलकाल, गणधर संख्या, ऋषि संख्या, पूर्वधर, शिक्षक, अवधिज्ञानी, केवलज्ञानी, विक्रिया ऋद्धिधारी, वादी आदि की संख्या, आर्यिकाओं की संख्या, श्रावक-श्राविकाओं की संख्या, निर्वाणतिथि, नक्षत्र, स्थान का नाम आदि प्रमुख तथ्यों का विधिवत् संग्रह है।

चउप्पन्नमहापुरिसचरियं[1]

महापुरुषों के चरित्र का वर्णन करने वाले उपलब्ध ग्रन्थों में उक्त ग्रन्थ सर्वप्रथम माना जाता है। यह ग्रन्थ आचार्य शीलाङ्क द्वारा रचित है इसमें वर्तमान अवसर्पिणी के चौबीस तीर्थङ्कर, बारह चक्रवर्ती, नौ बलदेव और नौ वासुदेव का चरित्र-चित्रण किया गया है। जैनागम में ऐसे महा-पुरुषों को 'उत्तमपुरुष' या 'शलाकापुरुष' भी कहते हैं। श्रीमज्जिनसेनाचार्य तथा श्री हेमचन्द्राचार्य ने शलाकापुरुषों की संख्या त्रेसठ दी है। नौ वासुदेवों के शत्रु नौ प्रतिवासुदेवों की संख्या चौपन में जोड़ने से त्रेसठ की संख्या बनती है। श्री भद्रेश्वर सूरि ने अपनी कहावली में नौ नारदों की संख्या को जोड़कर शलाकापुरुषों की संख्या बहत्तर दी है।[2]

शीलांकीय प्रस्तुत ग्रन्थ प्राकृत भाषा में निबद्ध है। मात्र 'विबुधानन्द नाटक' संस्कृत में है, उसमें भी कहीं-कहीं अपभ्रंश सुभाषित आते हैं। सम्पूर्ण ग्रन्थ गद्य-पद्यमय होने पर भी कहीं-कहीं पद्यगन्धी गद्य भी प्रतीत होता है।

इसमें आचार्य ने सर्वप्रथम मंगलाचरण कर लोक-अलोक व काल का वर्णन किया है। इसके पश्चात् सप्त कुलकर, 'हा'कारादि नीतियाँ,

---

१ आचार्य शीलाङ्क विरचित, सम्पादक—पंडित अमृतलाल मोहनलाल भोजक, प्रकाशक—प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, वाराणसी ५, सन् १९१६।

२ चउवीस जिणा, बारस चक्की, णव पडिहरी, णव सरामा। हरिणो, चक्कि-हरिसु य केसु य णव नारया होंति। उक्कणइं चिय जिण राम-णारया जंतऽहोगइं चेय। सणियाणा चिय पडिहरि-हरिणो दुहवो वि चक्कि त्ति। न य सम्मत्त सलायारहिया नियमेणिमेजओ तेण। होंति सलाया पुरिसा बहत्तरी……।

—कहावली (अमुद्रित)

अल्पानुभाव वाले कल्पवृक्षों का वर्णन कर श्री ऋषभदेव के दस पूर्वभवों का वर्णन किया है। ऋषभदेव के चतुर्थ भव में महाबल को प्रतिबोधित करने के लिये आचार्य ने मंत्री द्वारा 'विबुधानंद नाटक' की रचना करवाकर अवान्तर कथा को भी सम्मिलित किया है। भगवान ऋषभदेव के जन्म के पश्चात् आचार्य ने भगवान से सम्बन्धित निम्न बातों का अपने ग्रन्थ में उल्लेख किया है—

(१) इक्ष्वाकुवंश की स्थापना।
(२) ऋषभस्वामी का विवाह और राज्याभिषेक।
(३) विनीता नगरी की स्थापना।
(४) भरत-बाहुबली आदि पुत्र व ब्राह्मी-सुन्दरी कन्याद्वय का जन्म।
(५) लिपि-कला-लक्षण शास्त्रादि का प्रादुर्भाव।
(६) वर्ण व्यवस्था।
(७) ऋषभदेव की दीक्षा, पञ्चमुष्टि लोच।
(८) एक संवत्सर के पश्चात् भगवान का पारणा।
(९) बाहुबली कृत धर्मचक्र।
(१०) केवलज्ञान की उत्पत्ति।
(११) मरुदेवी माता को केवलज्ञान और निर्वाण।
(१२) गणधर स्थापना और ब्राह्मी प्रव्रज्या।
(१३) भरत की विजय-यात्रा, नव निधियाँ।
(१४) भरत-बाहुबली युद्ध।
(१५) उत्तम, मध्यम और जघन्य—युद्ध के तीन रूप।
(१६) पराजित भरत द्वारा चक्ररत्न फेंकना।
(१७) बाहुबली की दीक्षा और केवलज्ञान।
(१८) मरीचि का स्वमति अनुसार लिंग स्थापन।
(१९) ऋषभदेव का निर्वाण।
(२०) भरत का केवलज्ञान और निर्वाण।

इस ग्रन्थ में प्रमुख ध्यान देने की बात है—भगवान का पञ्चमुष्टि केशलुंचन[१]; जबकि अन्य ग्रन्थों में चतुर्मुष्टि केशलुंचन का उल्लेख है।

---

१ कयवज्जसण्णिहाणपचमुट्ठिलोओ .... पृ० ४०

और दूसरा 'विबुधानन्द नाटक' की रचना। अन्य श्वेताम्बर-ग्रन्थों में कहीं भी ऐसा उल्लेख नहीं है।

युद्ध का वर्णन करते हुए तीन तरह के युद्ध प्रतिपादित किये हैं—दो प्रतिस्पर्द्धी राजा सैन्य का संहार रोकने के लिये परस्पर दृष्टियुद्ध अथवा मल्लयुद्ध करते थे। इन दो प्रकारों में से प्रथम उत्तम और द्वितीय मध्यम युद्ध कहलाता है। रणभूमि में दो प्रतिस्पर्द्धी राजाओं के सैन्य विविध आयुधों से जो युद्ध करते हैं वह अधम-कोटि का है।

आदिनाहचरियं

प्रस्तुत ग्रन्थ के रचयिता नवांगी टीकाकार अभयदेवसूरि के शिष्य वर्धमानाचार्य हैं। इस रचना पर 'चउप्पन्नमहापुरिसचरियं' का प्रभाव है। उक्त ग्रन्थ की एक गाथा संख्या ४५ के रूप में इसमें ज्यों की त्यों उद्धृत की गयी है। ऋषभदेव के चरित का विस्तार से वर्णन करने वाला यह प्रथम ग्रन्थ है। इसमें पाँच परिच्छेद हैं। ग्रन्थ का परिमाण ११००० श्लोक प्रमाण है।

ऋषभदेव चरियं

उसका दूसरा नाम 'धर्मोपदेशशतक' भी है यह ग्रन्थ-रत्न तीन सौ तेईस गाथाओं में निबद्ध है। इसके रचयिता भुवनतुंगसूरि हैं।

सिरि उसहणाहचरियं[1]

श्री हेमचन्द्राचार्य विरचित 'त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र' के दस पर्वों में से प्रथम पर्व, जिसमें मुख्यतः कौशलिक—श्री ऋषभदेव का विस्तृत वर्णन है उसका प्राकृत रूपान्तर प्रस्तुत ग्रन्थ 'सिरि उसहणाह-चरियं' में किया गया है। प्राकृत रूपान्तर करने वाले प्राकृत भाषा विशारद श्री विजयकस्तूरसूरिजी हैं।

कहावलि

इस महत्त्वपूर्ण कृति के रचयिता भद्रेश्वरसूरि हैं जो अभयदेवसूरि के गुरु थे। इनका समय १२वीं शताब्दी के मध्य के आसपास माना जाता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में त्रेसठ महापुरुषों का चरित्र वर्णित है। इसकी रचना प्राकृत गद्य में की गई है, तथापि यत्र-तत्र पद्य भी संप्राप्त होते हैं।

---

१ श्री विजयकस्तूरसूरीश्वरजी महाराज, सम्पादक—चन्द्रोदय विजयगणि, प्रकाशक—श्री नेम विज्ञान कस्तूरसूरि ज्ञानमंदिर, सूरत, ई० सन् १९६८।

ग्रन्थ में किसी प्रकार के अध्यायों का विभाग नहीं है। यह कृति पश्चात् कालीन त्रिषष्टि शलाकापुरुष महाचरित आचार्य हेमचन्द्र विरचित की रचनाओं का आधार है। इसकी प्रति लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर अहमदाबाद में उपलब्ध है।

भरतेश्वर बाहुबली वृत्ति[1]

प्रस्तुत ग्रन्थ शुभशीलगणी विरचित है। सम्पूर्ण ग्रन्थ प्राकृत भाषा में होने पर भी कहीं-कहीं श्लोकों की भाषा संस्कृत है। इसमें विविध महापुरुषों का चरित्र-चित्रण किया गया है। कुल मिलाकर सड़सठ महापुरुषों एवं त्रेपन महासतियों की जीवन-कथाओं का वर्णन प्रस्तुत ग्रन्थ में किया गया है। सर्वप्रथम श्री ऋषभदेव के जीवन चरित्र का वर्णन है। उनसे सम्बन्धित निम्न घटनाएँ इस ग्रन्थ में उल्लिखित हैं—

(१) ऋषभदेव भगवान के द्वादश पूर्वभवों का कथन।
(२) माता मरुदेवी के चौदह स्वप्न।
(३) भगवान का जन्म।
(४) नामकरण, वंश स्थापना।
(५) अकाल मृत्यु।
(६) भगवान का विवाह, संतानोत्पत्ति।
(७) राज्याभिषेक।
(८) कलाओं का परिज्ञान।
(९) चतुर्मुष्टि लोच एवं दीक्षा।
(१०) एक वर्ष पश्चात् श्रेयांस द्वारा आहार-दान।
(११) नमि-विनमि को विद्याधर की ऋद्धि।
(१२) भगवान को केवलज्ञान की उत्पत्ति।
(१३) माता मरुदेवी को केवलज्ञान एवं निर्वाण।
(१४) समवसरण, भगवद्देशना (मधुबिन्दु की कथा)।
(१५) भरतपुत्र पुंडरीक को प्रथम गणधर की पदवी।
(१६) भरत की दिग्विजय का वर्णन।
(१७) सुन्दरी की दीक्षा।

---

१ श्री शुभशीलगणि विरचित, भाषान्तर—शाह मोतीचन्द ओघवजी, प्रकाशक—शाह अमृतलाल ओघवजी, अहमदाबाद, ई० सन् १९३८।

(१८) भरत-बाहुबली के पञ्च युद्ध ।
(१९) बाहुबली की दीक्षा एवं केवलज्ञान ।
(२०) ब्राह्मण वर्ण की उत्पत्ति ।
(२१) मरीचि का अभिमान ।
(२२) प्रथम गणधर पुंडरीक की मुक्ति ।
(२३) भगवान ऋषभदेव का निर्वाण ।
(२४) भगवान का अग्नि-संस्कार ।
(२५) भरत को आदर्श भवन में केवलज्ञान ।
(२६) भरत का निर्वाण ।

यहाँ मुख्य ध्यान देने की तीन बातें हैं—प्रथम तो भरतपुत्र 'पुंडरीक' की प्रथम गणधर पदवी । त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, आवश्यकचूर्णि, आवश्यकनिर्युक्ति आदि में प्रथम गणधर का नाम 'ऋषभसेन' दिया है । द्वितीय प्रमुख बात मरुदेवी का अग्नि-संस्कार है, जबकि अन्य श्वेताम्बर ग्रन्थों में मरुदेवी माता के कलेवर को क्षीर-समुद्र में प्रक्षिप्त करने का उल्लेख मिलता है । भरत-बाहुबली के युद्ध में दृष्टियुद्ध, बाहुयुद्ध, मुष्टियुद्ध, दण्डयुद्ध एवं वचनयुद्ध—इन पाँच युद्धों का निर्देश किया है । इससे पूर्व भरत एवं बाहुबली की सेना का परस्पर द्वादश वर्ष तक घमासान युद्ध चलने का भी आचार्य ने वर्णन किया है । इस प्रकार कथा सूत्र इसमें विकसित हुआ है ।

संस्कृत-साहित्य

महापुराण[1]

प्रस्तुत ग्रन्थ महापुराण जैन पुराण ग्रन्थों में मुकुटमणि के समान है । इसका दूसरा नाम 'त्रिषष्टि लक्षण महापुराण संग्रह' भी है । इसके दो खण्ड हैं—प्रथम आदिपुराण या पूर्वपुराण और द्वितीय उत्तरपुराण । आदिपुराण सैंतालीस वर्षों में पूर्ण हुआ है, जिसके बयालीस पर्व पूर्ण तथा तैंतालीसवें पर्व के तीन श्लोक जिनसेनाचार्य के द्वारा विरचित हैं और अवशिष्ट पाँच पर्व तथा उत्तरपुराण श्री जिनसेनाचार्य के प्रमुख शिष्य गुणभद्राचार्य द्वारा निर्मित हैं ।

---

१ श्री जिनसेनाचार्य विरचित, आदिपुराण, संपादक—पन्नालाल जैन साहित्याचार्य, प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, सन् १९३१ ।

प्रस्तुत ग्रन्थ मात्र पुराण ग्रन्थ ही नहीं, अपितु महाकाव्य है।

महापुराण का प्रथम खण्ड आदिपुराण है, जिसमें प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभनाथ और उनके पुत्र भरत चक्रवर्ती का सविस्तृत वर्णन किया गया है। तृतीय आरे के अन्त में जब भोगभूमि नष्ट हो रही थी और कर्मभूमि का नव प्रभात उदित हो रहा था उस समय भगवान ऋषभदेव का नाभि-राजा के यहाँ मरुदेवी माता की कुक्षि में जन्म धारण करना, नाभिराज की प्रेरणा से कच्छ महाकच्छ राजाओं की बहिनें यशस्वती व सुनन्दा के साथ पाणिग्रहण करना, राज्यव्यवस्था का सूत्रपात, पुत्र और पुत्रियों को विविध कलाओं में पारङ्गत करना और अन्त में नीलाञ्जना का नृत्यकाल में अचानक विलीन हो जाना ऋषभदेव की वैराग्य-साधना का आधार बन गया। तत्पश्चात् उन्होंने चार हजार राजाओं के साथ संयम ग्रहण किया, ऋषभदेव ने तो छह माह का अनशन तप स्वीकार कर लिया, परन्तु अन्य सहदीक्षित राजा लोग क्षुधा-तृषा आदि की बाधा सहन न कर सकने के कारण पथ-भ्रष्ट हो गये। छह माह की समाप्ति पर भगवान का भिक्षा के लिये घूमना, पर आहार-विधि का ज्ञान न होने से भगवान का छह माह तक निराहार रहना, हस्तिनापुर के राजा सोमप्रभ के लघुभ्राता श्रेयांस का इक्षुरस दान तथा अन्त में एकान्त आत्म-साधना व घोर तपश्चर्या से एक हजार वर्ष पश्चात् केवलज्ञान की प्राप्ति का वर्णन जिस सरस रीति से आचार्य ने प्रस्तुत किया है, उसे पढ़ते-पढ़ते हृदय-मयूर सहसा नाच उठता है।

इसके बाद आचार्य ने भरत की दिग्विजय का मानो आँखों देखा वर्णन किया है। भरतक्षेत्र को अपने अधीन कर सम्राट् भरत ने राजनीति का विस्तार किया, स्वाश्रित सम्राटों की शासन पद्धति की शिक्षा दी, व्रती के रूप में ब्राह्मण-वर्ण की स्थापना की, वे षट्खण्ड के अधिपति होते हुए भी उसमें आसक्त नहीं थे। भगवान ऋसभदेव ने केवलज्ञान के पश्चात दिव्यध्वनि द्वारा समस्त आर्यावर्त की जनता को हितोपदेश दिया। आयु के अन्त में कैलासपर्वत पर निर्वाण प्राप्त किया। भरत चक्रवर्ती भी गृहवास से विरक्त होकर दीक्षा ग्रहण करते हैं तथा अन्तर्मुहूर्त में ही केवल-ज्ञान की ज्योति को उद्भूत करते हैं। केवलज्ञानी भरत भी आर्य देशों में विचरण कर, समस्त जीवों को हितोपदेश देकर निर्वाण को प्राप्त होते हैं।

प्रस्तुत महापुराण दिगम्बर परम्परा का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। दिगम्बर परम्परा के जितने भी अन्य ग्रन्थ हैं उन सभी के कथा का मूलस्रोत यही ग्रन्थ है। श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा में जो कथानक में अन्तर है वह इसमें सहज रूप से देखा जा सकता है।

आचार्य जिनसेन ने आदिपुराण में ओज, माधुर्य, प्रसाद, रस, अलंकार आदि काव्य गुणों से युक्त भगवान ऋषभदेव का सम्पूर्ण जीवन काव्यमयी शैली से चित्रित किया है, जो यथार्थता की परिधि को न लांघता हुआ भी हृदयग्राही है।

हरिवंशपुराण[1]

हरिवंश पुराण के रचयिता आचार्य जिनसेन पुन्नाट संघ के थे, ये महापुराण के कर्त्ता जिनसेन से भिन्न हैं। यह पुराण भी दिगम्बर-सम्प्रदाय के कथा-साहित्य में अपना प्रमुख स्थान रखता है। प्रस्तुत पुराण में मुख्यतः त्रेसठ शलाका महापुरुष चरित्र में से दो शलाकापुरुषों का चरित्र वर्णित हुआ है। एक बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ जिनके कारण इसका दूसरा नाम 'अरिष्टनेमिपुराण संग्रह' भी है और दूसरा नवें वासुदेव श्रीकृष्ण। प्रसंगोपात्त सप्तम सर्ग से त्रयोदश सर्ग पर्यन्त प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव और प्रथम चक्रवर्ती सम्राट् भरत का चरित्र-चित्रण भी इसमें विस्तृत रूप से प्रतिपादित किया गया है।

कालद्रव्य का निरूपण करते हुए उन्होंने काल को उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के रूप में दो भागों में विभक्त किया है। वर्तमान अवसर्पिणी काल के भोगभूमि आरों का वर्णन, कुलकरों की उत्पत्ति, उनके कार्य, दण्ड-व्यवस्था आदि का वर्णन किया गया है।

नाभि कुलकर के यहाँ ऋषभ का जन्म, कर्मभूमि की रचना, कलाओं की शिक्षा, नीलाञ्जना नर्तकी को देख भगवान का वैराग्य, संयम-साधना, नमि-विनमि को धरणेन्द्र द्वारा राज्य प्राप्ति, श्रेयांस द्वारा इक्षुरस का दान, शकटास्य वन में केवलज्ञानोत्पत्ति, भगवान का सदुपदेश आदि का वर्णन विस्तृत व सुन्दर शैली में प्रस्तुत किया है।

सम्राट भरत के वर्णन में उन्होंने भरत की दिग्विजय का साङ्गोपाङ्ग चित्र उपस्थित किया है। बाहुबली के साथ हुए अहिंसक युद्ध में दृष्टियुद्ध,

---

१ पुन्नाट संघीय आचार्य जिनसेन विरचित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, सन् १९६२।

जलयुद्ध और मल्लयुद्ध का वर्णन किया गया है। द्वादशवें सर्ग में जयकुमार व सुलोचना का वर्णन है। जयकुमार का एकसौ आठ राजाओं के साथ दीक्षा ग्रहण करने आदि का वर्णन है। यह वर्णन श्वेताम्बर-परम्परा में नहीं मिलता। इसी सर्ग के अन्त में ८४ गणधरों के नाम, शिष्य परम्परा व भगवान के संघ का वर्णन तथा भगवान ऋषभदेव के मोक्ष पधारने का उल्लेख किया गया है।

त्रयोदश सर्ग के प्रारम्भ में चक्रवर्ती भरत का पुत्र अर्ककीर्ति को राज्य देकर दीक्षा लेना तथा अन्त में वृषभसेन आदि गणधरों के साथ कैलास पर्वत पर मोक्ष प्राप्त करने का वर्णन है। तत्पश्चात् सूर्यवंशी और चन्द्रवंशी राजाओं का विस्तृत समुल्लेख करते हुए ऋषभदेव चरित्र की परिसमाप्ति की गई है।

त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित महाकाव्य[1]

यह ग्रन्थ महाकाव्य की कोटि में आता है। काव्य के जो भी लक्षण हैं, वे इसमें पूर्णतया विद्यमान हैं। इसकी रचना कलिकालसर्वज्ञ श्रीमद् हेमचन्द्राचार्य ने की है। इसकी भाषा संस्कृत है। अलंकारों, उपमाओं और सुभाषितों का यह आकर है। इसमें त्रेसठ उत्तम पुरुषों के जीवन-चरित्र पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। शलाका पुरुषों के अतिरिक्त इसमें सैकड़ों अवान्तर कथाओं का भी वर्णन है। उक्त ग्रन्थ दस पर्वों में विभक्त है। प्रथम पर्व में विस्तृत रूप से भगवान ऋषभदेव और भरत चक्रवर्ती का वर्णन किया गया है। संक्षेप में ऋषभदेव भगवान की निम्न घटनाओं का इस ग्रन्थ में चित्रण हुआ है—

(१) भगवान ऋषभदेव के बारह पूर्व भवों का वर्णन।
(२) प्रथम कुलकर विमलवाहन का पूर्व भव।
(३) भगवान ऋषभदेव की माता के स्वप्न एवं उनका फल।
(४) भगवान ऋषभदेव का जन्म व जन्मोत्सव।
(५) नामकरण, वंशस्थापन एवं रूप वर्णन।
(६) सुनन्दा के भ्राता की अकाल मृत्यु।
(७) भगवान का विवाह, सन्तानोत्पत्ति।

---

१ कलिकाल सर्वज्ञ श्रीमद् हेमचन्द्राचार्य विरचित, संपादक—मुनि चरणविजयजी, आत्मानन्द सभा, भावनगर (सौराष्ट्र) सन् १९३६।

(८) राज्याभिषेक, कलाओं की शिक्षा।
(९) वसन्तवर्णन, वैराग्य का कारण।
(१०) महाभिनिष्क्रमण।
(११) साधनावस्था।
(१२) श्रेयांसकुमार से इक्षुरस का पारणा।
(१३) केवलज्ञान, समवसरण।
(१४) माता मरुदेवी को केवलज्ञान और मोक्ष।
(१५) चतुर्विध संघ-संस्थापना।
(१६) भरत की दिग्विजय का वृत्तान्त।
(१७) भरत-बाहुबली युद्ध।
(१८) बाहुबली की दीक्षा, केवलज्ञान।
(१९) परिव्राजकों की उत्पत्ति।
(२०) ब्राह्मणों एवं यज्ञोपवीत की उत्पत्ति।
(२१) भगवान ऋषभदेव का धर्म-परिवार, निर्वाणोत्सव।
(२२) भरत का वैराग्य, केवलज्ञान एवं निर्वाण।

भाव, भाषा और शैली की दृष्टि से यह उत्कृष्ट महाकाव्य है।

त्रिषष्टिस्मृति शास्त्र[1]

प्रस्तुत ग्रन्थ के रचयिता प्रसिद्ध पंडित आशाधर हैं। इन्होंने लगभग १९ ग्रन्थों की रचना की है जिनमें कई अनुपलब्ध हैं। प्रस्तुत 'त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्र' कृति इनकी महत्त्वपूर्ण काव्य-कृति है। इसमें त्रेसठ शलाका महापुरुषों के जीवन-चरित अति संक्षिप्त रूप में उट्टङ्कित हैं। यह श्रीमद् जिनसेनाचार्य एवं गुणभद्र के महापुराण का सार रूप ग्रन्थ-रत्न है। इसको पढ़ने से महापुराण का सारा कथा-भाग स्मृति-गोचर हो जाता है। ग्रन्थकार ने इस ग्रन्थ पर स्वोपज्ञ 'पंजिका' टीका लिखी है। सम्पूर्ण ग्रन्थ की रचना चौबीस अध्यायों में विभक्त है। समस्त ग्रन्थ की रचना सुन्दर अनुष्टुप् छन्दों में की गई है। इस ग्रन्थ का प्रमाण ४८० श्लोक है। जो नित्य स्वाध्याय के लिये रचा गया था। इसका रचनाकाल सं० १२९२ है।

---

१ माणिक्यचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, १९३७, जिनरत्नकोश, पृ० १६५।

आदिपुराण-उत्तरपुराण

इस ग्रन्थ का अपरनाम 'ऋषभदेवचरित' तथा 'ऋषभनाथचरित' भी है। इसमें बीस सर्ग हैं। इन दोनों कृतियों के रचयिता भट्टारक सकलकीर्ति हैं।

रायमल्लाभ्युदय

इसके रचयिता उपाध्याय पद्मसुन्दर हैं जो नागौर तपागच्छ के बहुत बड़े विद्वान् थे। ये अपने युग के एक प्रभावक आचार्य थे। उन्होंने दिगम्बर सम्प्रदाय के रायमल्ल (अकबर के दरबारी सेठ) की अभ्यर्थना एवं प्रेरणा से उक्त काव्य ग्रन्थ की संरचना की थी, अतः इसका नाम 'रायमल्लाभ्युदय' रखा गया।

इस ग्रन्थ-रत्न में चौबीस तीर्थङ्करों का जीवन चरित्र महापुराण के अनुसार दिया गया है। इसकी हस्तलिखित प्रति उपलब्ध होती है जो खम्भात के 'कल्याणचन्द्र जैन पुस्तक भण्डार' में सुरक्षित है।

लघुत्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित

प्रस्तुत ग्रन्थ के रचयिता मेघविजय उपाध्याय हैं। इन्होंने यद्यपि इस ग्रन्थ की निर्मिति आचार्य हेमचन्द्र के बृहत्काय ग्रन्थ 'त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र' के आधार पर की है, तथापि अनेक प्रसंग एकदम नवीन ग्रहण किये हैं जो हेमचन्द्राचार्य की कृति में नहीं पाये जाते। इस कृति के नाम के पीछे दो बातों का अनुमान किया जा सकता है। एक तो यह कि प्रस्तुत कृति आचार्य हेमचन्द्र की त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित को सामने रखकर रची गई है अथवा आचार्य हेमचन्द्र ने जिन प्रसंगों को छोड़ दिया है, उन प्रसंगों को शामिल कर लेने पर भी कलेवर की दृष्टि से लघुकाय इस कृति का नाम 'लघुत्रिषष्टिशलाका' रखने में आया हो। यह कृति संक्षेप रुचि वालों के लिये अति उपकारक है। इसका ग्रन्थमान ५००० श्लोक प्रमाण है।

ये तीनों ही ग्रन्थ त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित से प्रभावित रचनाएँ हैं।

इनके अतिरिक्त कुछ अन्य भी रचनाएं हैं जो त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित एवं महापुराण पर आधारित हैं—

(१) लघु महापुराण या लघु त्रिषष्टि लक्षण महापुराण—चन्द्रमुनि विरचित।

(२) त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित—विमलसूरि विरचित ।
(३) „ „ —वज्रसेनविरचित ।
(४) त्रिषष्टिशलाकापंचाशिका—कल्याणविजयजी के शिष्य द्वारा विरचित । ५० पद्यों में ग्रथित ग्रन्थ-रत्न ।
(५) त्रिषष्टिशलाकापुरुष विचार—अज्ञात । ६३ गाथाओं में ग्रथित ।
(६) तिसट्ठिमहापुरिसगुणालंकारु (त्रिषष्टिमहापुरुषगुणालंकार) या महापुराण—इसमें त्रेसठ शलाका पुरुषों के चरित्र हैं। इसके दो खण्ड हैं—आदिपुराण और उत्तरपुराण। आदिपुराण में प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव का संक्षिप्त वर्णन है। इसके कर्त्ता महाकवि पुष्पदन्त हैं। यह ग्रन्थ आधुनिक पद्धति से सुसम्पादित एवं प्रकाशित है।

महापुराण

प्रस्तुत पुराण ग्रन्थ के रचयिता मुनि मल्लिषेण हैं। इस ग्रन्थ का रचना-काल शक सं० ९६९ (वि० सं० ११०४) ज्येष्ठ सुदी ५ दिया गया है। अतः ग्रन्थकार का समय विक्रम की ग्यारहवीं के अन्त में और १२वीं सदी के प्रारम्भ में माना गया है। ये एक महान् मठपति थे तथा कवि होने के साथ-साथ बड़े मंत्रवादी थे। इन्होंने उक्त ग्रन्थ की रचना धारवाड़ जिले के अन्तर्गत मुलगुन्द में की थी। इसमें त्रेसठ शलाका पुरुषों की संक्षिप्त कथा है अतः उक्त ग्रन्थ का अपर नाम 'त्रिषष्टिमहापुराण' या त्रिषष्टि-शलाकापुराण' भी प्रचलित है। इस ग्रन्थ का परिमाण दो हजार श्लोकों का है। रचना अति सुन्दर एवं प्रासाद गुण से अलंकृत है।

पुराणसार

इसमें चौबीस तीर्थङ्करों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। यह संक्षिप्त रचनाओं में प्राचीन रचना है।

इसके रचयिता लाट बागड़संघ और बलाकागण के आचार्यश्री नन्दी के शिष्य मुनि श्रीचन्द्र हैं। इन्होंने इस ग्रन्थ की रचना वि० सं० १०८० में समाप्त की थी। इनकी अन्य कृतियों में महाकवि पुष्पदन्त के महापुराण पर टिप्पण तथा शिवकोटि की मूलाराधना पर टिप्पण हैं। इन ग्रन्थों के पीछे प्रशस्ति दी गई है जिससे ज्ञात होता है, कि ये सब ग्रन्थ प्रसिद्ध परमार नरेश भोजदेव के समय में धारा नगरी में लिखे गये हैं।

पुराणसार संग्रह

प्रस्तुत ग्रन्थ में आदिनाथ, चन्द्रप्रभ, शांतिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर इन छह चरित्रों का संकलन किया गया है। इसके २७ सर्गों में से पाँच सर्गों में आदिनाथ के चरित्र का वर्णन किया गया है।

इसके रचयिता दामनन्दी आचार्य हैं ऐसा अनेक सर्गों के अन्त में दिये गये पुष्पिका वाक्यों से ज्ञात होता है। इनका समय ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य के लगभग माना जाता है।

चतुर्विंशतिजिनेन्द्र संक्षिप्तचरितानि

प्रस्तुत ग्रन्थ आचार्य अमरचन्द्रसूरि विरचित है। ये अपने समय के बहुत बड़े कवि थे। उक्त ग्रन्थ के अतिरिक्त इनके पद्मानन्द, बालभारत आदि तेरह ग्रन्थ और भी हैं।

जैसा ग्रन्थ के नाम से ही ज्ञात होता है, इसमें २४ तीर्थंङ्करों का संक्षिप्त जीवन-चरित्र है, जो २४ अध्यायों एवं १८०२ पद्यों में विभक्त है। प्रत्येक अध्याय में तीर्थंङ्करों का पूर्वभव, वंश परिचय, नामकरण की सार्थकता, च्यवन, गर्भ, जन्म, दीक्षा, मोक्ष का दिवस, चैत्यवृक्ष की ऊँचाई, गणधर, साधु, साध्वी, चौदहपूर्वधारी, अवधिज्ञानी, मनःपर्यवज्ञानी. केवली, विक्रिया ऋद्धिधारी, वादी, श्रावक, श्राविका-परिवार, आयु, बाल्यावस्था, राज्य काल, छद्मस्थ अवस्था, केवली अवस्था आदि का सारगर्भित विवरण इसमें प्राप्त होता है।

महापुरुषचरित

इस ग्रन्थ के रचयिता मेरुतुंग हैं। ग्रन्थ पाँच सर्गों में विभक्त है। जिनमें क्रमशः ऋषभदेव, शांतिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर प्रभु के जीवन-चरित्र का उल्लेख है। प्रस्तुत ग्रन्थ पर एक टीका भी है, जो संभवतः स्वोपज्ञ है। उसमें उक्त ग्रन्थ को 'काव्योपदेशशतक' या 'धर्मोपदेशशतक' भी कहा गया है।

अन्य चरित्र

वडगच्छीय हरिभद्रसूरि ने 'चौबीस तीर्थंङ्कर चरित्र' की रचना की, जो वर्तमान में अनुपलब्ध है। नवांगी टीकाकार अभयदेव के शिष्य वर्धमान सूरि ने संवत् ११६० में 'आदिनाथ चरित्र' का निर्माण किया। बृहद्गच्छीय हेमचन्द्रसूरि ने 'नाभिनेमि द्विसंधानकाव्य' की रचना की। हेमविजयजी

का 'ऋषभशतक' भी उपलब्ध होता है। आचार्य हेमचन्द्र के सुशिष्य रामचन्द्रसूरि ने 'युगादिदेव द्वात्रिंशिका' ग्रन्थ का निर्माण किया।

इसी प्रकार अज्ञात लेखक के 'आदिदेवस्तव', 'नाभिस्तव' आदि ऋषभदेव की संस्तुति के रूप में साहित्य प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होता है। कितने ही ग्रन्थ अप्रकाशित हैं जो केवल भण्डारों में हस्तलिखित प्रतियों के रूप में उपलब्ध होते हैं और कितने ही प्रकाशित हो चुके हैं।

भरत बाहुबलिमहाकाव्यम्[1]

प्रस्तुत ग्रन्थ के रचयिता श्री पूज्यकुशलगणी हैं। ये तपागच्छ के विजयसेनसूरि के प्रशिष्य और पण्डित सोमकुशलगणी के शिष्य थे। प्रस्तुत काव्य का रचना समय सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में है।

पञ्जिकाकार ने इसे महाकाव्य कहा है किन्तु इसमें जीवन का सर्वांगीण चित्रण नहीं हुआ है। केवल भरत बाहुबली के युद्ध का ही प्रसंग है। अतः यह एकार्थ काव्य या काव्य है। चक्रवर्ती भरत छह खंड विजय के पश्चात् राजधानी अयोध्या में प्रवेश करते हैं किन्तु उनका चक्र आयुधशाला में प्रवेश नहीं करता। उसका रहस्य ज्ञात होने पर भरत बाहुबली के पास दूत प्रेषित करते हैं और दोनों भाई युद्धक्षेत्र में मिलते हैं। बारह वर्ष तक युद्ध होता है अन्त में बाहुबली भगवान ऋषभदेव का पथ अपनाते हैं और सम्राट् भरत भी अनासक्तिमय जीवन जीते हैं और केवलज्ञान प्राप्त करते हैं। कवि ने कमनीय कल्पना से प्रस्तुत प्रसंग को खूब ही सजाया है, संवारा है। वर्णन शैली अत्यधिक रोचक है जिससे पाठक कहीं पर भी ऊबता नहीं है। इसमें अठारह सर्ग हैं। अन्तिम श्लोक का छन्द मुख्य छन्द से पृथक् है। शान्त रस के साथ ही श्रृंगार रस और वीर रस की प्रधानता है।

भाषा शुद्ध संस्कृत है जो सरस, सरल और लालित्यपूर्ण है। भाषा में जटिलता नहीं, सहजता है। मुख्य रूप से इसमें प्रसाद और लालित्य गुण आया है पर कहीं-कहीं ओज गुण भी आया है।

पद्मानन्द महाकाव्य[2]

श्री अमरचन्द्रसूरि विरचित 'पद्मानन्द महाकाव्य' उन्नीस सर्गों में

---

१ अनुवादक—मुनि दुलहराज, प्रकाशक—जैन-विश्व भारती लाडनूं (राजस्थान), सन् १९७४।

२ श्री अमरचन्द सूरि विरचित, तेरहवी-चौदहवीं शताब्दी के जैन संस्कृत महाकाव्य मे उद्धृत परिचय, पृ० ३०१-३२२, लेखक—डा० श्यामशंकर दीक्षित, प्रकाशक—मलिक एण्ड कम्पनी, चौड़ा रास्ता, जयपुर ३, सन् १९६९।

विभक्त है। इसका दूसरा नाम 'जिनेन्द्र चरित्र' भी है। इस सम्पूर्ण काव्य में आदि तीर्थङ्कर भगवान ऋषभदेव के जीवन चरित्र का वर्णन किया गया है। इसकी रचना कवि ने कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्रसूरि कृत 'त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र' के अधार पर की है। यह काव्य संस्कृत-वाङ्मय की अमूल्य निधि है।

इसके प्रथम सर्ग में जिनेश्वर स्तुति के पश्चात् काव्य-निर्माण का कारण बताया गया है। द्वितीय सर्ग से लेकर षष्ठम सर्ग तक ऋषभदेव के द्वादश पूर्व-भवों का उल्लेख है। सप्तम सर्ग में कुलकरोत्पत्ति और प्रभु के जन्मोत्सव का वर्णन है। अष्टम सर्ग में ऋषभदेव की बाल-लीलाओं तथा सुमङ्गला एवं सुनन्दा से पाणिग्रहण का वर्णन है। नवम सर्ग में भरत, ब्राह्मी, बाहुबली एवं सुन्दरी के जन्म का वर्णन किया गया है। दशम सर्ग में ऋषभदेव के राज्याभिषेक, विनीता नगरी की स्थापना और राज्य-व्यवस्था का वर्णन है। एकादश सर्ग में भगवान के षड्ऋतु विलास का विस्तृत वर्णन किया गया है। द्वादश सर्ग में ऋषभदेव की वसन्तोत्सव क्रीडा का वर्णन है तथा लोकान्तिक देवों की प्रार्थना पर उनके विरक्त होने का उल्लेख किया गया है। सम्राट् ऋषभ के द्वारा भरत का राज्याभिषेक किया गया और स्वयं ऋषभदेव का सांवत्सरिक दान देकर दीक्षा ग्रहण करने का, एवं दीक्षित होते ही मनःपर्यवज्ञान उत्पन्न होने का वर्णन है।

इसके पश्चात् त्रयोदश सर्ग में नमि-विनमि की ऋषभदेव में अटूट श्रद्धा-भक्ति देखकर इन्द्र का उन्हें विद्याधरैश्वर्य पद प्रदान करना, श्रेयांस का इक्षुरस द्वारा पारणा कराना तथा ऋषभदेव को केवलज्ञान होना आदि घटनाओं का वर्णन है। चतुर्दश सर्ग में प्रभु का समवसरण, मरुदेवी का आगमन और उसकी निर्वाणोपलब्धि, समवसरण में ऋषभदेव की देशना तथा संघ-स्थापना का विवरण दिया गया है। पञ्चदश सर्ग में भरत की दिग्विजय का वर्णन है। षोडश सर्ग में भरत का चक्रित्वाभिषेक, सुन्दरी का अष्टापद पर ऋषभदेव से दीक्षा ग्रहण करना और भरत व बाहुबली के अतिरिक्त अट्ठाणबे भाइयों के दीक्षा ग्रहण का वर्णन किया गया है। सप्त-दश सर्ग में भरत-बाहुबली के युद्ध का वर्णन है। भरत की पराजय, बाहुबली की दीक्षा एवं केवलज्ञान का निरूपण किया गया है। अष्टादश सर्ग में मरीचि के अन्तिम तीर्थंकर बनने की भविष्यवाणी, ऋषभदेव का अष्टापद पर निर्वाण, भरत के केवलज्ञानोपलब्धि तथा निर्वाण का वर्णन है। एकोनविंश

सर्ग में आचार्य ने अपनी गुरु-परम्परा तथा प्रस्तुत काव्य की रचना के प्रेरक पद्ममन्त्री की वंशावली का विवरण दिया है। कथानक की परि-समाप्ति तो अष्टादश सर्ग के साथ ही हो जाती है।

भक्तामर स्तोत्र

प्रस्तुत स्तोत्र के रचयिता आचार्य मानतुङ्ग हैं। ये वाराणसी के तेजस्वी शासक हर्षदेव के समकालीन थे। इनके पिता का नाम धनदेव और माता का नाम धनश्री था। मानतुङ्ग बाल्यकाल से ही महान प्रतिभा के धनी थे। अत: दीक्षा लेने पर आचार्य ने इन्हें योग्य समझकर अनेक चामत्कारिक विद्याएँ सिखलायीं।

एक दिन राजा हर्षदेव ने बाण और मयूर ब्राह्मणों की विद्याओं का चमत्कार देखा। बाण के कटे हुए हाथ-पैर जुड़ गये और मयूर का कुष्ठरोग नष्ट हो गया। हर्षदेव अत्यधिक प्रभावित हुए और उन्होंने सभा में उद्-घोषणा की कि 'आज विश्व में चामत्कारिक विद्याओं का एकमात्र धनी ब्राह्मण समुदाय ही है।'

राजा का मंत्री जैन धर्मानुयायी था। उसने निवेदन किया कि इस वसुन्धरा पर अनेक नररत्न हैं। जैनियों के पास भी चामत्कारिक विद्याओं की कमी नहीं है। यहाँ पर सम्प्रति आचार्य मानतुङ्ग हैं जो बड़े ही चामत्का-रिक हैं। राजा ने शीघ्र ही अपने अनुचरों को भेजकर मानतुंग को बुलवाया। आते ही राजा ने उनको चवालीस लोहे की जंजीरों से बाँधकर एक भवन में बन्द कर दिया।

आचार्य मानतुङ्ग चमत्कार प्रदर्शन करना नहीं चाहते थे। जैनधर्म की दृष्टि से चामत्कारिक प्रयोग करना मुनि के लिए निषिद्ध है। वे भगवान ऋषभदेव की स्तुति में लीन हो गये। भक्तिरस से छलछलाते हुए चवा-लीस श्लोक बनाये और प्रति श्लोक के साथ ही जंजीरें एक-एक कर टूट पड़ीं। स्तोत्र भक्तामर के नाम से प्रसिद्ध है। बाद में चार श्लोक और बना दिये गये जिससे वर्तमान में इस स्तोत्र में अड़तालीस श्लोक हैं। स्तोत्र का छन्द वसन्ततिलका है जो संस्कृत साहित्य में बहुत ही मधुर और श्रेष्ठ छन्द माना जाता है। आचार्य मानतुङ्ग के प्रस्तुत प्रयोग से राजा हर्षदेव अत्यधिक प्रभावित और प्रसन्न हुआ और उनके पावन उपदेश को श्रवण कर वह जैन धर्मावलंबी बन गया।

सम्पूर्ण जैन समाज में इस स्तोत्र का सर्वाधिक प्रचलन है। स्तोत्र

की प्रारम्भिक शब्दावली के कारण प्रस्तुत स्तोत्र भक्तामर के नाम से विश्रुत है। इस स्तोत्र का अपरनाम 'ऋषभदेव स्तोत्र' और 'आदिनाथ स्तोत्र' भी है। भक्ति की भागीरथी इस स्तोत्र के प्रत्येक पद्य में प्रवाहित है। सहस्रों व्यक्तियों को यह स्तोत्र कंठस्थ है और प्रतिदिन श्रद्धा से विभोर होकर पाठ भी करते हैं।

भक्तामर स्तोत्र की अत्यधिक लोकप्रियता होने से अनेक भक्त कवियों ने इस पर समस्या पूर्ति भी की है, और वृत्तियाँ भी लिखी हैं।

भावप्रभसूरि, जिनका समय संवत् १७११ है, उन्होंने 'भक्तामर समस्यापूर्ति' स्तोत्र की रचना की। मेघविजय उपाध्याय ने 'भक्तामर टीका' का निर्माण किया। श्री गुणाकर जिनका समय संवत् १४२६ है, उन्होंने 'भक्तामरस्तोत्रवृत्ति' लिखी। स्थानकवासी आचार्य मुनि श्री घासीलालजी महाराज ने 'भक्तामर स्तोत्र' के आदि शब्द के अनुसार ही 'वर्धमान भक्तामर स्तोत्र' की रचना की।

इनके अतिरिक्त भी अन्य अनेक ग्रन्थ भक्तामर एवं उसकी समस्या-पूर्ति के नाम पर प्राप्त होते हैं।

भक्तामर स्तोत्र के अतिरिक्त ऋषभदेव भगवान की स्तुति के और भी स्तोत्र उपलब्ध होते हैं, जिनमें निम्न स्तोत्र विशेषतया ज्ञातव्य हैं—

(१) ऋषभजिन स्तुति—रचयिता श्री जिनवल्लभसूरि, १२वीं शती।

(२) ऋषभजिन स्तवन—श्री जिनप्रभसूरि
यह पद्यमय १९ छन्दों का स्तवन है।

(३) भरतेश्वर अभ्युदय—पं० आशाधरजी

(४) आदिदेवस्तव

(५) नाभिस्तव

(६) युगादिदेव द्वात्रिंशिका

इन तीनों के कर्त्ता आचार्य हेमचन्द्र के शिष्य रामचन्द्र सूरि हैं।[१]

सत्रहवीं शताब्दी के प्रतिभासम्पन्न कवि उपाध्याय यशोविजयजी

---

१. जैन स्तोत्र समुच्चय, मुनि चतुरविजय द्वारा सम्पादित, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, वि० सं० १९८४ में मुद्रित, पृ० २६।

ने भी 'श्री आदिजिनस्तोत्रम्' की रचना की है। यह स्तोत्र केवल छह श्लोकों में निबद्ध है।[१]

आधुनिक साहित्य में ऋषभदेव

आधुनिक चिन्तकों ने भी भगवान ऋषभदेव पर शोधप्रधान तुलनात्मक दृष्टि से लिखा है। कितने ही ग्रन्थ अति महत्त्वपूर्ण हैं। संक्षेप में आधुनिक साहित्य का परिचय इस प्रकार है—

(१) चार तीर्थङ्कर[२]

इसके लेखक प्रज्ञामूर्ति पं० सुखलाल जी हैं। उन्होंने संक्षेप में सार पूर्ण भगवान ऋषभदेव के तेजस्वी व्यक्तित्व और कृतित्व पर प्रकाश डाला है।

(२) भरत-मुक्ति[३]

इसके लेखक आचार्य तुलसी हैं। ग्रन्थ की सविस्तृत प्रस्तावना में मुनि महेन्द्रकुमार जी 'प्रथम' ने विस्तार से ऋषभदेव के जीवन से सम्बन्धित विविध पहलुओं को प्रमाण पुरस्सर निखारने का प्रयास किया है। यह प्रस्तावना अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। यही प्रस्तावना 'तीर्थंकर ऋषभ और चक्रवर्ती भरत' के नाम से पृथक पुस्तक के रूप में भी प्रकाशित हुई है।

(३) जैनधर्म का मौलिक इतिहास[४]

इसके लेखक आचार्य हस्तिमलजी महाराज हैं। ग्रन्थ में ऋषभदेव के जीवन पर प्राक्-ऐतिहासिक दृष्टि से प्रकाश डाला गया है।

---

१ स्तोत्रावली, सम्पादक—यशोविजयजी, प्रकाशक—यशोभारती जैन प्रकाशन समिति, बम्बई, सन् १९७५।

२ पं० श्री सुखलालजी संघवी, श्री जैन संस्कृति संशोधन मंडल, बनारस-५, सन् १९५३।

३ आचार्य तुलसी, चक्रवर्ती भरत के जीवन पर आधारित प्रबन्ध काव्य, रामलाल पुरी, संचालक—आत्माराम एण्ड सन्स, काश्मीरी गेट, दिल्ली ६, सन् १९६४।

४ आचार्य हस्तिमलजी महाराज, जैन इतिहास प्रकाशन समिति, लाल भवन, चौड़ा रास्ता, जयपुर (राजस्थान)।

(४) जैन साहित्य का इतिहास[1]

इसके लेखक पंडित कैलाशचन्द्र शास्त्री हैं। उन्होंने संक्षेप में ऋषभदेव की प्रागैतिहासिकता को सिद्ध करने का प्रयास किया है।

(५) भारत का आदि सम्राट्[2]

इसके लेखक स्वामी कर्मानन्दजी हैं, जिन्होंने अनेक प्रमाणों से भरत के साथ ऋषभदेव की प्रागैतिहासिकता को वैदिक प्रमाणों के साथ सिद्ध करने का प्रयास किया है।

(६) प्रागैतिहासिक जैन-परम्परा[3]

इसके लेखक डॉ० धर्मचन्द्र जैन हैं, जिन्होंने विविध ग्रन्थों के प्रमाण देकर जैन-परम्परा को उजागर किया है। साथ ही ऋषभदेव का प्रागैतिहासिक मूल्यांकन प्रस्तुत किया है।

(७) भरत और भारत[4]

इसके लेखक डा० प्रेमसागर जैन हैं। इन्होंने बहुत ही संक्षेप में प्रमाण पुरस्सर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि सम्राट भरत से ही भारत का नामकरण हुआ है।

ऋषभदेव के सम्बन्ध में भावुक भक्त कवियों ने राजस्थानी, गुजराती व अन्य प्रान्तीय भाषाओं में अनेक चरित्र तथा स्तुतियाँ, भजन, पद व सज्झाय निर्माण किये हैं।

आचार्य अमोलकऋषिजी महाराज ने श्री ऋषभदेव का चरित्र लिखा है। भाषा में राजस्थानी का पुट है। इनके अतिरिक्त भी अन्य अनेक चरित्र उपलब्ध होते हैं। उपाध्याय यशोविजयजी, मोहनविजयजी, आनन्दघनजी, देवचन्द्रजी, विनयचन्द्रजी प्रभृति शताधिक कवियों की रचनाएँ प्राप्त होती हैं, जिनमें ऋषभदेव के प्रति भक्ति-भावना प्रदर्शित

---

१ पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, श्री गणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला, भदैनी, वाराणसी वी० निर्वाण संवत् २४८९।

२ स्वामी कर्मानन्दजी, दिगम्बर जैन समाज, मुलतान (वर्तमान में देहली) वी० सं० २४७९, वि० सं० २००६।

३ डॉ० धरमचन्द जैन, रांका चेरिटेबिल ट्रस्ट, बम्बई-१, भारत जैन महामण्डल, वीर संवत् २५००।

४ डॉ० प्रेमसागर जैन, दिगम्बर जैन कालिज प्रबन्ध समिति, बड़ौत (मेरठ) वीर नि० सं० २४९६।

की गई है। जैन कवियों ने ही नहीं, अपितु वैदिक परम्परा में भी सूरदास, बारहठ, रामानन्द, रज्जब, बैजू, लखनदास, नाभादास प्रभृति कवियों ने ऋषभदेव के ऊपर पद्यों का निर्माण किया है।

सारांश यह है कि भगवान ऋषभदेव पर संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, राजस्थानी, गुजराती व अन्य प्रान्तीय भाषाओं में एवं जैन परम्परा के ग्रन्थों में जिस प्रचुर साहित्य का सृजन हुआ है, वह भगवान ऋषभ के सार्वभौम व्यक्तित्व को प्रकट करता है। साधन, सामग्री के अभाव में संक्षेप में हमने उपर्युक्त पंक्तियों में जो परिचय दिया है, उससे सहज ही परिज्ञात हो सकता है कि ऋषभदेव जैन परम्परा में कितने समादृत हुए हैं।

वैदिक साहित्य में ऋषभदेव

(१) वेदों में

(२) भगवान ऋषभदेव के विविध रूप

- ☐ ऋषभदेव और अग्नि
- ☐ ऋषभदेव और परमेश्वर
- ☐ ऋषभदेव और उनके तीन रूप
- ☐ ऋषभदेव और रुद्र
- ☐ ऋषभदेव और शिव
- ☐ ऋषभदेव और हिरण्यगर्भ
- ☐ ऋषभदेव और ब्रह्मा
- ☐ ऋषभदेव और विष्णु
- ☐ ऋषभदेव और गायत्री मंत्र
- ☐ ऋषभदेव और ऋषि पंचमी
- ☐ वातरशना श्रमण
- ☐ केशी

(३) भागवत में ऋषभावतार का चित्रण

- ☐ पुत्र याचना
- ☐ पुत्र के लिए यज्ञ
- ☐ राज्याभिषेक
- ☐ पुत्रों को उपदेश
- ☐ पूर्ण त्यागी
- ☐ अजगर वृत्ति
- ☐ अद्‌भुत अवधूत
- ☐ महाराजा भरत
- ☐ भरत की साधना
- ☐ भरत की आसक्ति
- ☐ आसक्ति से भरत का मृग बनना
- ☐ राजर्षि भरत की महत्ता

(४) स्मृति और पुराणों में

वैदिक साहित्य में ऋषभदेव

ऋषभदेव का महत्त्व केवल श्रमण-परम्परा में ही नहीं, अपितु ब्राह्मण-परम्परा में भी रहा है। परन्तु अधिकांशत: जैन यही समझते हैं, कि ऋषभदेव मात्र जैनों के ही उपास्यदेव हैं, तथा अनेकों जैनेतर विद्वद्-वर्ग भी ऋषभदेव को जैन उपासना तक ही सीमित मानते हैं। जैन व जैनेतर दोनों वर्गों की यह भूल-भरी धारणा है। क्योंकि अनेकों वैदिक प्रमाण भगवान ऋषभदेव को आराध्यदेव के रूप में प्रस्तुत करने के लिये विद्यमान हैं। ऋग्वेदादि में उनको आदि आराध्य-देव मानकर विस्तृत रूप से वर्णन किया है। यद्यपि कुछ साम्प्रदायिक अभिनिवेश के कारण इन मंत्रों के भाष्यकारों ने एक निराला अर्थ कर दिया, किन्तु इससे वास्तविकता को नहीं मिटाया जा सकता। यदि ऋषभ, श्रमण-परम्परा के ही आराध्य-देव होते तो वैदिक संस्कृति में उससे मिलते-जुलते स्वर उपलब्ध नहीं हो सकते थे। यही कारण है, कि डॉ० राधाकृष्णन, डॉ० जिम्मर, प्रो० विरूपाक्ष वॉडियर प्रभृति विद्वान् वेदों में जैन तीर्थङ्करों का उल्लेख होना स्वीकार करते हैं।

वेदों में ऋषभदेव

ऋग्वेद में

ऋग्वेद विश्व का प्राचीनतम ग्रन्थ रत्न है। उसकी एक ऋचा में आदि तीर्थङ्कर ऋषभदेव की स्तुति की गई है।[1] वैदिक ऋषि भक्ति-भावना से विभोर होकर उस महाप्रभु की स्तुति करते हुए कहता है—'हे आत्मदृष्टा प्रभो! परमसुख प्राप्त करने के लिये मैं तेरी शरण में आना चाहता हूँ। क्योंकि तेरा उपदेश और तेरी वाणी शक्तिशाली है, उनको मैं अवधारण करता हूँ। हे प्रभो! सभी मनुष्यों और देवों में तुम्हीं पहले पूर्वयाया (पूर्वगत ज्ञान के प्रतिपादक) हो।[2]

---

१ ऋषभं मा समानानां सपत्नानां विषासहिम्।
हंतारं शत्रूणां कृधि विराजं गोपतिं गवाम्॥ —ऋग्वेद १०।१६६।१

२ मखस्य ते तीवषस्य प्रजूतिमियर्मि वाचमृताय भूषन्।
इन्द्र क्षितीमामास मानुषीणां विशां दैवी नामुत पूर्वयाया॥ —ऋग्वेद २।३४।२

ऋग्वेद में ऋषभ को पूर्वज्ञान का प्रतिपादक और दुःखों का नाशक कहा है। वहाँ बताया है कि जैसे जल से भरा मेघ वर्षा का मुख्य स्रोत है, वह पृथ्वी की प्यास बुझा देता है, उसी प्रकार पूर्वी अर्थात् ज्ञान के प्रतिपादक वृषभ (ऋषभ) महान् हैं, उनका शासन वर दे। उनके शासन में ऋषि-परम्परा से प्राप्त पूर्व का ज्ञान आत्मिक शत्रु क्रोधादि का विध्वंसक हो। दोनों प्रकार की आत्माएँ (संसारी और सिद्ध) स्वात्मगुणों से ही चमकती हैं। अतः वे राजा हैं, वे पूर्ण ज्ञान के भण्डार हैं और आत्म-पतन नहीं होने देते।[१] वर्षा की उपमा भगवान ऋषभदेव के देशना रूपी जल की ही सूचक है। पूर्वगत ज्ञान का उल्लेख भी जैन-परम्परा में मिलता है, अतः ऋग्वेद के पूर्वज्ञाता ऋषभ, तीर्थङ्कर ऋषभ ही माने जा सकते हैं।

'आत्मा ही परमात्मा है'[२] यह जैनदर्शन का मूलभूत सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त को ऋग्वेद के शब्दों में श्री ऋषभदेव ने इस रूप में प्रतिपादित किया—"जिसके चार शृंग—अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य हैं। तीन पाद हैं—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। दो शीर्ष हैं—केवलज्ञान और मुक्ति तथा जो मन-वचन-काय, इन तीनों योगों से बद्ध अर्थात् संयत वृषभ हैं उन्होंने घोषणा की, कि महादेव (परमात्मा) मर्त्यों में निवास करता है।[3] अर्थात् प्रत्येक आत्मा में परमात्मा का निवास है। उन्होंने स्वयं कठोर तपश्चरण रूप साधना कर वह आदर्श जन-जन के समक्ष प्रस्तुत किया। एतदर्थ ही ऋग्वेद के मेधावी महर्षि ने लिखा है कि "ऋषभ स्वयं आदिपुरुष थे, जिन्होंने सर्वप्रथम मर्त्यदशा में अमरत्व की उपलब्धि की थी।[४]

---

१ असूतपूर्वा वृषभो ज्यायनिमा अस्य शुरुधः सन्ति पूर्वीः।
दिवो न पाता विदथस्यधीभिः क्षत्रं राजाना प्रदिवोदधाथे॥ —ऋग्वेद ५२।३८

२ (क) अप्पा सो परमप्पा
(ख) सदामुक्त······कारणपरमात्मान जानाति।
—नियमसार, तात्पर्यवृत्ति, गा० ९६

३ चत्वारि शृङ्गार त्रयो अस्य पादा, द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीती महादेवो मर्त्यानाविवेश॥
—ऋग्वेद ४।५८।३

४ तन्मर्त्यस्य देवत्व सजातमग्रः। —ऋग्वेद ३१।१७

ऋषभदेव, विशुद्ध प्रेम-पुजारी के रूप में विख्यात थे। सभी प्राणियों के प्रति मैत्री-भावना का उन्होंने संदेश दिया। इसलिये मुद्गल ऋषि पर ऋषभदेव की वाणी का विलक्षण प्रभाव पड़ा—'मुद्गल ऋषि के सारथी (विद्वान् नेता) केशी वृषभ जो अरिदमन के लिये नियुक्त थे, उनकी वाणी निकली, जिसके परिणामस्वरूप मुद्गल ऋषि की गायें जो दुर्धर रथ से योजित हुई दौड़ रही थीं, वे निश्चल होकर मौद्गलानी की ओर लौट पड़ीं।[1]

ऋग्वेद की प्रस्तुत ऋचा में 'अरिदमन' कर्म रूप शत्रुओं को सूचित करता है। गायें इन्द्रियाँ हैं, और दुर्धर रथ 'शरीर' के अलावा और कौन हो सकता है? भगवान ऋषभदेव की अमृतवाणी से अस्थिर इन्द्रियाँ, स्थिर होकर मुद्गल की स्वात्मवृत्ति की ओर लौट आयीं। इसीलिये उन्हें स्तुत्य बताया गया है—'मधुरभाषी, बृहस्पति, स्तुति योग्य ऋषभ को पूजा-साधक मन्त्रों द्वारा वर्धित करो, वे अपने स्तोता को नहीं छोड़ते'[2] और भी एक जगह कहा है—'तेजस्वी ऋषभ के लिये स्तुति प्रेरित करो।'[3] ऋग्वेद के रुद्रसूक्त में एक ऋचा है, उसमें कहा है—'हे वृषभ! ऐसी कृपा करो कि हम कभी नष्ट न हों।'[4]

इस प्रकार ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर उनकी स्तुति महादेव के रूप में, सर्वप्रथम अमरत्व पाने वाले के रूप में, आदर्श प्रेम-पुजारी के रूप में और अहिंसक आत्म-साधकों के रूप में की गयी है।

यजुर्वेद में

यजुर्वेद में स्तुति करते हुए कहा गया है—'मैंने उस महापुरुष को जाना है जो सूर्यवत् तेजस्वी तथा अज्ञानादि अन्धकार से बहुत दूर हैं। उसी का परिज्ञान कर मृत्यु से पार हुआ जा सकता है। मुक्ति के लिये

---

१ ककर्दवे वृषभो युक्त आसीद्
  अवावचीत् सारथिरस्य केशी।
  दुधेर्युक्तस्य द्रवतः सहानसः
  ऋच्छन्तिष्मा निष्पदो मुद्गलानीम्॥ —ऋग्वेद १०।१०।२।६

२ अनर्वाणं ऋषभं मन्द्रजिह्वं, बृहस्पतिं वर्धया नव्यमर्कैः —ऋग्वेद १।१९०।१

३ प्राग्नये वाचमीरय —वही, १०।१८७

४ एव बभ्रो वृषभ चेकितान यथा देव न हृणीषे न हंसी।
  —वही, रुद्रसूक्त, २।३३।१५

इसके सिवाय अन्य कोई मार्ग नहीं।'[१] ऐसी ही स्तुति भगवान ऋषभदेव की मानतुङ्गाचार्य द्वारा की गई है।[२] शब्द साम्यता की दृष्टि से भी दोनों में विशेष अन्तर दृष्टिगत नहीं होता। अत: ये दोनों स्तुतियाँ किसी एक ही व्यक्ति को लक्षित करके होनी चाहिये। और वे भगवान ऋषभदेव ही हो सकते हैं।

अथर्ववेद में

अथर्ववेद का ऋषि मानवों को ऋषभदेव का आह्वान करने के लिये यह प्रेरणा करता है, कि—'पापों से मुक्त पूजनीय देवताओं में सर्वप्रथम तथा भवसागर के पोत को मैं हृदय से आह्वान करता हूँ। हे सहचर बन्धुओ! तुम आत्मीय श्रद्धा द्वारा उसके आत्मबल और तेज को धारण करो।[3] क्योंकि वे प्रेम के राजा हैं, उन्होंने उस संघ की स्थापना की है, जिसमें पशु भी मानव के समान माने जाते थे, और उनको कोई भी नहीं मार सकता था।'[४]

इस प्रकार वेदों में भगवान ऋषभदेव का उत्कीर्तन किया गया है। साथ ही वैदिक ऋषि विविध प्रतीकों के रूप में भी ऋषभदेव की स्तुति करते हैं।

भगवान ऋषभ के विविध रूप

ऋषभदेव और अग्नि

ऋग्वेद आदि मे अग्निदेव की स्तुति की गई है। उस अग्निदेव की स्तुति में प्रयुक्त विशेषणों से ऐसा प्रतिबोध होता है कि वह स्तुति अग्निदेव के रूप में भगवान ऋषभदेव की ही की गई है जैसे—जातवेदस् शब्द जो अग्नि

---

१ वेदाहमेतं पुरुष महान्तमादित्यवर्णं तमसः पुरस्तात्।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति, नान्य पन्था विद्यतेऽयनाय॥

२ देखिये—भक्तामर स्तोत्र, श्लोक २३।

३ अहोमुच वृषभं यज्ञियानां,
विराजन्तं प्रथममध्वराणाम्।
अपां न पातमश्विना हुं वे धिय,
इन्द्रियेण इन्द्रियं दत्तमोजः॥ —अथर्ववेद, कारिका १९।४२।४

४ 'नास्य पशून समानान् हिनास्ति' —वही

के लिये प्रयुक्त किया है, वह जन्म से ज्ञान सम्पन्न ज्योतिस्वरूप भगवान ऋषभदेव के लिये ही है। 'रत्नधरक्त' अर्थात् ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप रत्नत्रय को धारण करने वाला, 'विश्ववेदस्' विश्व तत्त्व के ज्ञाता, मोक्ष नेता, 'ऋत्विज' धर्म के संस्थापक आदि से ज्ञात होता है, कि वह अग्नि भौतिक अग्नि न होकर आदि प्रजापति ऋषभदेव हैं। इस कथन की पुष्टि अथर्ववेद के एक सूक्त से होती है जिसमें ऋषभदेव भगवान की स्तुति करते हुए उन्हें 'जातवेदस्' बताया है। वहाँ कहा है—'रक्षा करने वाला, सबको अपने भीतर रखने वाला, स्थिरस्वभावी, अन्नवान् ऋषभ संसार के उदर का परिपोषण करता है। उस दाता ऋषभ को परम ऐश्वर्य के लिये विद्वानों के जाने योग्य मार्गों से बड़े ज्ञान वाला अग्नि के समान तेजस्वी पुरुष प्राप्त करे।'[1]

अग्निदेव के रूप में ऋषभ की स्तुति का एकमात्र हेतु यही दृष्टिगत होता है कि जब भगवान ऋषभदेव स्थूल और सूक्ष्म शरीर से परिनिवृत्त होकर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हुए उस समय उनके परम प्रशान्त रूप को आत्मसात् करने वाली अन्त्येष्टि अग्नि ही तत्कालीन जन-मानस के लिये संस्मृति का विषय रह गई। जनता अग्नि-दर्शन से ही अपने आराध्यदेव का स्मरण करने लगी। इसीलिये वेदों में स्थान-स्थान पर 'देवा अग्निम् धारयन् द्रविणोदाम्' शब्द द्वारा अग्निदेव की स्तुति की गई है।[2] इसका अर्थ है—अपने को देव संज्ञा से अभिहित करने वाले आर्यजनों ने धन-ऐश्वर्य प्रदान करने वाले अग्नि (प्रजापति ऋषभ) को अपना आराध्यदेव धारण कर लिया।

इससे यह स्पष्ट होता है कि भगवान ऋषभदेव के निर्वाण समय से ही अग्नि के द्वारा पूजा-विधि की परम्परा शुरू हो गई थी।

ऋषभदेव और परमेश्वर

अथर्ववेद के नवम काण्ड में ऋषभदेव शब्द से परमेश्वर का ही अभिप्राय ग्रहण किया है और उनकी स्तुति परमेश्वर के रूप में अत्यन्त भक्ति के साथ की गई है—'इस परमेश्वर का प्रकाशयुक्त सामर्थ्य सर्व

---

१ पुमानन्तर्वान्त्स्थविरः पयस्वान् वसोः कबन्धमृषभो बिभर्ति।
तमिन्द्राय पथिभिर्देवयानैर्हुतमग्निर्वहतु जातवेदाः ॥ —अथर्ववेद ९।४।३

२ पूर्वया निविदा काव्यतासोः यमा प्रजा अजन्यन् मनुनाम्।
विवस्वता चक्षुषा द्याम पञ्च, देवा अग्निम् धारयन् द्रविणोदाम् ॥

उपायों को धारण करता है, वह सहस्रों पराक्रमयुक्त पोषक है, उसको ही यज्ञ कहते हैं। हे विद्वान् लोगो ! ऐश्वर्य रूप का धारक, हृदय में अवस्थित मंगलकारी वह ऋषभ (सर्वदर्शक परमेश्वर) हमको अच्छी तरह से प्राप्त हो।[1] जो ब्राह्मण, ऋषभ को अच्छी तरह प्रसन्न करता है, वह शीघ्र सैकड़ों प्रकार के तापों से मुक्त हो जाता है, उसको सब दिव्य गुण तृप्त करते हैं।[2]

इस प्रकार सारे नवमकाण्ड के चतुर्थ सूक्त में भगवान ऋषभ की परमेश्वर के रूप में स्तुति है।

ऋषभदेव और उनके तीन रूप

ऋग्वेद के निम्नांकित दो मंत्रों में भगवान ऋषभदेव का जीवन-वृत्त उसी प्रकार उल्लिखित है, जैसा कि जैन-परम्परा विधान करती है। उन मंत्रों में कहा है कि—'अग्नि प्रजापति प्रथम देवलोक में प्रकट हुए, द्वितीय बार हमारे मध्य जन्म से ही ज्ञान-सम्पन्न होकर प्रकट हुए, तृतीय रूप, इनका वह स्वाधीन एवं आत्मवान् रूप है, जब इन्होंने भव-समुद्र में रहते हुए निर्मल वृत्ति से समस्त कर्मेन्धनों को जला दिया।[3] तथा 'हे अग्रनेता ! हम तेरे इन तीन रूपों को जानते हैं, इनके अतिरिक्त तेरे पूर्व में धारण किये हुए रूपों को भी हम जानते हैं, तथा तेरा जो निगूढ़ परमधाम है, वह भी हमें ज्ञात है, और जिससे तू हमें प्राप्त होता है उस उच्च मार्ग से भी हम अनभिज्ञ नहीं हैं।'[4]

ऋषभदेव और रुद्र

केशी को समस्त ज्ञातव्य विषय के ज्ञाता, सबके सखा, सभी के प्रिय-

---

१ आज्यं बिभर्ति घृतमस्य रेतः साहस्रः पोषस्तमु यज्ञमाहुः।
इन्द्रस्य रूपमृषभो वसानः सो अस्मान् देवाः शिव ऐतु दत्तः॥
—अथर्ववेद ९।४।७

२ शतयाज स यजते, नैन दुन्वन्त्यग्नयः जिन्वन्ति विश्वे
त देवा यो ब्राह्मण ऋषभमाजुहोति॥ —अथर्ववेद ९।४।१८

३ दिवस्परि प्रथमं जज्ञे अग्निरस्मद् द्वितीयं परि जातवेदाः।
तृतीयमप्सु नृमणा अजस्रमिन्धान एनं जरते स्वाधीः॥
—ऋग्वेद १०।४५।१

४ विद्मा ते अग्ने त्रेधा त्रयाणि विद्मा ते धाम विभृता पुरुत्रा।
विद्मा ते नाम परमं गुहा यद्विद्मा तमुत्सं यत आजगंथ॥ —ऋग्वेद १०।४५।२

कारी और सर्वोत्कृष्ट आनन्दकारी माना है। ऋग्वेद के दशम मण्डल के सूत्र में प्रकाशमय, सूर्यमण्डल तथा ज्ञानमयी जटाधारी को केशी कहा गया है;[1] केशी सूत्र की अन्तिम ऋचा में वर्णित केशी द्वारा रुद्र के साथ जल पीने की घटना का वर्णन है। केशी, वातरशना मुनियों के अधिनायक थे। रुद्र ने उनके साथ जलपान किया, अत: उनके रुद्र स्वभाव में शीतलता, दया व जीवरक्षण की प्रवृत्तियाँ सहज ही उद्भूत हो गईं। अतः वैवस्वत मनु ने रुद्र को तीक्ष्ण शस्त्र को धारण करने वाले उग्र स्वभावी कहा है; साथ ही पवित्र शीतल स्वभावी और व्याधियों के उपशामक भेषज भी कहा है। एक पात्र में जलपान करने से उनकी वृत्ति में शीतलता आ गई अतः उन्हें जल के रूप में शीतलता बरसाने वाला 'वृष' अथवा 'वृषभ' कहा गया। वेदों में अनेक स्थलों पर वृषभ का अर्थ 'वर्षा करने वाला' इस रूप में ग्रहण किया है। रुद्र की इस द्विरूपता का वर्णन पुराणों में मिलता है। कल्प की आदि में ब्रह्मा के पुत्र कुमार नीललोहित सात बार रोये थे, रोने के कारण उनका रुद्र नाम हुआ, साथ ही सात बार रोने से उनके सात नाम पड़े—रुद्र, शर्व, पशुपति, उग्र, अशनि, भव, महादेव और ईशानकुमार। ये नौ नाम शतपथ ब्राह्मण में अग्नि के विशेषण रूप में उल्लिखित हैं।[2] और भगवान वृषभदेव को ही अग्नि के रूप में पूजा प्राप्त है, यह पहले स्पष्ट किया जा चुका है, अतः रुद्र, महादेव, पशुपति आदि नाम ऋषभदेव के ही नामान्तर हैं।

इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में रुद्र की जो स्तुति की गई है, वहाँ रुद्र के स्थान पर 'वृषभ'[3] का उल्लेख पाँच बार आया है, वहाँ रुद्र को 'आर्हत्' शब्द से सम्बोधित किया है। यह आर्हत् उपाधि भगवान ऋषभदेव की ही हो सकती है, क्योंकि उनका चलाया हुआ धर्म 'आर्हत धर्म' के नाम से विश्वविश्रुत है।

'शतरुद्रिय स्तोत्र' में रुद्र की स्तुति के छियासठ मंत्र हैं जहाँ रुद्र को

---

१ केश्याग्निं विषं केशी बिभर्ति रोदसी।
केशी विश्वं स्वर्दृशे केशीदं ज्योतिरुच्यते॥ —ऋग्वेद १०।१३६

२ तान्येतानि अष्टौ रुद्रः शर्वः पशुपति उग्रः अशनिः भवः।
महान् देवः ईशानः अग्निरूपाणि कुमारो नवम्॥
—शतपथ ब्राह्मण ६।१।३।१८

३ एव बभ्रो वृषभ चेकितान यथा देव न हृणीषे न हंसि। —ऋग्वेद २।३३।१५

'शिव, शिवतर तथा शंकर' कहा गया है।[१] श्वेताश्वतर उपनिषद् में रुद्र को 'ईश, महेश्वर, शिव और ईशान' कहा गया है। मैत्रायणी उपनिषद् में इन्हें 'शम्भु' कहा गया है। इसके अतिरिक्त पुराणों में वर्णित 'माहेश्वर, त्र्यंबक, हर, वृषभध्वज, भव, परमेश्वर, त्रिनेत्र, वृषांक, नटराज, जटी, कपर्दी, दिग्वस्त्र, यती, आत्मसंयमी, ब्रह्मचारी, ऊर्ध्वरेता आदि विशेषण पूर्णरूपेण ऋषभदेव तीर्थङ्कर के ऊपर भी लागू होते हैं। शिवपुराण में शिव का आदि तीर्थंकर वृषभदेव के रूप में अवतार लेने का उल्लेख है।[२] प्रभास पुराण में भी ऐसा ही उल्लेख प्राप्त होता है।[३]

ऋषभदेव और शिव

शिव और ऋषभ की एकता को सिद्ध करने वाले कुछ अन्य लोकमान्य साक्ष्य भी हैं—

वैदिक मान्यता में शिव की जन्म तिथि शिवरात्रि के रूप में प्रतिवर्ष माघ कृष्णा चतुर्दशी के दिन व्रत रखकर मनायी जाती है। जैन-परम्परा के अनुसार भगवान ऋषभदेव के शिवगति गमन की तिथि भी माघ कृष्णा चतुर्दशी ही है, जिस दिन ऋषभदेव को शिवत्व उत्पन्न हुआ था। उस दिन समस्त साधु-संघ ने दिन को उपवास रखा तथा रात्रि में जागरण करके शिवगति प्राप्त ऋषभदेव की आराधना की, इस रूप में यह तिथि 'शिवरात्रि' के नाम से प्रसिद्ध हुई।

वैदिक-परम्परा में शिव को कैलाशवासी कहा गया है। जैन-परम्परा में भी भगवान ऋषभ की शिव-साधना रूप तप और निर्वाण का क्षेत्र कैलाश पर्वत है।

शिव के जीवन का एक प्रसग है, कि उन्होंने तप में विघ्न उपस्थित करने वाले कामदेव को नष्ट कर शिवा से विवाह किया। शिव का यह

---

१ यजुर्वेद (तैत्तिरिय संहिता) १।८।६; वाजसनेयी ३।५७।६३

२ इत्थं प्रभाव ऋषभोऽवतारः शंकरस्य मे।
सतां गतिर्दीनबन्धुर्नवमः कथितवस्तव॥
ऋषभस्य चरित्रं हि परमं पावनं महत्।
स्वर्ग्ययशस्यमायुष्यं श्रोतव्यं च प्रयत्नतः॥ —शिवपुराण ४।४७-४८

३ कैलाशे विमले रम्ये वृषभोऽयं जिनेश्वरः।
चकार स्वावतारः च सर्वज्ञः सर्वगः शिवः॥ —प्रभासपुरा ४६

प्रसंग भगवान ऋषभ से पूर्णतः मेल खाता है, कि उन्होंने मोह को नष्ट कर शिवा देवी के रूप में 'शिव' सुन्दरी मुक्ति से विवाह किया।

उत्तरवैदिक मान्यता के अनुसार जब गंगा आकाश से अवतीर्ण हुई, तो चिरकालपर्यन्त वह शंकर की जटा में ही भ्रमण करती रही, पश्चात् वह भूतल पर आई। यह एक काल्पनिक तथ्य है, जिसका वास्तविक अभिप्राय यही है कि शिव अर्थात् भगवान ऋषभदेव की स्वसंवित्ति रूपी ज्ञान-गंगा असर्वज्ञ दशा तक उनके मस्तिष्क में ही प्रवाहित रही, तत्पश्चात् सर्वज्ञ होने के बाद वही धारा संसार का उद्धार करने के लिए वाणी द्वारा प्रवाहित हुई।

दिगम्बर जैन पुराणों में जैसे ऋषभदेव के वैराग्य का कारण नीलांजना नाम की अप्सरा थी उसी प्रकार वैदिक परम्परा में नारद मुनि के द्वारा शंकर-पार्वती के सम्मुख 'द्युत-प्रपञ्च' का वर्णन है और उससे प्रेरित होकर शिव की संसार से विरक्ति, परिग्रह-त्याग तथा आत्म-ध्यान में तल्लीनता का सविस्तृत उल्लेख किया है।

शिव के अनुयायी गण कहलाते हैं और उनके प्रमुख नायक शिव के पुत्र गणेश थे इसी प्रकार भगवान ऋषभदेव के तीर्थ में भी उनके अनुयायी मुनि गण कहलाते थे और जो गण के अधिनायक होते थे वे गणाधिप, गणेश या गणधर कहलाते थे। भगवान ऋषभदेव के प्रमुख गणधर भरतपुत्र वृषभसेन थे।

शिव को जैसे डमरू और नटराज की मुद्रा से गीत, वाद्य आदि कलाओं का प्रवर्तक माना जाता है उसी प्रकार भगवान ऋषभदेव ने अपने पुत्र भरत आदि को सम्पूर्ण कलाओं में पारगत बनाया।

वैदिक परम्परा मे शिव को 'माहेश्वर' कहा है। पाणिनी ने 'अ इ उ ण' आदि सूत्रों को महेश्वर से प्राप्त हुए बताया है और जैन-परम्परा ऋषभदेव को महेश्वर मानती है। उन्होंने सर्वप्रथम अपनी पुत्री 'ब्राह्मी' को 'ब्राह्मीलिपि' अर्थात् अक्षर विद्या का परिज्ञान कराया।

वैदिक परम्परा में शिव का वाहन 'ऋषभ' बतलाया है और जैन मान्यता के अनुसार भगवान ऋषभदेव का चिन्ह 'वृषभ' है।

वैदिक-परम्परा में शिव को त्रिशूलधारी बतलाया है। जहाँ भी शिव की मूर्तियाँ उपलब्ध होती हैं वहाँ उनका चिह्न स्वरूप त्रिशूल अंकित

किया जाता है। जैन-परम्परा के अनुसार वह त्रिशूल सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र रूप रत्नत्रय का प्रतीक है।

इस प्रकार शिव और ऋषभदेव के सम्बन्ध में तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर मात्र इन दोनों में समानता ही दृष्टिगोचर नहीं होती वरन् यह निष्कर्ष निकलता है कि यह ऐक्य, किसी एक ही व्यक्ति की ओर इंगित करता है, और वह व्यक्ति भगवान ऋषभदेव ही हैं, अन्य कोई नहीं।

ऋषभदेव और हिरण्यगर्भ

ऋग्वेद की एक ऋचा में भगवान ऋषभदेव को 'हिरण्यगर्भ' बताया है। वे प्राणीमात्र के स्वामी थे, उन्होंने आकाश सहित पृथ्वी को धारण किया, हम हवि के द्वारा किस देव की आराधना करें ?[१]

आचार्य सायण ने इस पर भाष्य करते हुए लिखा है—'हिरण्यगर्भ अर्थात् हिरण्यमय अण्डे का गर्भभूत। अथवा जिसके उदर में हिरण्यमय अण्डा गर्भ की तरह रहता है, वह हिरण्यगर्भ प्रपञ्च की उत्पत्ति से पूर्व, सृष्टि-रचना के इच्छुक परमात्मा से उत्पन्न हुआ।'[२] इस प्रकार सायण ने हिरण्य-गर्भ का अर्थ प्रजापति लिया है।

महाभारत में हिरण्यगर्भ को योग का वक्ता बताया है—'हिरण्यगर्भ योगमार्ग के प्रवर्तक हैं, उनसे और कोई पुरातन नहीं।'[3] ऋग्वेद भी 'हिरण्य-गर्भः समवर्तताग्रे' लिखकर हिरण्यगर्भ की प्राचीनता को सूचित करता है।

जैन-परम्परा के अनुसार भगवान ऋषभदेव पूर्वभव में सर्वार्थसिद्ध विमान में सर्वोत्कृष्ट ऋद्धि-सम्पन्न देव थे। वहाँ से च्यव कर जब मरुदेवी की कुक्षि में आये, तो कुबेर ने नाभिराय का भवन हिरण्य की वृष्टि से

---

१ हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम।

—ऋग्वेद १०।१२१।१

२ 'हिरण्यगर्भः हिरण्मयस्याण्डस्य गर्भभूतः प्रजापतिर्हिरण्यगर्भः। तथा च तैत्तिरीयकं—प्रजापतिर्वै हिरण्यगर्भः प्रजापतेरनुरूपाय। यद्वा हिरण्मयोऽण्डो गर्भवद्यस्योदरे वर्तते सोऽसौ सूत्रात्मा हिरण्यगर्भ उच्यते। अग्रे प्रपञ्चोत्पत्तेः प्राक् समवर्तत् मायाध्यक्षात् सिसृक्षोः परमात्मनः साक्षात् समजायत।....सर्वस्य जगतः परीश्वर आसीत्....।'

—तैत्तिरियारण्यक भाष्य—सायणाचार्य, ५।५।१।२

३ हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्य. पुरातनः। —महाभारत, शान्तिपर्व, ३४९

भरपूर कर दिया, अतः जन्म के पश्चात् भगवान 'हिरण्यगर्भ' के रूप में प्रसिद्ध हो गये।[1]

ऋषभदेव और ब्रह्मा

लोक में ब्रह्मा नाम से प्रसिद्ध जो देव है, वह भगवान ऋषभदेव को छोड़कर दूसरा नहीं है। ब्रह्मा के अन्य अनेक नामों में निम्नलिखित नाम अत्यन्त प्रसिद्ध हैं—

हिरण्यगर्भ, प्रजापति, लोकेश, नाभिज, चतुरानन, स्रष्टा, स्वयंभू।

इन सबकी यथार्थ संगति भगवान ऋषभदेव के साथ ही बैठती है, जैसे—

हिरण्यगर्भ—जब भगवान ऋषभदेव माता मरुदेवी के गर्भ में आये थे उसके छह माह पूर्व ही अयोध्या नगरी में हिरण्य-सुवर्ण तथा रत्नों की वृष्टि होने लगी थी, अतः आपका हिरण्यगर्भ नाम सार्थक है।

प्रजापति—कल्पवृक्षों के नष्ट हो जाने के बाद भगवान ने असि, मषि, कृषि आदि का उपदेश देकर प्रजा की रक्षा की, अतः भगवान 'प्रजापति' कहलाते थे।

लोकेश—अखिल विश्व के स्वामी होने से भगवान 'लोकेश' कहलाते थे।

नाभिज—नाभिराय के पुत्र होने से भगवान 'नाभिज' कहलाए।

चतुरानन—समवसरण में चारों दिशाओं में भगवान का दर्शन होता था, अतः भगवान 'चतुरानन' कहलाए।

स्रष्टा—भोगभूमि के नष्ट होने के बाद देश, नगर आदि का विभाग, राजा, प्रजा, गुरु, शिष्य आदि का व्यवहार, विवाह-प्रथा आदि के भगवान ऋषभदेव आद्य प्रवर्तक थे, अतः 'स्रष्टा' कहे जाते थे।

स्वयम्भू—दर्शन-विशुद्धि आदि भावनाओं से अपने आत्म-गुणों का विकास कर स्वयं ही आद्य तीर्थङ्कर हुए थे, अतः 'स्वयम्भू' कहलाते थे।

ऋषभदेव और विष्णु

वैदिक साहित्य में विष्णु देव का मुख्य स्थान है। भागवतपुराण में

---

१ (क) सैषा हिरण्मयी वृष्टिः धनेशेन निपातिता।
विभोर्हिरण्यगर्भत्वमिव बोधयितुं जगत्॥ —महापुराण १२।९५

(ख) गब्भट्ठिअस्स जस्स उ हिरण्णवुट्ठी सकंचणा पडिया।
तेणं हिरण्णगब्भो जयम्मि उवगिज्जए उसभो॥ —पद्मपुराण ३।६८

विष्णु का ही आठवाँ अवतार ऋषभ को माना है, अतः विष्णु और ऋषभ एक ही व्यक्ति सिद्ध होते हैं।

जैन अनुश्रुतियों में विष्णु के इसी लोकोत्तर परमोपकारी व्यक्तित्व की स्तुति की गई है, जहाँ विष्णु के सत्ताईस नामों का उल्लेख किया गया है[1] जिनकी व्याख्या इस प्रकार की गई है—

१. विष्णु—केवलज्ञान से व्यापक।

२. त्रिविक्रम--सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र रत्नत्रय रूप तीन शक्तियों से सम्पन्न अथवा तीन लोक में विशिष्ट क्रम सर्वोच्च स्थान को प्राप्त।

३. शौरि—शूरवीर।

४. श्रीपति—अभ्युदय-निश्रेयस्रूप श्री के अधिपति।

५. पुरुषोत्तम—त्रेसठ शलाका पुरुषों में उत्तम।

६. वैकुण्ठ—गूढ़ज्ञानशालिनी माँ के पुत्र।

७. पुण्डरीकाक्ष—आपकी अक्ष—आत्मा पुण्डरीकवत् श्रेष्ठ है।

८. हृषीकेश—हृषीक—इन्द्रियों को वश में करने वाले।

९. हरि—पापों का हरण करने वाले।

१०. स्वभू—ज्ञातव्य वस्तु के स्वयं ज्ञाता हैं।

११. विश्वम्भर—विश्व का भरण-पोषण, चतुर्गति के दुःखों से बचाने वाले हैं।

१२. असुरध्वंसी—मोहकर्म रूप असुर का नाश करने वाले।

१३. माधव—मा—बाह्य और आन्तरिक लक्ष्मी के धव—स्वामी हैं।

१४. बलिबन्धन—बलि—कर्म बन्धन को नष्ट करने वाले हैं।

१५. अधोक्षज—अक्ष—इन्द्रियों को, अधः जीतने वाले साधुओं को ध्यान से प्राप्त होते हैं।

---

१ विष्णुस्त्रिविक्रमः शौरिः श्रीपतिः पुरुषोत्तमः।
वैकुण्ठः पुण्डरीकाक्षो हृषीकेशो हरिः स्वभूः॥
विश्वंभरोऽसुरध्वंशी माधवो बलिबन्धनः।
अधोक्षजो मधुद्वेषी केशवो विष्टरश्रवाः॥
श्रीवत्सलाञ्छनः श्रीमानच्युतो नरकान्तकः।
विष्वक्सेनश्चक्रपाणिः पद्मनाभो जनार्दनः॥
श्रीकण्ठ·······

—पं० आशाधर विरचित सहस्रनाम ब्रह्मशतकम् श्लोक—१००-१०२

१६. मधुद्वेषी—मधु—मोहरूप परिणाम में दुःखदायी शहद का सेवन नहीं करने वाले हैं।

१७. केशव—क—आत्म-स्वरूप की प्राप्ति में ईश—समर्थ मुनियों के, वं—आश्रयभूत हैं।

१८. विष्टरश्रवा—विस्तृत श्रुतज्ञानसम्पन्न हैं।

१९. श्रीवत्सलांछन—श्रीवत्स के चिन्ह से युक्त हैं। अथवा श्रीवत्स-कामदेव को अपने सौन्दर्य से लांछित-तिरस्कृत करने वाले हैं।

२०. श्रीमान्—अन्तरङ्ग तथा बहिरङ्ग लक्ष्मी के स्वामी।

२१. नरकान्तक—नरक के विनाशक हैं।

२२. विष्वक्सेन—सम्यक् रूप से उनकी शरण में सभी प्रकार के जीव बैर-विरोध रहित होकर रहते हैं।

२३. अच्युत—स्व-स्वरूप से च्युत नहीं होने वाले।

२४. चक्रपाणि—हाथ में चक्र का चिन्ह है, अथवा धर्मचक्र के प्रवर्तक होने से सर्वशिरोमणि हैं।

२५. पद्मनाभ—पद्मवत् नाभि युक्त हैं।

२६. जनार्दन—भव्य जीवों को उपदेश देने वाले।

२७. श्रीकण्ठ—मुक्तिरूपी लक्ष्मी के धारक।

आचार्य जिनसेन ने भी ऐसे ही साभिप्राय सार्थक शब्दों द्वारा विष्णु के रूप में भगवान ऋषभदेव की स्तुति की है।

ऋषभदेव और गायत्री मंत्र

वैदिक दर्शन में गायत्री-मंत्र को सर्वाधिक प्रधानता प्राप्त है।[1] छान्दोग्योपनिषद् में गायत्री की उपासना को सर्वश्रेष्ठ बतलाया गया है। उपासना की विभिन्न मुद्राओं तथा जप की प्रणालियों का भी वहाँ विस्तृत वर्णन मिलता है।[2] ऋक् तथा सामवेद के भाष्यानुसार उक्त मंत्र का अर्थ निम्न प्रकार से किया है—'जो सवितृ-देव (सूर्यदेव) हमारी धी शक्ति को

---

१ ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।
धियो यो नः प्रचोदयात् आपो ज्योतिरसोमृतं ब्रह्मः॥
—गायत्री मंत्र, ऋग्वेद ३।६२।१०

२ छान्दोग्योपनिषद् ३।१२।१

प्रेरणा करते हैं, हमें उन्हीं सवितृ-देव के प्रसाद से प्रशंसनीय अन्नादि रूप फल मिलता है।'

प्रस्तुत गायत्री-मंत्र की व्याख्या को ध्यानपूर्वक देखा जाय तो प्रतीत होता है, कि उसमें सूर्य की पूजा के रूप में भगवान ऋषभदेव की ही पूजा सिद्ध होती है। यथा—'ॐ—पञ्च परमेष्ठी; भूः—सर्वश्रेष्ठ; भुवः—जन्म-जरा-मरण आदि दुःखों के मुक्त होने के लिए रत्नत्रय मार्ग के उपदेष्टा; स्वः—शुद्धोपयोग में स्थित; तत्—उस ॐ वाचक परमेष्ठी को; जो सवितुः—हिताहित का मार्ग बतलाने के कारण त्रिलोक के लिये सुखदायक है; वह वरेण्यम्–उपासना के योग्य है। भर्गः—रागादि दोष से दूषित हम लोगों के लिए प्रतिपादित कल्याण-मार्ग को; देवस्य–तीर्थङ्कर देव को, धीमहि–धारण करते हैं; उन तीर्थङ्कर ऋषभदेव के उपदेश से; नः—हमारी, धियः—बुद्धि प्रचोदयात्—सत्कार्यों में प्रवृत्त हो। अर्थात् पञ्चपरमेष्ठी स्वरूप आदि ब्रह्म श्री ऋषभदेव के प्रसाद से हमारी बुद्धि राग-द्वेष से रहित होकर शुद्धोपयोग में लगे।

इस प्रकार सूर्यदेव के रूप में भगवान ऋषभदेव की ही स्तुति की गई है। अग्नि (ब्रह्मा) के पर्यायवाची नामों में सूर्य को भी अग्नि कहा है, जो स्पष्टतया ऋषभदेव की ओर संकेतित कर किया गया है। इस प्रकार अग्निदेव, विष्णुदेव, सूर्यदेव और ऋषभदेव सभी एकार्थक हैं।

ऋषभदेव और ऋषि पंचमी

भाद्रपद शुक्ला पंचमी जैनेतर वर्ग में 'ऋषि पञ्चमी' के नाम से सर्वत्र मनाई जाती है। यही पञ्चमी जैन-परम्परा में 'संवत्सरी' के नाम से विश्रुत है। जैन-परम्परा में इस पर्व को सब पर्वों का राजा कहा गया है। जैनों का आध्यात्मिक पर्व होने से यह 'पर्वाधिराज' है। इस दिन सर्वोत्तम आध्यात्मिक जीवन बिताने के लिए प्रत्येक जैन यत्नशील रहता है, त्याग–तपस्या, क्षमा, निष्परिग्रहता आदि आत्मिक गुणों को विकसाने वाला, स्नेह और प्रेम की गंगा बहाने वाला यह सर्वोत्कृष्ट पर्व है। वैदिक और ब्राह्मण-परम्परा ने भी इस दिवस को सर्वोच्च प्रधानता दी है। एक ही दिन भिन्न–भिन्न नामों से प्रसिद्ध ये दोनों पर्व किसी समान तत्त्व को लेकर हैं, और वह तत्त्व ऋषभदेव का स्मरण ही हो सकता है। आर्यजाति आरम्भ से ही ऋषभदेव की भक्ति में ओत-प्रोत होकर उनका स्मरण

करती थी, और इस निमित्त से भाद्रपद शुक्ला पञ्चमी पर्व के रूप में मानी जाती थी। आगे चलकर जैन-परम्परा निवृत्ति मार्ग की ओर मुड़ी, तब उसने इस पञ्चमी को आत्मिक शुद्धि का रूप देने के लिए 'संवत्सरी' पर्व के रूप में मनाना शुरू कर दिया; जबकि वैदिक-परम्परा के अनुयायियों ने अपनी पूर्व-परम्परा को ही चालू रखा। वस्तुतः 'ऋषि पञ्चमी' और 'ऋषभ' इस नाम में एक ही ध्वनि समाई हुई है। ऋषि पञ्चमी के स्थान पर 'ऋषभ पञ्चमी' शुद्ध नाम होना चाहिये और उसी का अपभ्रंश होकर कालान्तर में यह पर्व 'ऋषभ पञ्चमी' के स्थान पर 'ऋषि पञ्चमी' के रूप में बोला जाने लगा होगा। यदि यह कल्पना ठीक है, तो जैन और जैनेतर दोनों परम्पराओं में ऋषभदेव की समान मान्यता की पुष्टि होती है।[१]

वातरशना श्रमण

जैनधर्म भारत का बहुत ही प्राचीन धर्म है। यह धर्म श्रमण-परम्परा का प्राचीनतम रूप है। हजारों वर्षों के अतीत में वह विभिन्न नामों द्वारा अभिहित होता रहा है। वैदिककाल में वह 'वातरशना मुनि' के नाम से विश्रुत रहा है।

'ऋग्वेद' में न केवल इन मुनियों का नाम आया है, अपितु उनको या उनकी एक विशेष शाखा को 'वातरशना मुनि' कहा गया है।

'अतीन्द्रियार्थदर्शी वातरशन मुनि मल धारण करते हैं, जिससे पिंगलवर्ण वाले दिखायी देते हैं। जब वे वायु की गति को प्राणोपासना द्वारा धारण कर लेते हैं, अर्थात् रोक देते हैं तब वे अपनी तप की महिमा से दीप्तिमान होकर देवता स्वरूप को प्राप्त हो जाते हैं। सर्व लौकिक व्यवहार छोड़कर वे मौनेय की अनुभूति में कहते हैं "मुनिभाव से प्रमुदित होकर हम वायु में स्थित हो गये हैं। मर्त्यो! तुम हमारा शरीर मात्र देखते हो।"[२] वे ध्यान में तल्लीन रहने के कारण उन्मत्तवत् प्रतीत होते थे।

---

१ चार तीर्थङ्कर—पं० श्री सुखलालजी सिंघवी, पृ० ५।

२ मुनयो वातऽरशनाः पिशंगा वसते मला।
वातस्यानु ध्राजिम् यन्ति यद्देवासो अविक्षत्॥
उन्मदिता मौनेयन वातां आ तस्थिमा वयम्।
शरीरेदस्माकं यूयं मर्तासो अभिपश्यथ॥
—ऋग्वेद १०।१३६।२

वातरशना से अभिप्राय है—वात—वायु, रशना—मेखला। अर्थात् जिनका वस्त्र वायु हो यानि अचेलक मुनि। रामायण की टीका में जिन वातरशन मुनियों का उल्लेख किया गया है, वे ऋग्वेद में वर्णित वातरशन मुनि ही ज्ञात होते हैं। उनका वर्णन उक्त वर्णन से मेल भी खाता है।

तैत्तिरियारण्यक में भगवान ऋषभदेव के शिष्यों को वातरशन ऋषि और ऊर्ध्वमंथी कहा है।[1]

वातरशन मुनि वैदिक परम्परा के नहीं थे। क्योंकि वैदिक-परम्परा में संन्यास और मुनि-पद को पहले स्थान ही नहीं था।

श्रमण शब्द का उल्लेख तैत्तिरियारण्यक और श्रीमद्भागवत के साथ ही बृहदारण्यक उपनिषद्[2] और रामायण[3] में भी मिलता है। इण्डो-ग्रीक और इण्डो-सीथियन के समय भी जैनधर्म श्रमणधर्म के नाम से प्रचलित था। मैगस्थनीज ने अपनी भारत-यात्रा के समय दो प्रकार के मुख्य दार्शनिकों का उल्लेख किया है। श्रमण और ब्राह्मण उस युग के मुख्य दार्शनिक थे।[4] उस समय उन श्रमणों का बहुत आदर होता था। कॉलब्रुक ने जैन सम्प्रदाय पर विचार करते हुए मैगस्थनीज द्वारा उल्लिखित श्रमण-सम्बन्धी अनुच्छेद को उद्धृत करते हुए लिखा है, कि श्रमण वन में रहते थे सभी प्रकार के व्यसनों से अलग थे, राजा लोग उनको बहुत मानते थे और देवता की भाँति उनकी पूजा-स्तुति करते थे।[5]

वातरशना जैन-परम्परा के श्रमणों से मिलता-जुलता है। जिन-सहस्रनाम में उल्लेख आता है, कि वातरशना, निर्ग्रन्थ और निरम्बर ये पर्यायवाची शब्द हैं,[6] इससे यह तो स्पष्ट होता है कि ऋग्वेद की रचना के

---

१ वातरशना ह्वा ऋषयः श्रमणा ऊर्ध्वमन्थिनो बभूवुः।
—तैत्तिरियारण्यक २।७।१, पृ० १३७

२ बृहदारण्यकोपनिषद् ४।३।२२

३ तपसा भुञ्जते चापि, श्रमण भुञ्जते तथा —रामायण, बालकाण्ड १४।२२

४ एन्शियेन्ट इण्डिया एज डिस्क्राइब्ड बाय मैगस्थनीज एण्ड एरियन, कलकत्ता, १९१६, पृ० ९७-९८।

५ ट्रान्सलेशन आव द फ्रेग्मेन्टस आव द इण्डिया आव मेगस्थनीज, बान १८४६, पृ० १७५।

६ दिग्वासा वातरशनो निर्ग्रन्थेशोनिरम्बरः। —महापुराण, जिन० २५।२०४

समय जैन श्रमण विद्यमान थे, और ऐसे श्रमणों की ऋषि-सम्प्रदाय में इन्द्रादिवत् स्तुति की जाती थी।

सायण ने वातरशना श्रमण का उल्लेख किया है।[1]

आचार्य सायण के अनुसार वातरशना मुनियों को श्रमण व ऋषि भी कहा जाता था। उनके मतानुसार केतु, अरुण और वातरशन ये तीनों ऋषि-संघ थे, जो चित्त को एकाग्र कर अप्रमत्त दशा को प्राप्त होते थे। इनकी उत्पत्ति प्रजापति से हुई थी। जब प्रजापति ब्रह्मा को सृष्टि रचने की इच्छा उत्पन्न हुई, तो उन्होंने तपस्या की, और शरीर को प्रकम्पित किया, उस प्रकम्पित तनु के मांस से तीन ऋषि उत्पन्न हुए—अरुण, केतु और वातरशन। नखों से वैखानस और बालों से बालखिल्य मुनि उत्पन्न हुए।[2]

उक्त सृष्टि-क्रम में सर्वप्रथम ऋषियों की उत्पत्ति बताई है, इससे प्रतीत होता है, कि यह धार्मिक सृष्टि का उत्पत्ति-क्रम है। भगवान ऋषभदेव ने धर्म की संस्थापना की थी, तभी अनेकों मतों की उत्पत्ति हो चुकी थी। यद्यपि उस समय वे सब मत भिन्न होते हुए भी भगवान ऋषभदेव को सर्वश्रेष्ठ समझते थे और स्वयं को कायर तथापि बाह्य वेष-भूषा और साध्वाचार में अन्तर आ जाने से उनका भगवान से सीधा सम्बन्ध नहीं रहा। उनकी परम्परा वातरशना ऋषियों से सम्बन्धित रही होगी। श्रीमद्भागवतपुराण से भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है, कि वातरशना श्रमण ऋषियों के धर्मों को प्रकट करने की इच्छा से ही भगवान विष्णु नाभिराज की पत्नी मरुदेवी के गर्भ में अवतरित हुए।

श्रीमद्भागवत के उक्त कथन में दो बातें विशेष महत्त्वपूर्ण हैं—प्रथम यह कि ऋषभदेव की मान्यता के सम्बन्ध में पुराण, वेद या जैन दर्शन के बीच कोई मत-भेद नहीं है। जैनदर्शन यदि भगवान ऋषभदेव को आदि तीर्थंकर के रूप में स्वीकार करता है तो वैदिक दर्शन भगवान विष्णु

---

१ वातरशना वातरशनस्य पुत्रा मुनयोऽतीन्द्रियार्थदर्शिनो जूतिवातजूति प्रभृतय: पिशंगा:, पिशंगानि: कपिलवर्णानि मला मलिनानि वल्कलरूपाणि वासांसि वसते आच्छादयन्ति। —आचार्य सायण

२ स तपो तप्यत। स तपस्तप्त्वा शरीरमधुनुत। तस्य यन्मांसमासीत। ततोऽरुणा: केतवो वातरशना। ऋषय उद्‌तिष्ठन् ये नखा:, ते वैखानसा ये बाला:, ते बालखिल्या। —तैत्तिरियारण्यक भाष्य, सायण १।२३।२-३

के अवतार रूप में साक्षात् ईश्वर मानता है। द्वितीय बात जो अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है, वह यह है कि पुराणकार ने इस अवतार को राम और कृष्ण के अवतारों से भी प्राचीन स्वीकार किया है। जैनदर्शन भी राम और कृष्ण से असंख्य वर्षों पूर्व भगवान के जन्म को मान्यता देता है।

भागवतकार ने भगवान ऋषभ के नौ पुत्रों को भी वातरशना बताया है।[१] केशी मुनि भी वातरशन की श्रेणी के ही थे।[२]

उक्त वातरशना मुनियों की जो मान्यताएँ एवं साधनाएँ वैदिक ऋचाओं में उपलब्ध होती हैं, उनसे श्रमण-निर्ग्रन्थों के साथ एकदम साम्यता प्रतीत होती है। वैदिक ऋषि वैसे त्यागी और तपस्वी नहीं होते जितने वातरशना मुनियों के त्याग का उल्लेख किया गया है। वैदिक ऋषि लौकिक कामनाओं की सम्पूर्ति-हेतु यज्ञ-यागादि कर्म करके इन्द्रादि देवी-देवताओं को बुलाते हैं, पर वातरशना मुनि उक्त क्रियाओं से विरत होते थे, वे समस्त गृह, परिवार, पत्नी, धन-धान्यादि का परित्याग कर भिक्षावृत्ति से रहते थे, स्नानादि नहीं करते थे, मौनवृत्ति धारण कर केवल आत्म-ध्यान में तल्लीन रहते थे। वस्तुतः वातरशना मुनियों की यह शाखा श्रमण-परम्परा का ही प्राचीन रूप है।

केशी

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति के अनुसार भगवान ऋषभदेव जब श्रमण बने तो उन्होंने चार मुष्टि केशों का लोंच किया था। सामान्य रूप से पाँच मुष्टि केशलोंच की परम्परा है। भगवान केशों का लोंच कर रहे थे; दोनों भागों के केशों का लोच करना अवशेष था। उस समय प्रथम देवलोक के इन्द्र शक्र ने भगवान से निवेदन किया, कि इस सुन्दर केश-राशि को इतनी रहने दें। भगवान ने इन्द्र की प्रार्थना से उन केशों को उसी प्रकार रहने दिया।[३] यही कारण है, कि केश रखने से उनका एक नाम केशी या

१ नवाभवन् महाभागा, मुनयो ह्यर्थशसिनः।
श्रमणा वातरशना, आत्मविद्या विशारदाः॥

२ सायण भाष्य १०।१३५।७

३ चउहि मुट्ठाहि लोअं करेइ—मूल सूत्र "तीर्थंकृता पंचमुष्टिलोच सम्भवेऽपि अस्य भगवतश्चतुर्मुष्टिक लोच गोचरः श्री हेमाचार्यकृत ऋषभचरित्राद्यभिप्रायोऽयं प्रथममेकयामुष्टया श्मश्रुकूर्च्चयोर्लोचे तिसृभिश्च शिरालोचे कृते एकां मुष्टिमवशिष्यमाणां पवनान्दोलितां कनकावदातयोः प्रमुस्कन्धयोरुपरि लुठन्तीं मरकतोप-

केशरियाजी हुआ। केसर, केश और जटा एक ही अर्थ के द्योतक हैं। 'सटा जटा केसरयोः' जैसे सिंह अपने केशों के कारण केसरी कहलाता है, वैसे ही भगवान ऋषभ केशी, केसरी और केसरियानाथ के नाम से विश्रुत हैं। केशरियानाथ[1] पर जो केशर चढ़ाने की मान्यता लोक में विशेष रूप से प्रचलित है, वह नामसाम्य के कारण ही उत्पन्न हुई प्रतीत होती है। जैन पुराणों में भी ऋषभदेव की जटाओं का उल्लेख किया है।[2]

ऋग्वेद में भगवान ऋषभ की स्तुति केशी के रूप में की है। वहाँ कहा गया है—'केशी, अग्नि, जल, स्वर्ग तथा पृथ्वी को धारण करता है। केशी विश्व के समस्त तत्त्वों का दर्शन कराता है, और केशी ही प्रकाशमान 'ज्ञान' ज्योति कहलाता है।[3]

ऋग्वेद में उल्लिखित केशी व वातरशना मुनियों की तुलना भागवत पुराण में कथित वातरशना श्रमण ऋषि, उनके अधिनायक ऋषभ व उनकी साधनाओं के साथ करने योग्य है। ऋग्वेद के 'वातरशना मुनि' और भागवत पुराण में उल्लिखित 'वातरशना श्रमण ऋषि' तो एक ही परम्परा के वाचक हैं। इस कथन में तो तनिक भी संदेह को अवकाश नहीं रहता। परन्तु केशी का अर्थ केशधारी होता है, जिसका अर्थ तैत्तिरिय अरण्यक भाष्यकार आचार्य सायण ने 'केश स्थानीय किरणों का धारक' कहकर 'सूर्य' अर्थ निकाला है। प्रस्तुत सूक्त में जिन वातरशना साधुओं की साधना का उल्लेख है, उनसे इस अर्थ की कोई संगति नहीं बैठती। केशी, वस्तुतः वातरशना मुनियों के प्रधान नेता ही हो सकते हैं, जो मलधारी, मौनवृत्ति

मानभमाविभुतीं परमरमणीयां वीक्ष्य प्रमोदमानेन शक्रेण भगवन्! मय्यनुग्रहं विधाय ध्रियतामियमित्थमेवेति विज्ञप्ते भगवतापि सा तथैव रक्षितेति। न ह्येकान्तभक्तानां याञ्चामनुग्रहीतारः खण्डयन्तीति।"

—जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति वक्षस्कार २।३०

१ राजस्थान के उदयपुर जिले का एक प्रसिद्ध तीर्थ जो 'केसरिया तीर्थ' के रूप में प्रसिद्ध है। वह दिगम्बर, श्वेताम्बर एवं वैष्णव आदि सभी सम्प्रदाय वालों को समान रूप से मान्य है।

२ (क) वातोद्धता जटास्तस्य रेजुराकुलमूर्तयः —पद्मपुराण ३।२८८

(ख) स प्रलम्बजटाभारभ्राजिष्णुः —हरिवंशपुराण ९।२०४

३ केश्यग्नि विषं केशी बिभर्ति रोदसी।
केशी विश्व स्वर्दृशे केशीदं ज्योतिरुच्यते॥ —ऋग्वेद १०।१३६।१

और उन्मत्तावस्था के रूप में उल्लिखित हैं, जिन्हें आगे के सूक्त में देवों के ऋषि व उपकारी, हितचिन्तक सखा कहा है।[1]

भागवतपुराण में वर्णित ऋषभदेव का जीवन चरित्र और उक्त केशी सम्बन्धी सूक्त का तुलनात्मक अध्ययन किसी एक व्यक्ति में पाये जाने वाले गुणों को प्रकट करता है।

अन्यत्र केशी और ऋषभ के एक ही साथ का उल्लेख ऋग्वेद की एक ऋचा में भी प्राप्त होता है, जिसमें कहा है—

'मुद्गल ऋषि की गायें (इन्द्रियाँ) जो जुते हुए दुर्धर रथ (शरीर) के साथ दौड़ रही थीं वे मुद्गल ऋषि के सारथी ऋषभ जो शत्रु-विनाश (कर्म रूपी शत्रु) के लिये नियुक्त थे, उनके वचन से अपने स्थान पर लौट आयीं।'

इस प्रकार ऋग्वेद से ही केशी और ऋषभ के एकत्व का पूर्णतया समर्थन प्राप्त हो जाता है। वातरशना मुनि, निर्ग्रन्थ साधुओं के साथ और केशी, भगवान ऋषभदेव के साथ एकीकरण को प्राप्त होते हैं।[2]

भागवत में ऋषभावतार का चित्रण

श्रीमद्भागवत में भक्ति की भागीरथी का अमर स्रोत प्रवाहित है। श्री वल्लभाचार्य भागवत को महर्षि व्यासदेव की समाधि भाषा कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि व्यासजी ने भागवत् के तत्त्वों का वर्णन समाधि दशा में अनुभूत करके किया था। रामानुजाचार्य, वल्लभाचार्य, मध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य, चैतन्य महाप्रभु प्रभृति विज्ञों की भक्ति साधनाओं का मूल आधार भागवत ही था।

वैष्णव-परम्परा का बहुमान्य और सर्वत्र अतिप्रसिद्ध ग्रन्थ भागवत है, जिसे भागवत-पुराण भी कहते हैं। उसमें ऋषभदेव का बहुत सुन्दर और सुविस्तृत वर्णन प्राप्त होता है, जो कि जैन-परम्परा से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। जैन-परम्परा की तरह ही वहाँ पर ऋषभदेव और भरत का जीवनदर्शन, माता-पिता के नाम, उनके सौ पुत्रों का उल्लेख, उनकी ज्ञान-साधना, उपदेश तथा धार्मिक, सामाजिक नीतियों का प्रवर्तन और भरत के अनासक्ति-योग का विस्तृत वर्णन किया गया है।

---

१ मुनिर्देवस्य देवस्य सौकृत्याय सखा हितः। —ऋग्वेद १०।१३६।४

२ साहित्य और संस्कृति—लेखक देवेन्द्र मुनि, प्रकाशक—भारतीय प्रकाशन, वाराणसी।

श्रीमद्भागवत-पुराण में तीन स्थलों पर अवतारों का निर्देश किया है—प्रथम स्कन्ध के तृतीय अध्याय में उनकी संख्या बाईस है। द्वितीय स्कन्ध के सप्तम अध्याय में तेईस संख्या गिनाई है, और ग्यारहवें स्कन्ध के चतुर्थ अध्याय में सोलह अवतारों का निर्देश किया है।

बाईस अवतारों में ऋषभदेव की परिगणना आठवें अवतार के रूप में करते हुए बताया है, कि—"आठवीं बार नाभि राजा की मरुदेवी नामक पत्नी के गर्भ से ऋषभ ने अवतार ग्रहण किया और सभी आश्रम जिसे नमस्कार करते हैं, ऐसे परमहंसधर्म का उन्होंने अपदेश दिया।"[1]

द्वितीय स्कन्ध के सप्तम अध्याय में जहाँ तेईस अवतार गिनाये हैं; लीलावतारों का वर्णन करते हुए लिखा है : "राजा नाभि की पत्नी सुदेवी के गर्भ से विष्णु भगवान ने ऋषभ के रूप में जन्म लिया, और इस अवतार में वे अनासक्त रहकर, इन्द्रिय तथा मन की शांति-हेतु स्व-स्वरूप में अवस्थित रहकर समदर्शी के रूप में योग-साधना में संलग्न रहे। इस स्थिति को महर्षियों ने 'परमहंसपद' अवस्था या 'अवधूत-चर्या' कहा है।[2]

भागवत के पञ्चम स्कन्ध में द्वितीय अध्याय से चतुर्दश अध्याय-पर्यन्त ऋषभदेव तथा भरत का सविस्तार वर्णन किया है और ऋषभावतार के प्रति विशेष आदर-भाव द्योतित किया गया है। ऋषभावतार का वर्णन करते हुए वहाँ पर लिखा है—

ब्रह्मा ने देखा, कि अभी तक मानवों की संख्या में वृद्धि नहीं हुई, तो उन्होंने मानवों की संख्या बढ़ाने के लिये सर्वप्रथम स्वयम्भू, मनु और सतरूपा को उत्पन्न किया। उनके प्रियव्रत नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। प्रियव्रत के आग्नींध्र आदि नौ पुत्र हुए। प्रियव्रत ने आग्नींध्र को राज्य देकर तापस-वृत्ति अंगीकार कर ली। पिता के तपस्या में संलग्न हो जाने पर आग्नींध्र ने प्रजा का पुत्रवत् पालन किया। एक बार

---

१ अष्टमे मरुदेव्यां तु नाभेर्जात उरुक्रमः।
दर्शयन् वर्त्म धीराणां, सर्वाश्रम नमस्कृतम्॥ —श्रीमद्भागवत १।३।१३

२ नाभेरसावृषभ आस सुदेविसूनु,
र्यो वैचचार समदृक् जडयोगचर्याम्।
यत् पारमहंसस्यमृषयः पदमामनन्ति,
स्वस्थः प्रशान्तकरणः परिमुक्तसङ्गः॥ —श्रीमद्भागवत २।७।१०

आग्नींध्र पुत्र-प्राप्ति की अभिलाषा से पूजा की सामग्री एकत्र कर मन्दराचल की एक गुफा में चला गया, और वहाँ तपस्या में लीन होकर ब्रह्मा की आराधना करने लगा। आदिपुरुष ब्रह्मा ने उसके मनोगत भावों को जानकर पूर्वचित्ति नामक अप्सरा को भेजा। अप्सरा आग्नींध्र के समीपवर्ती रमणीय उद्यान में विचरण करने लगी।

पुत्र-याचना

आग्नींध्र बड़ा तेजस्वी और प्रतिभासम्पन्न था, उसने पूर्वचित्ति अप्सरा को अपनी ओर आकृष्ट कर लिया। अप्सरा उसके साथ हजारों वर्ष तक रही। तत्पश्चात् उसके नाभि, किंपुरुष, हरिवर्ष, इलावृत्त, रम्यक्, हिरण्यमय, कुरु, भद्राश्व और केतुमाल ये नौ पुत्र क्रमशः हुए। पूर्वचित्ति अप्सरा इसके बाद आश्रम से ब्रह्मा के पास चली गई। आग्नींध्र ने जम्बूद्वीप को नौ भागों में विभाजित कर एक-एक खण्ड सभी को समान रूप से बाँट दिया और स्वयं परलोकवासी हो गया। पिता के परलोकगमन के पश्चात् नाभि ने मरुदेवी से, किंपुरुष ने प्रतिरूपा से, हरिवर्ष ने उग्रदंष्ट्री से, इलावृत्त ने लता से, रम्यक् ने रम्या से, हिरण्यमय ने श्यामा से, कुरु ने नारी से, भद्राश्व ने भद्रा से और केतुमाल ने देववीति के साथ पाणि-ग्रहण किया।

पुत्र के लिए यज्ञ

नाभि के भी अपने पिता आग्नीध्र की तरह कई वर्षों तक सन्तान नहीं हुई, तो उसने पुत्र-कामना से अपनी पत्नी के साथ एकाग्रचित्त होकर भगवान यज्ञ-पुरुष का पूजन किया। यद्यपि भगवान विष्णु की प्राप्ति होना कोई सरल बात नहीं थी तथापि भगवान भक्त-वत्सल होते हैं। अतएव जब नाभि के यज्ञ में 'प्रवर्ग्य' कर्मों का अनुष्ठान होने लगा, तब नाभि की श्रद्धा-भक्ति और विशुद्ध भावना का अवलोकन कर स्वयं भगवान विष्णु भक्ति के परवश हुए भक्त का अभीष्ट सिद्ध करने के लिये प्रकट हुए। साक्षात् भगवान को अपने समक्ष निहारकर ऋत्विज, सदस्य और यजमान अत्यन्त आल्हादित हुए और उनकी स्तुति करते हुए कहने लगे—भगवन्! यह राजर्षि पुत्र को ही परमार्थ मानकर उसके लिये यज्ञ कर रहा है, और आप सदृश पुत्र-प्राप्ति की इच्छा से आपकी निर्मल भाव से आराधना कर रहा है।

विष्णुजी ने कहा—'ऋषियो ! आपने मुझे असमंजस में डालने वाला वर माँगा है। मेरे समान तो मैं ही हूँ, अखिल-सृष्टि में मैं अद्वितीय हूँ, मैं ही मेरे सदृश हूँ तो फिर मेरे जैसा पुत्र मैं कैसे भेज सकता हूँ। तथापि ब्राह्मणों के वचन मिथ्या नहीं होते, क्योंकि द्विजों में देवतुल्य पूजनीय विद्वान् ब्राह्मण मेरा ही मुख हैं, अतः मैं स्वयं अपनी अंशकला से आग्नींध्रनन्दन नाभि के यहाँ अवतार लूँगा।'

महारानी मरुदेवी के समक्ष नाभि-राजा से कृतप्रतिज्ञ होकर भगवान अन्तर्धान हो गये।

महर्षियों द्वारा पूर्णतः प्रसन्न किये जाने पर स्वयं भगवान नाभिराज को सन्तुष्ट करने के लिये, तथा संन्यासी और ऊर्ध्वरेता वातरशना मुनियों के धर्म को प्रकट करने के लिए महारानी मरुदेवी के गर्भ में शुद्ध सत्त्वमय शरीर से प्रकट हुए।[1]

नाभिनन्दन के अंग जन्मना वज्र, अंकुश आदि श्रेष्ठ चिन्हों से युक्त थे। समता, शान्ति, वैराग्य और ऐश्वर्य आदि महाविभूतियों के कारण उनका प्रभाव अनुदिन वृद्धिगत होने लगा। उनके सुन्दर, सुडौल शरीर, विपुल कीर्ति, तेज, यश व पराक्रम आदि अनुपम गुणों को देखकर नाभिराज ने उनका नाम 'ऋषभ' श्रेष्ठ रखा।[2]

एक बार ईर्ष्यावश इन्द्र ने उनके राज्य में वर्षा नहीं की, तब योगेश्वर भगवान ऋषभ ने उसकी मूर्खता पर हँसते हुए अपनी योगमाया के प्रभाव से अपने 'अजनाभखण्ड' में खूब जल बरसाया।[3] इससे इन्द्र अपने कृत्य पर अत्यन्त लज्जित हुआ।

राज्याभिषेक

महाराजा नाभि मनोनुकूल पुत्र को प्राप्त कर अत्यन्त प्रसन्न हुए। जब उन्होंने देखा कि मंत्रिमंडल, नागरिक व राष्ट्र की जनता ऋषभदेव का बहुमान करते हैं तो उन्होंने ऋषभ को धर्म-मर्यादा की रक्षा-हेतु राज्याभिषिक्त कर ब्राह्मणों की देख-रेख में छोड़ दिया और स्वयं स्वपत्नी सहित

---

१ बर्हिषि तस्मिन्नेव विष्णुदत्त भगवान् परमर्षिभिः प्रसादितो नाभेः प्रिय चिकीर्षया तदवरोधायने मरुदेव्यां धर्मान् दर्शयितुकामो वातरशनानां श्रमणानामृषीणामूर्ध्व-मन्थिनां शुक्लया तन्वावतार। —श्रीमद्भागवत ५।३।२०

२ तस्य ह वा इत्थं वर्ष्मणा वरीयसा बृहच्छ्लोकेन चौजसा बलेन श्रिया यशसा वीर्यशौर्याभ्यां च पिता 'ऋषभ' इतीदं नाम चकार। —वही ५।४।२

३ वही ५।४।३

'बदरिकाश्रम' चले गये। वहाँ अनुद्वेगपूर्ण अहिंसा की कठोर साधना कर अन्त में नर-नारायण रूप स्वरूप में लीन हो गये।[1]

भगवान ऋषभदेव ने अपने देश अजनाभखण्ड को कर्मभूमि मानकर लोक-संग्रह के लिए कुछ काल में गुरुकुलवास किया। गुरुदेव को यथोचित दक्षिणा देकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश की आज्ञा ली। जनता को गृहस्थ-धर्म की शिक्षा देने के लिये देवेन्द्र प्रदत्त कन्या जयन्ती से विवाह किया, तथा शास्त्रोपदिष्ट कर्मों का समाचरण करते हुए स्वसदृश गुणवान् सौ पुत्रों के पिता बने।[2] उनमें महायोगी भरत ज्येष्ठ और श्रेष्ठ थे, अतः उनके नाम से इस अजनाभखण्ड को भारतवर्ष कहने लगे। उनसे छोटे कुशावर्त, इलावर्त, ब्रह्मावर्त, मलय, केतु, भद्रसेन, इन्द्रस्पृक्, विदर्भ और कीकट ये नौ राजकुमार थे। उनसे छोटे कवि, हरि, अन्तरिक्ष, प्रबुद्ध, पिप्पलायन, आविर्होत्र द्रुमिल, चमस और करभाजन; ये नौ राजकुमार भागवत धर्म का प्रचार करने वाले, परम शान्त और भगवद्भक्त थे। इनसे छोटे जयन्ती के इक्यासी पुत्र अति विनीत, महान् वेदज्ञ और आज्ञाकारी थे, वे पुण्यकर्मों का अनुष्ठान करने से ब्राह्मण हो गये।[3]

यद्यपि भगवान ऋषभदेव परम स्वतंत्र होने के कारण स्वयं सर्वदा सर्व प्रकार की अनर्थ परम्परा से रहित, केवल आनन्दानुभव स्वरूप और साक्षात् ईश्वर ही थे तथापि उन्होंने कालानुसार धर्म का आचरण करके उसका तत्त्व न जानने वाले अज्ञानी मानवों को धर्म की शिक्षा दी, साथ ही सम, शान्त, सुहृद् और कारुणिक रहकर धर्म, अर्थ, कीर्ति, पुत्रादि-संतति और विषय-भोग से प्राप्त होने वाले यथेष्ट आचरण से हटाकर समस्त संसार को शास्त्रोक्त आचरण में लगाया। क्योंकि 'महाजनो येन गतः सः पन्थाः' महापुरुष जैसा आचरण करते हैं, वही विश्व के लिए शास्त्ररूप बन जाता है। यद्यपि वे स्वयं धर्म के रहस्य को जानते थे, तथापि ब्राह्मणों द्वारा कथित साम-दाम आदि उपायों से जनता का पालन करने लगे, और शास्त्रोक्त विधि के अनुसार सौ बार यज्ञेश्वर प्रभु का यज्ञों से पूजन किया। उनके राज्य में ब्राह्मण से लेकर चाण्डाल तक एक भी पुरुष ऐसा नहीं था

---

१ श्रीमद्भागवत ५।४।५
२ वही ५।४।८
३ वही ५।४।९–१३

जो अपने परमपिता ऋषभराज की प्रसन्नता के अलावा अन्य किसी वस्तु की कामना करता हो। यही नहीं, आकाशकुसुमादि अविद्यमान वस्तु की भाँति कोई किसी वस्तु की ओर दृष्टिपात भी नहीं करता था।

पुत्रों को उपदेश

एक बार भगवान ऋषभदेव परिभ्रमण करते हुए 'ब्रह्मावर्त' देश में पहुँचे। वहाँ उद्भट विद्वानों और ब्रह्मर्षियों के समक्ष अपने विनीत पुत्रों को मोक्ष-मार्ग का सुन्दर उपदेश देते हुए कहा—पुत्रो! यह मनुष्य शरीर, दुःखमय विषयभोगों के लिये ही नहीं है, ये भोग तो विष्ठाभोजी कूकर-शूकरादि को भी मिलते हैं, इस नश्वर देह से अन्तःकरण की शुद्धि हेतु दिव्य-तप का ही आचरण करना चाहिये, इसी से ब्रह्मानन्द की संप्राप्ति होती है। जब तक आत्मा को स्वात्मतत्त्व की जिज्ञासा नहीं होती, तभी तक अज्ञानवश देहादिक द्वारा उसका स्वरूप आवृत्त रहता है, और तब तक मन में कर्मवासनाएँ भी बनी रहती हैं, तथा इन्हीं से देह-बन्धन की प्राप्ति होती है। स्वात्मकल्याण किसमें है? इस बात से अनभिज्ञ पुरुष विविध कामभोगों में फँसकर परस्पर बैरभाव की वृद्धि कर लेते हैं, वे यह विचार नहीं करते कि इन बैर-विरोधों के कारण नरकादि घोर दुःखों की प्राप्ति होगी।[1]

मेरा यह अवतार-शरीर सर्वदा अचिन्तनीय है। शुद्ध सत्त्व हृदय में ही धर्म की स्थिति है, मैंने अधर्म को अपने से बहुत दूर ढकेल दिया है इसी से सत्पुरुष मुझे 'ऋषभ' कहते हैं।[2]

इस प्रकार भगवान ने अपने पुत्रों को शरीर, धन आदि की नश्वरता व स्वात्म-तत्परता का सुन्दर उपदेश दिया और अन्त में कहा कि तुम सब मेरे शुद्ध सत्त्वमय हृदय से उत्पन्न हुए हो अतः ईर्ष्या भाव का परित्याग कर

---

१ 'लोकः स्वयं श्रेयसि नष्टदृष्टि-
योऽर्थान् समीहेत निकामकामः।
अन्योन्यबैरः सुखलेशहेतो-
रनन्तदुःखं च न वेद मूढः॥ —श्रीमद्भागवत ५।५।१६

२ इदं शरीरं मम दुर्विभाव्यं
सत्त्वं हि मे हृदयं यत्र धर्मः।
पृष्ठे कृतो मे यदधर्म आराद्
अतो हि मामृषभं प्राहुरार्याः॥ —वही ५।५।१९

अपने ज्येष्ठ बन्धु भरत की निष्कपट बुद्धि से सेवा करो, यही मेरी सच्ची पूजा है।

इस तरह सुशिक्षित कर सौ पुत्रों में ज्येष्ठ भरत को भगवद् भक्त परायण जानकर और शासन-सूत्र का निर्वाह करने में सर्वथा योग्य समझकर राज्य पदासीन कर दिया।[1]

पूर्ण त्यागी

भरत को राज्यभार सौंपकर भगवान ऋषभ स्वयं उपशमशील निवृत्तिपरायण महामुनियों को भक्ति, ज्ञान और वैराग्यरूप परमहंसोचित धर्मों की शिक्षा देने के लिये पूर्णतः विरक्त हो गये। उन्होंने केवल शरीर मात्र का परिग्रह रखा, अन्य सब कुछ छोड़कर वे सर्वथा पूर्ण त्यागी हो गये। उस समय उनके बाल बिखरे हुए थे, उन्मत्त का सा वेष था, इस स्थिति में वे अग्निहोत्र की अग्नियों को अपने में ही समाहित करके संन्यासी बनकर 'ब्रह्मावर्त' देश से बाहर निकल गये। वे सर्वथा मौन हो गये थे, कोई बात करना चाहता तो उससे बात भी नहीं करते थे। अवधूत का वेश बनाकर जड़, अंध, बधिर, गूंगे अथवा पिशाचग्रस्त मनुष्य की भाँति पागलों की तरह यत्र-तत्र विचरने लगे। मार्ग में अधम पुरुष उन्हें ललकार कर, ताड़ना देकर, उनके शरीर पर मल-मूत्र कर, धूल और पत्थर आदि मारकर अनेक प्रकार के दुर्वचन कहकर उन्हें सताते, परन्तु जिस प्रकार वनहस्ती मक्षिकाओं के आक्रमण की परवाह नहीं करता, तथैव वे भी इन कष्टों से तनिक भी विचलित नहीं होते और सदा आत्मस्थ रहते थे।

अजगर वृत्ति

जब भगवान ऋषभदेव ने देखा, कि यह मानव-मेदिनी योग-साधना में विघ्न रूप है अतः अब वीभत्सवृत्ति से रहना ही उचित है, तब उन्होंने अजगर वृत्ति (एक ही स्थान पर स्थित रहकर प्रारब्ध कर्मों का भोग करना) धारण की। वे लेटे-लेटे ही अन्नादि का भोजन करते और पड़े-पड़े ही मल-मूत्रादि का त्याग करते, जिससे उनका शरीर मल-मूत्र से सन जाता था। परन्तु उनके मल-मूत्र से ऐसी सुगन्ध निकलती थी, कि उससे दस-योजन पर्यन्त देश सुगन्धित हो उठता था। इसी प्रकार कुछ दिन तक उन्होंने गौ, मृग व कौओं की वृत्ति को धारण किया और उन्हीं की

---

१ श्रीमद्भागवत ५।५।२८

भाँति कभी खड़े हुए, कभी बैठे हुए अथवा कभी लेटकर आहार-निहार आदि व्यवहार करने लगे। इस प्रकार नानाविध योगों का आचरण करते हुए भगवान ऋषभदेव को अनेकों अणिमादि सिद्धियाँ प्राप्त हुईं, पर उन्होंने उनकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखा।

अद्‌भुत अवधूत

भगवान ऋषभदेव लोकपाल शिरोमणि होकर भी सब ऐश्वर्यों को तृणतुल्य त्याग कर अकेले अवधूतों की भाँति विविध वेष, भाषा और आचरण से अपने ईश्वरीय प्रभाव को छिपाये रहते थे। वे दक्षिण प्रान्त के कर्णाटक देश में जाकर कूटक पर्वत के बगीचे में मुख में पत्थर का ग्रास लेकर चिरकाल तक उन्मत्तवत् केश खोले घूमते रहे। यद्यपि वे जीवन्मुक्त थे, तो भी योगियों को देह-त्याग की विधि सिखाने के लिये उन्होंने स्थूल शरीर का त्याग करना चाहा। जैसे कुम्भकार का चाक घुमाकर छोड़ देने पर भी थोड़ी देर तक स्वयं ही घूमता रहता है, उसी तरह लिंग-शरीर का त्याग कर देने पर भी योगमाया की वासना द्वारा भगवान ऋषभ का स्थूल शरीर संस्कारवश भ्रमण करता हुआ कूटकाचल पर्वत के उपवन को प्राप्त हुआ। इसी समय वायुवेग से झूमते हुए बाँसों के घर्षण से प्रबल दावाग्नि धधक उठी और उसने सारे वन को अपनी लाल-लाल लपटों में लेकर ऋषभदेवजी के शरीर सहित भस्म कर डाला। इस प्रकार ऋषभदेव ने संसार को परमहंसों के श्रेष्ठ आचरण का आदर्श प्रस्तुत कर अपनी लीला संवरण की।

महाराजा भरत

भगवान ऋषभदेव की आज्ञा का पालन कर भगवद्भक्त भरत ने शासन-सूत्र सँभाला और विश्वरूप की कन्या 'पञ्चजनी' के साथ विवाह किया। जिस प्रकार तामस अहंकार से शब्दादि पाँच भूत तन्मात्र उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार पञ्चजनी के गर्भ से' 'सुमति, राष्ट्रभृत, सुदर्शन, आवरण और धूम्रकेतु' नामक पाँच पुत्र उत्पन्न हुए। जो सर्वथा पितातुल्य थे। महाराजा भरत भी स्वकर्मनिरत प्रजा का अत्यन्त वात्सल्य भाव से पालन करने लगे। इन्होंने यज्ञ-क्रतुरूप भगवान का समय-समय पर अपने अधिकार के अनुसार 'अग्निहोत्र, दर्श, पौर्णमास, चातुर्मास्य, सोमयाग' प्रभृति छोटे-बड़े यज्ञों द्वारा श्रद्धापूर्वक आराधन किया। उस यज्ञकर्म से होने वाले पुण्यरूप फल को वे यज्ञ-पुरुष भगवान को अर्पित कर देते थे।

इस प्रकार भक्तियोग का आचरण करते हुए उन्हें कई हजार वर्ष व्यतीत हो गये।

एक करोड़ वर्ष व्यतीत हो जाने पर राज्य-भोग का प्रारब्ध क्षीण हुआ और उन्होंने वंशपरम्परागत सम्पत्ति को यथायोग्य पुत्रों में बाँट दिया, स्वयं पुलस्त्य महर्षि के आश्रम (हरिक्षेत्र) को चले गये। महर्षि भरत गण्डकी नदी के किनारे पुलस्त्याश्रम की पुष्प-वाटिका में रहते हुए विषय-वासनाओं से मुक्त होकर अनेक प्रकार के पत्र, पुष्प, तुलसीदल, जल, कन्द, फल आदि सामग्रियों से भगवान की अर्चना करने लगे। इस प्रकार सतत भगवदाराधना करने से उनका हृदय भगवत्प्रेम से भर गया, जिससे उनकी भगवद्आराधना ठीक तरह से नहीं हो पाती थी। वे भगवत्प्रेम में इतने मस्त हो जाते कि अर्चना-विधि विस्मृति के गर्त में खो जाती थी।

भरतजी की साधना

एक दिन भरतजी गंडकी नदी में स्नान-सन्ध्यादिक नित्य नैमित्तिक कर्म करके ओंकार का जाप करते हुए तीन घण्टे तक नदी-तट पर बैठे रहे। इतने में एक प्यासी हिरणी वहाँ आयी, उसने ज्योंही जल पीना प्रारम्भ किया, कि सिंह की गम्भीर गर्जना से वह भयाकुल हो गई। जल पीना छोड़कर उसने बड़े वेग से नदी के उस पार छलाँग लगायी। छलाँग मारते हुए असमय ही उसका गर्भपात हो गया। मृगी तो नदी के उस पार पहुँच गयी, किन्तु वह मृग-शावक बीच जल-धारा में ही गिर पड़ा। मृगी भी शारीरिक वेदना और भय से अभिभूत हुई एक गुफा में पहुँची और मर गई।

यह समस्त दृश्य प्रत्यक्ष निहारकर भरतजी का कोमलहृदय करुणा से भर गया। उन्होंने उस शावक को जल-धारा से बाहर निकाला, और उस मातृहीन मृग-छौने को अपने आश्रम में ले आये। मृग-शावक के प्रति भरतजी की ममता उत्तरोत्तर बढ़ती ही गयी, वे बड़े चाव से उसे खिलाते, पिलाते, हिंस्र जन्तुओं से उसकी रक्षा करते, उसके शरीर को खुजलाते और सहलाते। इस प्रकार धीरे-धीरे उनकी मृग-शावक के प्रति अत्यन्त गाढ़ आसक्ति हो गई। इस कारण कुछ ही दिनों में उनके यम-नियम, और भगवत्पूजा आदि आवश्यक कृत्य छूट गये। उनकी आसक्ति कर्त्तव्य-बुद्धि के रूप में आकर उन्हें धोखा देने लगी। वे सोचते कि कालचक्र ने ही इस

मृग-छौने को माता-पिता से छुड़वाकर मेरी शरण में पहुँचाया है, अतः मुझे अपने आश्रित की सेवा करनी चाहिये।

भरत की आसक्ति

शनैः-शनैः भरतजी की आसक्ति मृग-छौने के प्रति इतनी अधिक बढ़ गयी, कि बैठते, सोते, उठते, टहलते और भोजन करते उनका चित्त उसके दृढ़ स्नेहपाश से आबद्ध रहता। जब उन्हें पत्र-पुष्पादि लेने जाना होता तो भेड़ियों और कुत्तों के भय से उसे वे साथ ही लेकर जाते। मार्ग में कहीं कोमल घास देखकर हरिणशावक अटक जाता तो वे अत्यन्त प्रेम-पूर्ण हृदय से अपने कंधे पर चढ़ा लेते, कभी गोदी में उठाकर छाती से लगा लेते। नित्य-नैमित्तिक कर्मों को करते समय भी राज-राजेश्वर भरत बीच-बीच में उठकर उस मृग-शावक को देखते, और कभी दिखायी नहीं देता तो अत्यन्त उद्विग्नतापूर्वक दीन पुरुष की भाँति विलाप करते।

भरत का मृग बनना

एक दिवस भरत मृग-छौने के निकट ही बैठे हुए थे, कि अकस्मात् करालकाल उपस्थित हो गया, और उन्होंने मृग-शावक के ध्यान में ही प्राण त्याग दिये। 'अन्त मतिः सा गतिः' इस उक्ति के अनुसार वे मरकर मृग बने, परन्तु भगवदाराधना के प्रभाव से उनकी पूर्वजन्म की स्मृति नष्ट नहीं हुई। उन्होंने सोचा, 'अरे, मैंने यह क्या अनर्थ कर डाला। एक मृग-छौने के मोह में लक्ष्यच्युत होकर मैंने दुर्लभ मानव-जन्म को स्वयं ही खो दिया।' अब तो वे पूर्णतया सावधान हो गये। वे अपने परिवार को छोड़कर जन्मभूमि कालिञ्जर पर्वत से उसी पुलस्त्याश्रम में चले आये और वहाँ सर्वसंगों का परित्याग कर अन्त में अपने शरीर के अर्धभाग को गण्डकी नदी में डुबोये रखकर मृग-योनि का त्याग किया।

राजर्षि भरत की महत्ता

अन्त में राजर्षि भरत की श्रेष्ठता का बयान करते हुए भागवत-पुराणकार ने कहा है, 'जैसे गरुड़जी की होड़ कोई मक्खी नहीं कर सकती, उसी प्रकार राजर्षि भरत के पथ का अन्य कोई राजा मन से भी अनुसरण नहीं कर सकता।'[1] उन्होंने अति दुस्त्यज पृथ्वी, पुत्र, स्वजन,

---

१ आर्षभस्येह राजर्षेर्मनसापि महात्मनः।
नानुवर्त्माऽर्हती नृपो मक्षिकेव गरुत्मतः॥

सम्पत्ति और नारी का तथा जिसके लिये बड़े-बड़े देवता भी लालायित रहते हैं, वह लक्ष्मी उन्हें सहज सुलभ थी, तथापि उन्होंने किसी भी वस्तु की लेशमात्र भी आकांक्षा नहीं की; क्योंकि जिसका चित्त भगवान मधु-सूदन की सेवा में अनुरक्त हो गया है, उनकी दृष्टि में मोक्षपद भी अत्यन्त तुच्छ है।

भागवतपुराण में भरतजी का पुत्र 'सुमति' बताया है। उसने ऋषभदेवजी के मार्ग का अनुसरण किया। इसीलिये कलियुग में बहुत से पाखण्डी अनार्य पुरुष अपनी दुष्ट-बुद्धि से वेद विरुद्ध कल्पना करके उसे देव मानेंगे।[1]

स्मृति और पुराणों में

भगवान ऋषभदेव की स्तुति मनुस्मृति में भी की गई है। वहाँ कहा है—अड़सठ तीर्थों में यात्रा करने से जिस फल की प्राप्ति होती है, उतना फल एक आदिनाथ भगवान के स्मरण से होता है।[2]

लिंग पुराण में ऋषभदेव का सविस्तृत वर्णन मिलता है। नाभिराजा के खानदान का निरूपण करते हुए बताया है—नाभि के मरुदेवी रानी के गर्भ से महान् बुद्धिधारक, राजाओं में श्रेष्ठ, समस्त क्षत्रियों द्वारा पूज्य ऋषभ नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। ऋषभदेव अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को राज्य सौंपकर, तथा ज्ञान और वैराग्य का अवलम्बन लेकर इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने लगे। अपनी आत्मा में ही आत्मा द्वारा परमात्मा की स्थापना करके निराहारी रहने लगे। ऐसे समय में उनके केश बढ़ गये

यो दुस्त्यजान् क्षितिसुतस्वजनार्थदारान्।
प्रार्थ्यां श्रियं सुरवरैः सदयावलोकाम्॥
नैच्छन्नृपस्तदुचितं महतां मधुद्विट्—
सेवानुरक्तमनसामभवोऽपि फल्गुः॥ —श्रीमद्भागवतपुराण, ५।१४।४२-४४

१ भरतस्यात्मजः सुमतिर्नामाभिहितो यमु ह वाव केचित्पाखण्डीन ऋषभपदवी-मनुवर्तमानं चानार्या अवेदसमाम्नातां देवतां स्वमनीषया पापीयस्या कलौ कल्पयिष्यन्ति। —श्रीमद्भागवतपुराण, ५।१५।१

२ अष्टषष्टिषु तीर्थेषु यात्रायां यत्फल भवेत्।
श्री आदिनाथस्य देवस्य स्मरणेनापि तद्भवेत्॥ —मनुस्मृति

थे। आशाओं से विप्रमुक्त सन्देह से रहित उनकी साधना उन्हें मोक्ष ले जाने में सहायक हुई।[1]

शिवपुराण में ऋषभ का उल्लेख करते हुए लिखा है, कि नाभि के ऋषभादि मुनीश्वर पुत्र हुए और उन ऋषभदेव के सौ पुत्र हुए। उन सब पुत्रों में भरत बड़े थे। नौ पुत्रों ने दीक्षा धारण कर वीतराग पद को प्राप्त किया। भगवान ऋषभदेव की कर्म-परायण बुद्धि ने शेष इक्यासी पुत्रों को कार्य-कुशल बना दिया और वे सब कार्य सम्हालने लगे। क्षत्रियोचित कर्त्तव्य का पालन कर अन्त में मोक्ष मार्ग के पथिक बने।[2]

इसी प्रकार आग्नेयपुराण,[3] ब्रह्माण्ड-पुराण[4], विष्णुपुराण,[5]

---

१ नाभेर्निसर्गं वक्ष्यामि हिमांकेऽस्मिन्निबोधत।
नाभिस्त्वजनयत्पुत्र मरुदेव्यां महामतिः॥
ऋषभं पार्थिवं श्रेष्ठं सर्वक्षत्रस्य पूजितम्।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताग्रजः॥
सोऽभिषिच्याऽपि ऋषभो भरतं पुत्रवत्सलः।
ज्ञानवैराग्यमाश्रित्य जितेन्द्रिय महोरगान्॥
निराशस्त्यक्तसन्देहः शैवमाप परं पदम्। —लिंगपुराण, ४८।१९-२३

२ तस्य पुत्रास्तदा जाता ऋषभाद्याः मुनीश्वराः।
तस्य पुत्रशत ह्यासीदृषभस्य महात्मनः॥
सर्वेषां चैव पुत्राणां ज्येष्ठो भरत एव च।
नवयोगीन्द्रतां प्राप्ताः वीतरागास्तथाऽभवन्॥
जनकस्य तु विज्ञात तैर्दत्तं तु महात्मनः।
एकाशीतिः ततो जाताः कर्ममार्गपरायणाः॥
क्षत्रियाणां यथाकर्म कृत्वा मोक्षपरायणाः।
ऋषभश्चोर्वेरिताना हिताय ऋषिसत्तमाः॥ —शिवपुराण ५२।८५

३ जरामृत्युभयं नास्ति धर्माधर्मौ युगादिकम्।
नाधर्मं मध्यमं तुल्या हिमादेशात्तु नाभित.॥
ऋषभो मरुदेव्यां च ऋषभाद् भरतोऽभवत्।
ऋषभोदात्त श्रीपुत्रे शाल्यग्रामे हरिं गतः॥ —आग्नेयपुराण १०।११-१२

४ नाभिस्त्वजनयत् पुत्रं मरुदेव्यां महाद्युतिम्।
ऋषभं पार्थिवं श्रेष्ठं सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम्॥ —ब्रह्माण्डपुराण पूर्व १४।५३

५ न ते स्वस्ति युगावस्था क्षेत्रेष्वष्टसु सर्वदा।
हिमाह्वयं तु वै वर्षं नाभेरासीन्महात्मनः॥
तस्यर्षभोऽभवत्पुत्रो मरुदेव्यां महाद्युतिः।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे ज्येष्ठः पुत्रशतस्य सः॥
—विष्णुपुराण, द्वितीयांश, अ० १।२६-२७

कूर्मपुराण[1] नारदपुराण,[2] वाराहपुराण,[3] स्कन्धपुराण[4] आदि पुराणों में ऋषभदेव भगवान का नामोल्लेख ही नहीं, वरन् उनके जीवन की घटनाएँ भी विस्तृत रूप से दी गई हैं।

इस प्रकार सभी हिन्दू-पुराण इस विषय में एकमत हैं, कि नाभि के पुत्र ऋषभदेव, उनकी माता मरुदेवी तथा पुत्र भरत थे जो अपने सौ भाइयों से ज्येष्ठ थे।

---

१ हिमाह्वयं तु यद्वर्षं नाभेरासीन्महात्मनः।
तस्यर्षभोऽभवत्पुत्रो मरुदेव्यां महाद्युतिः॥
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रः शताग्रजः।
सोऽभिषिच्यर्षभः पुत्रं भरतं पृथिवीपतिः॥ —कूर्मपुराण ४१।३७,३८

२ नारदपुराण, पूर्वखंड, अ० ४८

३ नाभिर्मरुदेव्यां पुत्रमजनयत् ऋषभनामानं तस्य भरतः पुत्रश्च।
—वाराहपुराण अ० ७४

४ नाभेः पुत्रश्च ऋषभ. ऋषभाद् भरतोऽभवत्। —स्कन्धपुराण अ० ३७

इतर साहित्य में ऋषभदेव

- बौद्ध साहित्य में ऋषभदेव
- इतिहास और पुरातत्त्व के आलोक में
- पाश्चात्य विद्वानों की खोज

बौद्ध साहित्य में ऋषभदेव

बौद्ध-वाङ्मय में श्रमण भगवान महावीर के जीवन-प्रसंग और निर्ग्रन्थधर्म का उल्लेख अनेक स्थलों पर उपलब्ध होता है। यद्यपि जैन-आगम ग्रन्थों में महावीर के समकालीन व्यक्ति के रूप में बुद्ध का संकेत तक भी नहीं मिलता, किन्तु बौद्ध त्रिपिटकों में 'निगंठ नायपुत्त' का निर्देश, तथा एक प्रबल प्रतिद्वन्द्वी के रूप में उनका विवरण बहुतायत से मिलता है, अतः बुद्ध, भगवान महावीर के समकालीन होने से उनका उल्लेख बौद्ध साहित्य में हुआ है। जैन साहित्य में तथागत बुद्ध का उल्लेख न होने का कारण यह है कि भगवान महावीर कुछ पहले हुए हैं और बुद्ध बाद में हुए हैं। महावीर के समय बुद्ध का इतना प्रचार नहीं था पर बुद्ध के समय महावीर का पूर्ण प्रचार हो चुका था। अतः अपने प्रचार के लिये बुद्ध को महावीर का विरोध करना आवश्यक हो गया था। यह सत्य है कि भगवान ऋषभदेव का वर्णन जैसा वैदिक साहित्य में सविस्तृत मिलता है, उतना बौद्ध-साहित्य में नहीं। तथापि यत्र-यत्र भगवान महावीर तथा भरत के साथ-साथ भगवान ऋषभदेव का उल्लेख मिलता है। धम्मपद में ऋषभ और महावीर का एक साथ नाम आया है।[1]

जैन साहित्य में कुलकरों की परम्परा में नाभि और ऋषभ का जैसा स्थान है वैसा ही स्थान बौद्ध परम्परा में महासमंत्त का है।[2] सामयिक परिस्थिति भी दोनों में समान रूप से चित्रित हुई है। संभवतः बौद्ध परम्परा में ऋषभ का ही अपर नाम महासमत्त हो।

बौद्धग्रन्थ 'आर्य मञ्जुश्री मूलकल्प' मे भारत के आदि-सम्राटों में नाभिपुत्र ऋषभ और ऋषभपुत्र भरत का उल्लेख किया गया है—उन्होंने हिमालय से सिद्धि प्राप्त की।[3] वे व्रतों का परिपालन करने में दृढ़ थे, वे

---

१ उसमं पवर वीर महेसिं विजिताविनं।
अनेज नहातकं बुद्ध तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ —धम्मपद ४२२

२ दीघनिकाय—(क) अग्गञ्ञसुत्त भाग ३ (ख) जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग १, प्रस्तावना, पृ० २२।

३ जैनदृष्टि से सिद्धि-स्थल अष्टापद है, हिमालय नही। —लेखक

ही निर्ग्रन्थ तीर्थंकर ऋषभदेव जैनों के आप्तदेव थे।[1] इसी ग्रन्थ में एक स्थान पर कपिल के साथ भी उनका उल्लेख किया गया है।[2] धम्मपद में ऋषभ को सर्वश्रेष्ठ वीर अभिहित किया है।[3]

न्यायबिन्दु नामक ग्रन्थ में धर्मकीर्ति ने सर्वज्ञ के दृष्टान्त में भगवान ऋषभदेव और भगवान महावीर का नामोल्लेख देते हुए कहा है—'जो सर्वज्ञ अथवा आप्त हैं, वे ज्योतिर्ज्ञानादिक के उपदेष्टा होते हैं, जैसे—ऋषभ, वर्धमान आदि।'[4]

आर्यदेव विरचित षट्शास्त्र में भी ऋषभदेव का उल्लेख किया गया है। वहाँ कपिल, कणाद आदि ऋषियों के साथ ऋषभदेव की मान्यता का वर्णन है। उन्होंने लिखा है कपिल, ऋषभ और कणादादि ऋषि 'भगवत्' कहे जाते हैं। ऋषभदेव के शिष्य निर्ग्रन्थ धर्म-शास्त्रों का पठन करते हैं। ऋषभ कहते हैं 'तप का आचरण करो, केश-लुञ्चनादि क्रियाएँ करो, यही पुण्यमय हैं।' उनके साथ कुछ ऐसे अध्यापक थे जो व्रत, उपवास व प्रायश्चित्त आदि करते, अग्नि तपते, सदैव स्थिर रहते, मौन-वृत्ति धारण करते थे गिरि-शिखर से पतन करते अथवा ऐसी क्रियाओं का समाचरण करते थे जो उन्हें गो-सदृश शुक्ल बनाती थीं। उन क्रियाओं को वे पुण्यशाली समझते थे, और वे समझते थे, कि इस प्रकार हम अति शुक्ल-धर्म का आचरण करते हैं।[5]

त्रिशास्त्र-संप्रदाय के संस्थापक श्री चि-त्संग ने उपर्युक्त कथन का विश्लेषण करते हुए कहा है—'ऋषभ तपस्वी ऋषि हैं, उनका सदुपदेश है,

---

१ प्रजापतेः सुतो नाभि तस्यापि आगमुच्यति।
नाभिनो ऋषभपुत्रो वै सिद्ध कर्म दृढव्रत॥
तस्यापि मणिचरो यक्षः सिद्धो हैमवते गिरौ।
ऋषभस्य भरतः पुत्रः सोऽपि मंजतान तदा जपेत॥
निर्ग्रन्थ तीर्थङ्कर ऋषभ निर्ग्रन्थ रूपि···

—आर्य मंजुश्री मूलकल्प श्लो० ३९०-३९२

२ कपिल मुनिनाम ऋषिवरो, निर्ग्रन्थ तीर्थङ्कर···· —वही ३९२

३ उसभं पवरं वीरं —धम्मपद ४२२

४ यः सर्वज्ञ आप्तो वा स ज्योतिर्ज्ञानादिकमुपदिष्टवान् तद्यथा ऋषभवर्धमानादिरिति। —न्यायबिन्दु

५ तैशोत्रिपिटक ३३।१६८

कि हमारे देह को सुख-दुःख का अनुभव होता है। दुःख, पूर्व-संचित कर्म-फल होने से इस जन्म में तप-समाधि द्वारा नष्ट किया जा सकता है, दुःख का नाश होने से सुख तत्क्षण प्रकट हो जाता है। ऋषभदेव का धर्म ग्रन्थ 'निर्ग्रन्थ सूत्र' के नाम से विश्रुत है और उसमें सहस्रों कारिकाएँ हैं।'

इन्होंने स्वरचित उपाय हृदय शास्त्र में भगवान ऋषभदेव के सिद्धान्तों का भी वर्णन किया है। उन्होंने बताया है, कि 'ऋषभदेव के मूल-सिद्धान्त में पञ्चविध ज्ञान, छह आवरण और चार कषाय हैं। पाँच प्रकार का ज्ञान—श्रुत, मति, केवल, मनःपर्यव और अवधि है। छह आवरण हैं—दर्शनावरणी, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, गोत्र और नाम। इनकी विपक्षी शक्तियाँ छह ऐश्वर्य हैं। चार कषाय—क्रोध, मान, लोभ और माया हैं। इस प्रकार ये ऋषभदेव के मूलभूत सिद्धान्त हैं, इसी कारण वे 'भगवत्' कहे जाते हैं।'[1]

श्री चि-त्संग ने यद्यपि जैनदर्शन सम्मत सिद्धान्तों का ही वर्णन प्रस्तुत किया है तथापि कुछ त्रुटियाँ क्रमापेक्षा और संख्यापेक्षा से हैं। उन्होंने षट्-शास्त्र में उल्लिखित उलूक, कपिल आदि ऋषियों के बारे में अपना मन्तव्य प्रस्तुत करते हुए कहा है, कि "इन सब ऋषियों के मत ऋषभदेव के धर्म की ही शाखाएँ हैं।[2] ये सब ऋषि ऋषभदेव के समान ही उपवासादि करते थे, परन्तु इनमें कुछ ऋषि फल के तीन टुकड़े दिन-भर में ग्रहण करते थे, कुछ ऋषि वायु का आसेवन करते थे और तृण, घास आदि का आहार करते थे तथा मौन-वृत्ति को धारण करते थे।"[3]

इनके अतिरिक्त बौद्ध साहित्य में ऋषभदेव के सम्बन्ध में अन्यत्र वर्णन नहीं मिलता है।

□

---

1 A Commentary on the Sata Sastra, 1, 2. Taisho tr. Vol. 42, p. 244.

2 These teachers are offshoots of the sect of Rishabha.

3 Vol. 42, p. 427.

इतिहास और पुरातत्त्व के आलोक में

भगवान ऋषभदेव प्राग्ऐतिहासिक युग में हुए हैं। आधुनिक इतिहास उनके सम्बन्ध में मौन है। ऐतिहासिक दृष्टि से अर्हत् अरिष्टनेमि, पुरुषादानी पार्श्व और महावीर ये तीन ऐतिहासिक पुरुष हैं, किन्तु ऋषभदेव इतिहास की परिगणना के पूर्व हुए हैं, तथापि पुरातत्त्व आदि सामग्री से ऋषभदेव के सम्बन्ध में पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

मोहनजोदड़ो की खुदाई से सम्प्राप्त मोहरों में एक ओर नग्न ध्यानस्थ योगी की आकृति उट्टङ्कित है तो दूसरी ओर वृषभ का चिह्न है जो भगवान ऋषभदेव का लांछन माना जाता है, अतः विज्ञों का ऐसा अभिमत है, कि यह ऋषभदेव की ही आकृति होनी चाहिये, और वे उस युग में जन-जन के आराध्य रहे होंगे।

स्वर्गीय डा० रामधारीसिंह दिनकर लिखते हैं—मोहजोदड़ो की खुदाई में प्राप्त मोहरों में से एक में योग के प्रमाण मिले हैं। एक मोहर में एक वृषभ तथा दूसरी ओर ध्यानस्थ योगी है और जैन धर्म के आदि तीर्थंकर ऋषभदेव थे। उनके साथ भी योग की परम्परा इसी प्रकार लिपटी हुई है। यह परम्परा बाद में शिव के साथ समन्वित हो गई। इस दृष्टि से कई जैन विद्वानों का यह मानना अयुक्ति युक्त नहीं दिखता कि ऋषभदेव वेदोल्लिखित होने पर भी वेद-पूर्व हैं।[1]

मथुरा के संग्रहालय में जो शिलालेख उपलब्ध हुए हैं, वे दो सहस्र वर्ष पूर्व राजा कनिष्क और हुविष्क प्रभृति के शासन काल के हैं। डॉ० फूहरर उन शिलालेखों के गंभीर अनुसंधान के पश्चात् इस निष्कर्ष पर पहुँचे, कि प्राचीन युग में ऋषभदेव का अत्यधिक महत्त्व था, वे जन-जन के मन में बसे हुए थे। उन्हें भक्ति-भावना से विभोर होकर लोग अपनी श्रद्धा अर्पित करते थे।

सी० विंसेन्ट ए० स्मिथ का यह अभिमत है, कि मथुरा से जो सामग्री प्राप्त हुई है, वह लिखित जैन-परम्परा के समर्थन में विस्तार से प्रकाश डालती है और साथ ही जैनधर्म की प्राचीनता के सम्बन्ध में अकाट्य

---

१ आजकल, मार्च १९६२ पृ० ८।

प्रमाण भी प्रस्तुत करती है एवं इस बात पर बल देती है, कि प्राचीन समय में भी जैनधर्म इसी रूप में मौजूद था। ई० सन् के प्रारम्भ में भी अपने विशेष चिह्नों के साथ चौबीस तीर्थङ्करों की मान्यता में दृढ़तम विश्वास था।[1]

अन्तर्राष्ट्रीय विद्वान् डॉ० हर्मन जेकोबी ने तीर्थङ्करों की ऐतिहासिकता पर अनुसंधान करते हुए लिखा, कि पार्श्वनाथ को जैनधर्म का प्रणेता या संस्थापक सिद्ध करने के लिये कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। जैन-परम्परा प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव को जैनधर्म का संस्थापक मानने में एकमत है। इस मान्यता में ऐतिहासिक सत्य की सम्भावना है।[2]

श्री स्टीवेन्सन ने डॉ० हर्मन जेकोबी के अभिमत का समर्थन करते हुए लिखा है, कि जब जैन और ब्राह्मण दोनों ही ऋषभदेवे को इस कल्प काल में जैनधर्म का संस्थापक मानते हैं तो प्रस्तुत मान्यता को अविश्वसनीय नहीं माना जा सकता।[3]

श्री वरदाकान्त मुखोपाध्याय एम. एन. ए. ने विभिन्न ग्रन्थ व शिलालेखों के परिशीलन के पश्चात् दृढ़ता के साथ इस बात पर बल दिया है, कि लोगों का यह भ्रमपूर्ण विश्वास है, कि पार्श्वनाथ जैनधर्म के

---

1 The discoveries have to a very large extent supplied corroboration to the written Jain tradition and they offer tangible incontrovertible proof of the antiquity of the Jain religion and of its early existence very much in its present form. The series of twentyfour pontiffs (Tirthankaras), each with his distinctive emblem, was evidently firmly believed in at the beginning of the Christian era.

—*The Jain Stup*—Mathura, Intro , P. 6

2 There is nothing to prove that Parshva was the founder of Jainism. Jain tradition is unanimous in making Rishabha something historical in the tradition which makes him the first Tirthankara. —*Indian Antiquary*, Vol. IX, P. 163

3 It is so seldom that Jains and Brahmanas argee, that I do not see how we can refuse them credit in this instance, where they, do so. —*Kalpa Sutra*. Intro., P. XVI

संस्थापक थे, किन्तु सत्य यह है, कि इसका प्रथम प्रचार ऋषभदेव ने किया और उसकी पुष्टि में प्रमाणों का अभाव नहीं है।[१]

कितने ही पुरातत्त्वविज्ञ तीर्थङ्करों के सम्बन्ध में अनुसंधान न कर जैनधर्म के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखते हैं कि निस्संदेह जैनधर्म ही सम्पूर्ण विश्व में एक सच्चा धर्म है और यही समस्त मानवों का आदि धर्म है।[२]

प्रोफेसर तान-युन-शान के शब्दों में 'अहिंसा का प्रचार वैज्ञानिक तथा स्पष्ट रूप से जैन तीर्थङ्करों द्वारा किया गया है जिसमें अन्तिम महावीर वर्धमान थे।'

केन्द्रीय धारा सभा के भूतपूर्व अध्यक्ष षण्मुख चेट्टी का यह अभिमत है कि भारत के जैनी ही यहाँ के मूल निवासी हैं क्योंकि आर्य लोग जब बाहर से भारत में आये थे उस समय भारत में जो द्रविड़ लोग रहते थे उनका धर्म जैनधर्म ही था।

महामहापोध्याय डॉ० शतीशचन्द्रजी विद्याभूषण, प्रिंसिपल संस्कृत कालेज, कलकत्ता का यह मन्तव्य है कि जैनधर्म तब से प्रचलित है जब से संसार में सृष्टि का आरम्भ हुआ है। मुझे इसमें किसी प्रकार का उज्र नहीं है कि वह वेदान्त आदि दर्शनों से पूर्व का है।

लोकमान्य बालगंगाधर तिलक लिखते हैं—'ग्रन्थों एवं सामाजिक आख्यानों से जाना जाता है, कि जैन धर्म अनादि है—यह विषय निर्विवाद एवं मत-भेद से रहित है। सुतरां, इस विषय में इतिहास के सबल प्रमाण हैं……जैनधर्म प्राचीनता में प्रथम नम्बर है। प्रचलित धर्मों में जो प्राचीन धर्म हैं, उनमें भी यह प्राचीन है।'[3]

महामहोपाध्याय पं० राममिश्र शास्त्री जैनधर्म की प्राचीनता को सप्रमाण प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं—"जैनधर्म तब से प्रचलित हुआ

---

१ जैनधर्म की प्राचीनता, पृ० ८

2 Yea, his (Jain) religion is the only true one upon earth, the primitive faith of all mankind.

—Description of the Character, Manners and Customs of the People of India and of their institutions religious and civil.

३ अहिंसा वाणी, वर्ष ६, अंक ४, जुलाई ५६, पृ० १६७-१६८

जब से सृष्टि का प्रारम्भ हुआ। इसमें मुझे किसी भी प्रकार की आपत्ति नहीं है, कि जैनधर्म वेदान्तादि दर्शनों से पूर्व का है।"

सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ प्रो० मेक्समूलर जैनधर्म को अन्य धर्म की शाखा न मानकर लिखते हैं—"विशेषत: प्राचीन भारत में किसी भी धर्मान्तर से कुछ ग्रहण करके एक नूतन धर्म प्रचार करने की प्रथा ही नहीं थी। जैन-धर्म हिन्दूधर्म से सर्वथा स्वतन्त्र है, वह उसकी शाखा या रूपान्तर नहीं है।"

पाश्चात्य विचारक मेंजर जनरल जे० सी० आर० फर्लांग, एफ० आर० एस० ई० ने लिखा है कि—"बौद्धधर्म ने प्राचीन ईसाई धर्म को कौन से ऐतिहासिक साधनों से प्रभावित किया इसकी गवेषणा करते हुए यह निःसन्देह स्वीकार करना होगा कि इस धर्म ने जैनधर्म को स्वीकार किया था, जो वास्तव में अरबों, खरबों वर्षों से करोड़ों मनुष्यों का प्राचीन धर्म था।[१] जैनधर्म के आरम्भ को जान पाना असम्भव है।[२] भारतवर्ष का सबसे प्राचीन धर्म जैनधर्म ही है।"[३]

सन् १९५६ में जापान के शिमुजू नगर में विश्वधर्म परिषद का आयोजन हुआ था। उस आयोजन में वर्मा उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति मा० यूचान० तुनआंग ने अपने अध्यक्षीय अभिभाषण में कहा—"जैन-धर्म संसार के ज्ञात सभी प्राचीन धर्मों में से एक है, और उसका घर भारत है।[४]

डॉ० जिम्मर जैनधर्म को प्रागैतिहासिक तथा वैदिक धर्म से पृथक् धर्म है इसका प्रतिपादन करते हुए लिखते हैं—"ब्राह्मण आर्यों से जैनधर्म की उत्पत्ति नहीं हुई है, अपितु वह बहुत ही प्राचीन प्राक् आर्य उत्तर-पूर्वी

---

1 Through what historical channels did Buddhism influence early Christianity, we must widen this enquiry by making it embrace Jainism the undoubtedly prior faith of comparative religion.

—*Intro.*, p. 1

2 It is impossible to find a beginning for Jainism .—*Ibid.*, p. 13

3 Jainism thus appears an earliest faith of India. —*Ibid.*, p. 15

४ अहिंसा वाणी, वर्ष ६, अंक ७, अक्टूबर १९५६, पृ० ३०५।

भारत की उच्च श्रेणी के सृष्टि विज्ञान एवं मनुष्य के आदि विकास तथा रीति-रिवाजों के अध्ययन को व्यक्त करता है ।[1]

आज प्रागैतिहासिक काल के महापुरुषों के अस्तित्व को सिद्ध करने के साधन उपलब्ध नहीं हैं, इसका अर्थ यह नहीं है, कि वे महापुरुष हुए ही नहीं हैं। इस अवसर्पिणी काल में भोगभूमि के अन्त में अर्थात् पाषाण काल के अवसान पर कृषि काल के प्रारम्भ में प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभ हुए, जिन्होंने मानव को सभ्यता का पाठ पढ़ाया। उनके पश्चात् और भी तीर्थङ्कर हुए, जिनमें से कितनों का उल्लेख वेदादि ग्रंथों में भी मिलता है, अतः जैनधर्म भगवान ऋषभदेव के काल से चला आ रहा है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि, जैनधर्म प्रागैतिहासिक, अति प्राचीन और अनादि है। अतीत काल से प्रचलित धर्म है और उसके संस्थापक भगवान ऋषभदेव हैं। सम्राट् भरत उनके पुत्र थे। इन प्रमाणों के अतिरिक्त अन्य इतिहास के प्रमाण उपलब्ध नहीं होते, क्योंकि भगवान ऋषभ प्रागैतिहासिक काल में हुए हैं।

पुरातात्त्विक दृष्टि से पृथ्वी पर मानव की उत्पत्ति लगभग अठारह लाख वर्ष पूर्व अफ्रीका में हुई थी, जब कि भारतवर्ष में मनुष्य जाति का आविर्भाव मध्य प्लायस्टोसिन (Middle Pleistocine) काल अर्थात् लगभग दो लाख वर्ष पूर्व माना गया है। प्रारम्भ के पाषाणयुगीन मानवों के औजार तो सरिता के तटों पर उपलब्ध हुए हैं। करीब पच्चीस हजार वर्ष पूर्व के मध्य पाषाण युगीन मानवों ने शिकार के साथ कन्दमूल का आहार करना भी सीख लिया था, पर ईसा से चार सहस्र वर्ष पूर्व तक भारतीय मानव को मिट्टी के पात्रों का निर्माण करना और कृषि कर्म परिज्ञात नहीं था। क्वेटा के सन्निकट कीली गोल मोहम्मद के पुरातात्त्विक उत्खनन से ज्ञात मिट्टी के पात्र रहित ग्राम्य संस्कृति का समय कार्बन-१४ की प्रविधि से ३६९० ± ८५ ई० पू० व ३५१० ± ५१५ ई० पू० निश्चित किया गया है। इस समय तक पशुपालन और कृषि का प्रारम्भ हो चुका था। सिन्धु घाटी

---

१ Jainism, does not derive from Brahman Aryan sources but reflects the cosmology and anthropology of a much old, Pre-Aryan upper class of north-eastern India.

—*The Philosophies of India*, P. 217

सभ्यता के पूर्व की कोटड़जी और कालीबंगा की संस्कृति का समय तीन हजार ई० पूर्व निश्चित किया गया है। जिस समय मिट्टी के पात्र एवं सुव्यवस्थित भव्य भवन बनाने का कार्य प्रारम्भ हो चुका था। सिन्धु घाटी सभ्यता का विस्तार सौराष्ट्र तथा पश्चिमी राजस्थान के अतिरिक्त गंगा घाटी में आलमगिरपुर तक था। जिसका समय पच्चीस सौ से अठारह सौ ई० पूर्व माना जाता है। प्रस्तुत आर्येतर संस्कृति के प्रति घृणा के भाव ऋग्वेद के प्रारम्भिक सूक्तों में प्रकट हुए हैं। राजस्थान एवं मध्यप्रदेश की ताम्राश्मयुगीन ग्राम्य संस्कृति का काल १६०० से ६०० ई० पूर्व तथा गंगा-यमुना की घाटी में विकसित आकर वेयर की ग्राम्य संस्कृति अठारह सौ से ग्यारह सौ ई० पू० और उसी परम्परा में आर्यों से सम्बद्ध की जाने वाली चित्रित सिलेटी पात्रों की संस्कृति का काल ग्यारह सौ ई० पू० माना गया है।

भारत के सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ श्री जयचन्द विद्यालंकार ने लिखा है—"जैनों का मत है, कि जैनधर्म अति प्राचीन है, और महावीर से पूर्व तेवीस तीर्थङ्कर हो चुके हैं, जो उस धर्म के प्रवर्तक एवं प्रचारक थे। सर्वप्रथम तीर्थङ्कर सम्राट् ऋषभदेव थे जिनके एक पुत्र भरत के नाम से इस देश का नाम भारतवर्ष प्रसिद्ध हुआ।"

जैनधर्म के आद्य-संस्थापक भगवान ऋषभदेव के जन्म, राज्यशासन का मुख्य केन्द्र अयोध्या और इक्ष्वाकुभूमि, हस्तिनापुर आदि बस्ती का समय ई० पू० अठारह सौ वर्ष मानते हैं। यह जो मन्तव्य है वह ऐतिहासिक विद्वानों का है।

ऋषभदेव और परवर्ती तीर्थङ्करों के वंश, जन्मस्थली, वर्ण, नाम एवं शासन क्षेत्र से उन्हें आर्यरक्त मानने की परम्परा उचित है। यद्यपि पुरातत्त्ववेत्ता गंगा घाटी की चित्रित सिलेटी पात्र संस्कृति को ही आर्यों से सम्बन्धित करते हैं, क्योंकि इसके पूर्व की आर्यों की भूमि के रूप में सप्तसिंधु प्रदेश और ब्रह्मवर्त प्रदेश की प्रतिष्ठा वैदिक साहित्य में प्रगट होती है।

सिन्धु घाटी की आर्येतर सभ्यता के प्राप्त ध्वंसावशेष और उत्खननों से भी यही प्रतीत होता है, कि जैनधर्म के आदि संस्थापक ऋषभदेव थे। यदि हम जैनेतर साहित्यिक प्रमाणों का विवेचन करें, तो उनका चरित्र पौराणिक मनु से मिलता है।

ऋग्वेद में वर्णित वातरशना मुनि व ऋषभदेव श्रमण संस्कृति से सम्बन्धित हैं।

ऋग्वेद हम्मुराबी (ई० पू० २१२३-२०१८) के अभिलेखों, सिन्धु सभ्यता, सुमेरु सभ्यता एवं ईरान में वृषभ को देव रूप माना गया था। सम्भवतः कृषि कर्म की महत्ता के कारण वृषभ को यह विशिष्ट गौरव प्रदान किया गया होगा। भारत की आर्येतर सिन्धु सभ्यता में बैल की मृण्मय मूर्तियाँ एवं मुद्रांकित श्रेष्ठ आकृतियों से ऋषभदेव की महत्ता स्पष्ट होती है।

□

पाश्चात्य विद्वानों की खोज

जैनधर्म भारत के ही विविध अंचलों में नहीं अपितु वह एक दिन विदेशों में भी फैला हुआ था। हमारे प्रस्तुत कथन की पुष्टि महान् विचारक पादरी रेवरेण्ड एब्बे जे० ए० डुबाई ने अपनी फान्सीसी भाषा की पुस्तक में एक जगह की है। वे लिखते हैं—"एक युग में जैनधर्म सम्पूर्ण एशिया में साइबेरिया से राजकुमारी तक और केस्पीयन झील से लेकर केम्स चटका खाड़ी तक फैला हुआ था।" रेवरेण्ड डुबाई के प्रस्तुत अभिमत की पुष्टि में भी अनेक प्रमाण हैं। विदेशों में अनेक स्थलों पर खुदाई करने पर तीर्थङ्करों की विभिन्न मुद्राएं प्राप्त हुई हैं जो वहाँ की अनुश्रुतियों में भी विभिन्न घटनाओं एवं तथ्यों को उजागर करती हैं।

भगवान ऋषभदेव विदेशों में भी परमाराध्य रहे हैं। वहाँ पर वे कृषि के देवता, वर्षा के देवता और सूर्य देव के रूप में उपास्य रहे हैं।

डॉ० कामताप्रसाद जैन ने सभी मान्यताओं और गवेषणाओं का वर्गीकरण करते हुए लिखा है—"पूर्व में चीन और जापान भी उनके नाम और काम मे परिचित हैं। बौद्ध-चीनी त्रिपिटक में उनका उल्लेख प्राप्त होता है। जापानियों ने (Rok' shab) कहकर आह्वान किया है। मध्य-एशिया, मिश्र और यूनान में वे सूर्यदेव—ज्ञान की दृष्टि से आराध्य रहे हैं, और फोनेशिया में रेशेफ नाम से बैल के चिह्न मे उट्टङ्कित किये गये हैं। मध्य एशिया में ऋषभदेव (Bull God) अर्थात् 'बाड आल' नाम से अभिहित किये गये हैं। फणिक लोगों की भाषा में रेशेफ शब्द का अर्थ 'सींगों वाला देवता' है, जो ऋषभ के बैल के चिह्न का द्योतक है। साथ ही 'रेशेफ' शब्द का साम्य भी 'ऋषभ' शब्द से है।"

प्रोफेसर आर० जी० हर्षे ने अपने अन्वेषणात्मक लेख[1] में लिखा है—'आलसिफ (साइप्रस) से प्राप्त अपोलो (सूर्य) की ई० पूर्व बारहवीं शती की प्रतिकृति का द्वितीय नाम 'रेशेफ' (Reshef) है। प्रस्तुत रेशेफ

---

१ बुलेटिन आव दी डेक्कन कॉलेज रिसर्च इन्स्टीट्यूट, भाग १४, खण्ड ३, पृ० २२६-२३६।

'ऋषभ' का ही अपभ्रंश रूप हो सकता है और सम्भव है, कि यह ऋषभ ही ऋषभदेव होने चाहिये। यूनान में सूर्यदेव अपोलो की ऐसी प्रतिकृतियाँ प्राप्त हुई हैं, जिनका साम्य ऋषभदेव की प्रतिकृति के साथ हो सकता है।

डॉक्टर कालीदास नाग ने मध्य एशिया में डेल्फी स्थल से संप्राप्त एक आर्गिव प्रतिमूर्ति का चित्र अपनी पुस्तक में दिया है, जिसे वे लगभग दस सहस्र वर्ष पुराना मानते हैं, जो भगवान ऋषभदेव की आकृति से मिलता-जुलता है। इसमें कन्धों पर लहराती जटाएँ भी दिखाई गई हैं, जो उनके केश रखने का प्रतीक है। 'आर्गिव' शब्द का अर्थ सम्भवत: अग्र-मानव या अग्रदेव के रूप में हो सकता है।

'फणिक लोग जैनधर्म के उपासक भी थे' प्रस्तुत कथन जैनकथा साहित्य में आये हुए फणिक लोगों के उदाहरणों से ज्ञात होता है। अत: फणिकों के बाड्ल (Bull God) ऋषभ ज्ञात होते हैं। यह नाम प्रतीकवादी शैली में है।

इस प्रकार भारत के अतिरिक्त बाह्य देशों में भी भगवान ऋषभदेव का विराट् व्यक्तित्व विभिन्न रूपों में चमका है। सम्भव है, उन्होंने मानवों को कृषि कला का परिज्ञान कराया था अतः वे 'कृषि देवता' कहे गये हों। आधुनिक विज्ञ उन्हें 'एग्रीकल्चर एज' का मानते हैं। देशना रूपी वर्षा करने से वे 'वर्षा के देवता' कहे गये हैं। केवलज्ञानी होने से 'सूर्यदेव' के रूप में मान्य रहे हों।

ऋषभदेव का जीवन व्यक्तित्व और कृतित्व विश्व के कोटि-कोटि मानवों के लिये कल्याणरूप, मंगलरूप व वरदानरूप रहा है। वे श्रमण संस्कृति व ब्राह्मण संस्कृति के आदि पुरुष हैं। वे भारतीय संस्कृति के ही नहीं; मानव संस्कृति के आद्य-निर्माता हैं। उनके हिमालय सदृश विराट् जीवन पर दृष्टिपात करने से मानव का मस्तिष्क ऊँचा हो जाता है और अन्तरभाव श्रद्धा से नत हो जाता है।

□

श्री वृषभ-जिन-स्तवन

(आचार्य समन्तभद्र)

(१)

स्वयंभुवा भूत - हितेन भूतले,
समंजस - ज्ञान - विभूति - चक्षुषा ।
विराजितं येन विधुन्वता तमः,
क्षपाकरेणेव गुणोत्करैः करैः ॥

(२)

प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषुः,
शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः ।
प्रबुद्ध - तत्त्वः पुनरद्भुतोदयो,
ममत्वतो निर्विविदे विदांवरः ॥

(३)

विहाय यः सागर - वारि - वाससं,
वधूमिवेमां वसुधा - वधूं सतीम् ।
मुमुक्षुरिक्ष्वाकु - कुलादिरात्मवान्,
प्रभुः प्रवव्राज सहिष्णुरच्युतः ॥

(४)

स्वदोष - मूलं स्वसमाधितेजसा,
निनाय यो निर्दय-भस्मसात् क्रियाम् ।
जगाद तत्त्वं जगतेऽर्थिनेऽञ्जसा,
बभूव च ब्रह्म - पदाऽमृतेश्वरः ॥

(५)

स विश्व-चक्षुर्वृषभोऽर्चितः सतां,
समग्र विद्यात्म - वपुर्निरञ्जनः ।
पुनातु चेतो मम नाभिनंदनो,
जिनोऽजित - क्षुल्लक - वादिशासनः ॥

द्वितीय खण्ड

भगवान ऋषभदेव के पूर्वभव

भगवान ऋषभदेव के पूर्वभव

- ☐ श्रमण संस्कृति
- ☐ एक फुलवारी
- ☐ आस्तिक्य
- ☐ सुनहरे चित्र
- ☐ धन्ना सार्थवाह
- ☐ उत्तरकुरु में मनुष्य
- ☐ सौधर्म देवलोक
- ☐ महाबल
- ☐ ललितांग देव
- ☐ वज्रजंघ
- ☐ युगल
- ☐ सौधर्म कल्प
- ☐ जीवानन्द वैद्य
- ☐ अच्युत देवलोक
- ☐ वज्रनाभ
- ☐ सर्वार्थसिद्ध
- ☐ ऋषभदेव

भगवान ऋषभदेव के पूर्वभव

श्रमण संस्कृति

श्रमण संस्कृति आर्यावर्त की एक विशिष्ट और महान् संस्कृति है, जो अज्ञात काल से ही विश्व को आध्यात्मिक विचारों का पाथेय प्रदान करती रही है। वे विमल विचार काल्पनिक-वायवीय न होकर जीवन-प्रसूत हैं, अनुभव परिचालित हैं। डाक्टर एल. पी. टेसीटरी के शब्दों में—"इसके मुख्य तत्त्व विज्ञानशास्त्र के आधार पर रचे हुए हैं। यह मेरा अनुमान ही नहीं बल्कि अनुभवमूलक पूर्ण दृढ़ विश्वास है, कि ज्यों-ज्यों पदार्थ-विज्ञान उन्नति करता जायेगा, त्यों-त्यों जैनधर्म के सिद्धान्त सत्य सिद्ध होते जायेंगे।"

एक फुलवाड़ी

श्रमण संस्कृति एक अद्‌भुत फुलवाड़ी है, जिसमें भक्तियोग की भव्यता, ज्ञानयोग का गौरव, कर्मयोग की कठिनता, अध्यात्मयोग का आलोक, तत्त्वज्ञान की तल-स्पर्शिता, दर्शन की दिव्यता, कला की कमनीयता, भाषा की प्राञ्जलता, भावों की गम्भीरता और चरित्र-चित्रण के फूल खिल रहे हैं, महक रहे हैं, जो अपनी सहज-सलौनी सुवास से जन-जन के मन को मुग्ध कर रहे हैं।

आस्तिक्य

श्रमण-संस्कृति की विचारधारा का आधार आस्तिकता है। आस्तिक और नास्तिक शब्दों को सुधी विज्ञों ने जिस प्रकार विभिन्न विधाओं में संजोया है, पिरोया है, उससे वह चिरचिन्त्य पहेली बन गया है। प्रस्तुत पहेली को संस्कृत व्याकरण के समर्थ आचार्य पाणिनि के **'अस्तिनास्ति-दिष्टं मतिः'**[1] सूत्र के रहस्य का उद्‌घाटन करते हुए भट्टोजी दीक्षित ने बड़ी खूबी के साथ सुलझाया है। उन्होंने पूर्वाग्रहरहित सूत्र का निष्कर्ष निर्भीकता के साथ प्रकाशित करते हुए कहा—'जो निश्चित रूप से परलोक व पुनर्जन्म को स्वीकारता है, वह आस्तिक है और जो उसको अस्वीकार करता है, वह

---

१ अष्टाध्यायी, अध्याय ४, पाद ४, सूत्र ६०

नास्तिक है।[१] अधिक स्पष्ट शब्दों में कहा जाए तो 'पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक, पुनर्जन्म तथा आत्मा के नित्यत्व में निष्ठा रखना ही आस्तिक्य है। आस्तिक के अन्तर्मानस में ये विचार-लहरें सदा तरंगित होती हैं, कि 'मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ, प्रकृत चोले का परित्याग कर कहाँ जाऊँगा और मेरी जीवन-यात्रा का अन्तिम पड़ाव कहाँ होगा ?'[२] वह आत्मा के अस्तित्व को स्वीकारता है और आत्मा की संस्थिति के स्थान लोक को भी स्वीकारता है, लोक में इतस्ततः परिभ्रमण के कारण कर्म को भी स्वीकारता है, तथा कर्मों से मुक्त होने की साधनरूप क्रिया को भी।[३] श्रमण-संस्कृति का यह दृढ़ मन्तव्य है, कि अनादि अनन्त काल से आत्मा विराट् विश्व में परिभ्रमण कर रहा है। नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवगति में इधर-उधर घूम रहा है। गणधर गौतम की जिज्ञासा का समाधान करते हुए एक बार भगवान महावीर ने कहा—गौतम ! ऐसा कोई भी स्थल नहीं, जहाँ यह आत्मा न जन्मा हो,[४] और ऐसा कोई भी जीव नहीं, जिसके साथ मातृ, पितृ, भ्रातृ, भगिनी, भार्या, पुत्र-पुत्री रूप सम्बन्ध न रहा हो।[५] गौतम को सम्बोधित कर भगवान श्री महावीर ने कहा—गौतम ! तेरा और मेरा सम्बन्ध भी आज का नहीं, चिरकाल पुराना है। चिरकाल से तू मेरे प्रति स्नेह, सद्भावना रखता रहा है। मेरे गुणों का उत्कीर्तन करता रहा है। मेरी सेवा-भक्ति करता रहा है। मेरा अनुसरण करता रहा है। देव व मानव भव में एक बार नहीं, अपितु अनेक बार हम साथ रहे हैं।[६] स्पष्ट है, कि

१ अस्ति परलोक इत्येवमतिर्यस्य स आस्तिकः, नास्तीतिमतिर्यस्य स नास्तिक।
—सिद्धान्त कौमुदी (निर्णय सागर, बम्बई) पृ. २७३

२ (क) आचारांग १।१।१ सू. ३
(ख) कस्त्वं कोऽहं कुत आयातः, का मे जननी को मे तातः।
इति परिभावय सर्वमसार, सर्वं त्यक्त्वा स्वप्नविचारम् ॥
—चर्पटपञ्जरिका —आचार्य शंकर

३ से आयावादी, लोयावादी, कम्मावादी, किरियावादी
—आचारांग १।१।१ सूत्र ५

४ जाव किं सव्वपाणा उववण्णपुव्वा ?
हंता गोयमा ! असति अदुवा अणंतखुत्तो। —भगवतीसूत्र २।३

५ भगवतीसूत्र १२।७

६ भगवतीसूत्र १४।७

साधारण सांसारिक आत्मा की तरह ही श्रमण संस्कृति के आराध्य देव तीर्थङ्कर व बुद्ध भी, तीर्थङ्कर व बुद्ध बनने के पूर्व, नाना गतियों में भ्रमण करते रहे हैं। श्रमण संस्कृति ने ब्राह्मण संस्कृति की तरह उन्हें नित्यबुद्ध व नित्यमुक्त रूप ईश्वर नहीं कहा है और न उन्हें ईश्वर का अवतार या अंश ही कहा है। उनका जीवन प्रारम्भ में कालीमाई की तरह काला था, साधना के साबुन से जीवन को मांजकर उन्होंने किस प्रकार निखारा, इसका विशद विश्लेषण आगम व आगमेतर साहित्य में किया गया है।

सुनहरे चित्र

श्रमण संस्कृति दो प्रधान धाराओं में प्रवाहित है। एक जैन संस्कृति और दूसरी बौद्ध संस्कृति। दोनों ही धाराओं में अपने-अपने आराध्य देवों के पूर्वभवों का कथन है। जातक-कथा में बुद्धघोष ने महात्मा बुद्ध के पाँच सौ सैंतालीस भवों का निरूपण किया है।[1] उन्होंने बोधिसत्त्व के रूप में तपस्वी, राजा, वृक्ष, देवता, गज, सिंह, तुरंग, शृगाल, कुत्ता, बन्दर, मछली, सूअर, भैंसा, चाण्डाल आदि अनेकों जन्म ग्रहण किये। बुद्धत्व-प्राप्ति के लिये उन्होंने कैसा और किस प्रकार का जीवन जीया, यह उनके जीवन-प्रसंगों के द्वारा बताया गया है। बुद्धत्व की उपलब्धि के हेतु एक भव का प्रयत्न नहीं, अपितु अनेक भवों का प्रयत्न अपेक्षित है। जैन संस्कृति के समर्थ आचार्यों ने भी तीर्थंकरों के पूर्वभव सम्बन्धी सुनहरे चित्र प्रस्तुत किये हैं। उन्हीं ग्रन्थों के आधार से अगली पंक्तियों में भगवान श्री ऋषभदेव के पूर्वभवों का चित्रण किया जा रहा है।

किसी भी महान् पुरुष के वर्तमान का सही मूल्यांकन करने के लिये उसकी पृष्ठभूमि को देखना अत्यन्त आवश्यक है। उससे हमें पता चलता है कि आज के महान् पुरुष की महत्ता कोई आकस्मिक घटना नहीं, वरन् जन्म-जन्मान्तरों में की गई उसकी साधना का ही प्रतिफल है। पूर्वभवों का वर्णन उसके क्रम-विकास का सूचक है। इसी दृष्टिकोण को सामने रखकर जैन इतिहास के लेखकों ने भगवान श्री ऋषभदेव के पूर्वभवों का विस्तृत विवेचन किया है, जिनसे प्रतीत होता है, कि किस प्रकार क्रमशः उनकी आत्मा बलवत्तर होती गई और अन्त में उसका श्रीऋषभदेव के रूप में विकास सामने आया।

---

१ बौद्धधर्म क्या कहता है? —लेखक कृष्णदत्त भट्ट, पृ० २७

आवश्यकनिर्युक्ति, आवश्यकचूर्णि, आवश्यकमलयगिरिवृत्ति, त्रिषष्टि-शलाकापुरुषचरित्र और कल्पसूत्र की टीकाओं में श्री ऋषभदेव के तेरह भवों का उल्लेख है।[१] शीलाङ्काचार्य ने चउप्पन महापुरिस चरियं' में सप्तम भव युगल को छोड़कर शेष बारह भवों का उल्लेख किया है और दिगम्बराचार्य जिनसेन ने महापुराण में व आचार्य दामनन्दी ने पुराणसारसंग्रह[२] में दस भवों का निरूपण किया है। अन्य दिगम्बर विज्ञों ने भी उन्हीं का अनुकरण किया है। श्वेताम्बराचार्यों ने श्री धन्ना सार्थवाह के भव से भवों की परिगणना की है और दिगम्बराचार्यों ने महाबल के भव से भवों का उल्लेख किया है। इनके अतिरिक्त अनेक जीवन-प्रसंगों में भी अन्तर है।

यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है, कि इन भवों की जो परिगणना की गई है, वह सम्यक्त्व उपलब्धि के पश्चात् की है।[३] श्री ऋषभदेव के जीव को अनादिकाल के मिथ्यात्वरूपी निबिड़ अन्धकार से सर्वप्रथम धन्ना सार्थवाह के भव में मुक्ति मिली थी और सम्यग्दर्शन के अमित आलोक के दर्शन हुए थे।

[१] धन्ना सार्थवाह

भगवान श्री ऋषभदेव का जीव एक बार अपर महाविदेह क्षेत्र के क्षितिप्रतिष्ठ नगर में धन्ना सार्थवाह बनता है।[४] उसके पास विपुल धन-

---

१ धण-मिहुण-सुर-महब्बल-ललियग य वइरजघ मिहुणे य।
सोहम्म-विज्ज-अच्चुय चक्की सव्वट्ठ उसभेय॥
—आवश्यक मलय० वृत्ति पृ० १५७।२

२ आद्यो महाबलो ज्ञेयो ललिताङ्गस्ततोऽपरः।
वज्रजङ्घस्तथाऽऽर्यश्च श्रीधरः सुविधिस्तथा॥
अच्युतो वज्रनाभोऽहमिन्द्रश्च वृषभस्तथा।
दशैतानि पुराणानि पुरुदेवाऽऽश्रितानि वै॥
—पुराणसारसंग्रह, सर्ग ५, श्लो० ५-६, पृ० ७४

३ सम्प्रति यथा भगवता सम्यक्त्वमवाप्त यावतो वा भवानवाप्तसम्यक्त्वः संसारं पर्यटितवान्। —आवश्यक मलय० वृत्ति १५७।२

४ (क) आवश्यक हारिभद्रीया वृत्ति पृ० ११५
(ख) आवश्यक मलयगिरि वृत्ति पृ० १५८।१
(ग) आवश्यकचूर्णि पृ० १३१
(घ) त्रिषष्टि १।१।३६ पृ० २-६

वैभव था, यश व कीर्ति का तो मानो वह आश्रय रूप था, सुदूर विदेशों में वह व्यापार भी करता था। एक बार उसने यह उद्घोषणा करवाई कि जिसे वसन्तपुर व्यापारार्थ चलना है वह मेरे साथ सहर्ष चले मैं सभी प्रकार की सुविधाएँ उसे दूंगा। शताधिक व्यक्ति व्यापारार्थ उसके साथ प्रस्थित हुए।

धर्मघोष नामक एक जैन आचार्य भी अपने शिष्य समुदाय सहित वसन्तपुर धर्म प्रचारार्थ जाना चाहते थे। पर, पथ विकट संकटमय होने से बिना साथ के जाना सम्भव नहीं था। आचार्य ने जब उद्घोषणा सुनी तो श्रेष्ठी के पास गये और श्रेष्ठी के साथ चलने की भावना अभिव्यक्त की। श्रेष्ठी ने अपने भाग्य की सराहना करते हुए अनुचरों को श्रमणों के लिये भोजनादि की सुविधा का पूर्ण ध्यान रखने का आदेश दिया। आचार्यश्री ने श्रमणाचार का विश्लेषण करते हुए बताया कि श्रमण के लिये औद्देशिक, नैमित्तिक आदि सभी प्रकार का दूषित आहार निषिद्ध है। उसी समय एक अनुचर आम्रफल का टोकरा लेकर आया। श्रेष्ठी ने आम ग्रहण करने के लिये विनम्र विनती की। पर, आचार्यश्री ने कहा श्रमण के लिये सचित्त पदार्थ भोगना तो दूर स्पर्श करना भी वर्जित है। श्रमणचर्या के कठोर नियमों को सुनकर श्रेष्ठी अवाक् था।

आचार्यश्री सार्थ के साथ पथ को पार करते हुए बढ़े जा रहे थे। वर्षा ऋतु आई, आकाश में उमड़-घुमड़ कर घनघोर घटाएँ छाने लगीं एवं गम्भीर गर्जना करती हुई हजार-हजार धाराओं के रूप में बरसने लगीं। उस समय सार्थ भयानक अटवी में से गुजर रहा था। मार्ग कीचड़ से व्याप्त था। सार्थ उसी अटवी में तंबू बांधकर वर्षावास व्यतीत करने हेतु रुक गया। आचार्यश्री भी निर्दोष स्थान में सेठ के मित्र मणिभद्र की अनुज्ञा लेकर स्थित हो गये।

उस अटवी में सार्थ को अपनी कल्पना से अधिक काल व्यतीत करना पड़ा, फलस्वरूप साथ की खाद्य सामग्री समाप्त हो गई। क्षुधा से पीड़ित सार्थ अरण्य में कन्द-मूलादि की अन्वेषणा कर जीवन व्यतीत करने लगा।

(ङ) भरतेश्वर बाहुबली वृत्ति
(च) चउप्पन महापुरिस चरियं पृ० १०
(छ) आवश्यकनिर्युक्ति, गा० १६८

वर्षावास के उपसंहार काल में धन्ना सार्थवाह को अकस्मात् स्मृति आई कि 'मेरे साथ जो आचार्य आये थे, उनकी आज तक मैंने सुधि नहीं ली। उनके आहार की क्या व्यवस्था है, इसकी मैंने जाँच नहीं की। कन्द-मूलादि सचित्त पदार्थों का वे उपभोग नहीं करते।' वह शीघ्र ही आचार्य श्री के चरणों में पहुँचा और अपने पूर्वकृत प्रमादाचरण की क्षमा माँगते हुए आहार के लिए अभ्यर्थना की।

आचार्यश्री ने श्रेष्ठी को कल्प्य और अकल्प्य का परिज्ञान कराया। श्रेष्ठी ने भी कल्प्य-अकल्प्य को ध्यान में रखकर उत्कृष्ट भावना से प्रासुक व विपुल घृतदान दिया। विधि, द्रव्य, दातृ और पातृ दान की विशेषता के फलस्वरूप उसे सम्यक्त्व की उपलब्धि हुई।

वर्षाऋतु की समाप्ति होने पर सार्थ के साथ धर्मघोष आचार्य उस महाटवी से निकले और क्रमशः चलते हुए वसन्तपुर नगर पहुँचे। आचार्य धनसेठ की अनुज्ञा से दूसरी तरफ विहार कर गये। धनसेठ भी स्वल्पावधि में जल से परिपूरित जलधरों की तरह बहुत-सा द्रव्य संग्रहीत कर पुनः यथासमय क्षितिप्रतिष्ठपुर में आया। और अन्त समय में समाधिपूर्वक कालधर्म को प्राप्त हुआ।

[२] उत्तरकुरु में मनुष्य

वहाँ से धन्ना सार्थवाह का जीव आयुष्य पूर्ण करके दान के दिव्य प्रभाव से उत्तरकुरुक्षेत्र में जहाँ एकान्त 'सुषमा' आरा प्रवर्तता है, वहाँ तीन पल्योपम की आयुष्य वाला युगल रूप में उत्पन्न हुआ।[1]

[३] सौधर्म देवलोक

वहाँ से भी आयु पूर्ण होने पर धन्ना सार्थवाह का जीव सौधर्म कल्प में तीन पल्योपम की आयुष्य वाला देवरूप में उत्पन्न हुआ।[2]

---

१ (क) आवश्यकचूर्णि पृ० १३२
(ख) आवश्यक हारिभद्रीयावृत्ति पृ० ११६
(ग) आवश्यक मलयगिरि वृत्ति पृ० १५८।१
(घ) त्रिषष्टि० १।१।२२६-२२७ पृ० ६
(ङ) चउप्पन महापुरिस चरियं पृ० १६
(च) भरतेश्वर बाहुबली वृत्ति

२ (क) आवश्यकचूर्णि पृ० १३२
(ख) आवश्यक हारिभद्रीया वृत्ति, पृ० ११६।१

[४] महाबल[1]

वहाँ से च्यवकर धन्ना सार्थवाह का जीव पश्चिम महाविदेह के गंधिलावती विजय (द्वीप) में वैताढ्य पर्वत की विद्याधर श्रेणी के अधिपति 'शतबल' राजा की 'चन्द्रकान्ता' रानी की कुक्षि से पुत्ररूप में उत्पन्न हुआ। जन्म से ही अति बलवान होने से वह 'महाबल' के रूप में विख्यात हो गया।

आचार्य जिनसेन[2] व आचार्य दामनन्दी[3] ने उसे अतिबल का पुत्र लिखा है और आचार्य मलयगिरि[4] व आचार्य हेमचन्द्र[5] ने अतिबल का पौत्र लिखा है।

यौवनवय प्राप्त होने पर पिता ने 'विनयवती' नाम की कन्या से उसका पाणिग्रहण करवाया।[6]

महाबल के पिता को एक बार संसार से विरक्ति हुई, पुत्र को राज्य देकर वे स्वयं श्रमण बन गये।

एक बार सम्राट् महाबल अपने प्रमुख अमात्यों[7] के साथ राज्य सभा में बैठे हुए मनोविनोद कर रहे थे। उनके प्रमुख चार अमात्यों में से स्वयंबुद्ध अमात्य सम्यग्दृष्टि था, संभिन्नमति, शतमति और महामति ये तीनों मिथ्यादृष्टि थे।

(ग) आवश्यक मलय० वृत्ति प० १५८।१
(घ) त्रिषष्टि० १।१।२३८

१ आवश्यकचूर्णि में आचार्य जिनदासगणी महत्तर ने 'महाबल, ललितांग, वज्रजंघ, युगल, सुधर्मदेवलोक' इन पाँच भवों का वर्णन नहीं किया है। —लेखक

२ महापुराण, पर्व ४।१२२,१३१,१३३ पृ० ८२-८३

३ पुराणसारसंग्रह ५।१।१

४ 'अइबलरण्णो णत्ता'— —आवश्यकनिर्युक्ति मल० वृ० १५८

५ त्रिषष्टि० १।१२५

६ (क) चउप्पन महापुरिस चरियं पृ० १६
(ख) त्रिषष्टि १।१।२४६

७ (क) ते स्वयम्बुद्धः सम्भिन्नमतिः शतमतिस्तथा।
स्वयंबुद्धश्च तत्रासाञ्चक्रिरे मन्त्रिणोऽपि हि॥ —त्रिषष्टि १।१।२८७।११
(ख) महामतिश्च सम्भिन्नमतिः शतमतिस्था।
स्वयंबुद्धश्च राज्यस्य मूलस्तम्भा इव स्थिराः॥ —महापुराण ४।१९१।८५

स्वयंबुद्ध ने देखा—सम्राट् भौतिक वैभव की चकाचौंध में जीवन के लक्ष्य को विस्मृत कर चुके हैं। उसने सम्राट् को संबोध देने हेतु धर्म के रहस्य पर प्रकाश डालते हुए कहा —दया धर्म का मूल है। प्राणों की की अनुकम्पा ही दया है। दया की रक्षा के लिये ही शेष गुणों का उत्कीर्तन किया गया है। दान, शील, तप, भावना, योग, वैराग्य उस धर्म के लिंग हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ही सनातन धर्म हैं।

अन्य अमात्यों ने परिहास करते हुए कहा—मंत्रिवर ! जब आत्मा ही नहीं है, तब धर्म-कर्म का प्रश्न ही नहीं रहता। जिस प्रकार महुआ, गुड, जल आदि पदार्थों को मिला देने से उनमें मादक शक्ति पैदा हो जाती है, उसी प्रकार पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि के संयोग से चेतना उत्पन्न हो जाती है। एतदर्थ ही लोक में पृथ्वी आदि तत्त्वों से बने हुए हमारे शरीर में पृथक् रहने वाला चेतना नामक कोई पदार्थ नहीं है, क्योंकि शरीर से पृथक् उसकी उपलब्धि नहीं होती। संसार में जो पदार्थ प्रत्यक्ष रूप से पृथक् सिद्ध नहीं होते उनका अस्तित्व भी आकाशकुसमवत् माना जाता है। वर्तमान के सुखों को त्यागकर भविष्य के सुखों की कल्पना करना 'आधी छोड़ एक को धावैं, ऐसा डूबा थाह न पावैं' की लौकिक कहावत चरितार्थ करना है।

नास्तिक मत का निरसन करते हुए स्वयंबुद्ध अमात्य ने कहा—पदार्थों को जानने का साधन केवल इन्द्रिय और मन का प्रत्यक्ष ही नहीं, अपितु अनुभवप्रत्यक्ष, योगिप्रत्यक्ष, अनुमान और आगम भी हैं। इन्द्रिय और मन की शक्ति अत्यन्त सीमित है। इनसे तो चार-पाँच पीढ़ी के पूर्वज भी नहीं जाने जा सकते तो क्या उनका अस्तित्व भी न माना जाय ? इन्द्रियाँ केवल शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्शात्मक मूर्त द्रव्य को जानती हैं और मन उन्हीं पदार्थों का चिन्तन करता है। यदि मन अमूर्त पदार्थों को जानता भी है तो आगम दृष्टि से ही। स्पष्ट है, कि विश्व के अखिल पदार्थ सिर्फ इन्द्रिय और मन से नहीं जाने जा सकते। आत्मा शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्शवान नहीं है।[1] वह अरूपी सत्ता है।[2] अरूपी तत्त्व इन्द्रियों से नहीं जाने जा सकते।

---

१ से ण सद्दे, ण रूवे, ण गन्धे, ण रसे, ण फासे। —आचारांग १।५।६।३३३

२ अरूवी सत्ता········· —आचारांग १।५।६।३३२

आत्मसिद्धि के प्रबल प्रमाण प्रस्तुत करते हुए उसने कहा—स्वसंवेदन से भी आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है। मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ—यह अनुभूति शरीर को नहीं होती अतएव इस अनुभूति का कर्त्ता शरीर से भिन्न ही होना चाहिये। सभी को यह विश्वास होता है, कि 'मैं हूँ', पर किसी को यह अनुभव नहीं होता, कि 'मैं नहीं हूँ'।[१]

प्रत्येक इन्द्रिय को अपने विषय का परिज्ञान होता है, अन्य इन्द्रिय के विषय का नहीं। यदि आत्म-तत्त्व को न माना जाय तो सभी इन्द्रियों के विषयों का जोड़ रूप (संकलनात्मक) ज्ञान नहीं हो सकता, किन्तु पापड़ खाते समय स्पर्श, रस, गंध, रूप और शब्द—इन पाँचों का संकलित ज्ञान स्पष्ट होता है। एतदर्थ इन्द्रियों के विषयों का संकलनात्मक परिज्ञान करने वाले को इन्द्रियों से पृथक् मानना होगा और वही आत्मा है।

आत्मा और शरीर एक नहीं है। अर्थात् जो चैतन्य है, वह शरीर रूप नहीं है और जो शरीर है, वह चैतन्य रूप नहीं है, क्योंकि दोनों एक दूसरे से स्वभावतः विसदृश हैं। चैतन्य चित् स्वरूप है—ज्ञानदर्शन रूप है और शरीर अचित् स्वरूप है—जड है।

आत्मा और शरीर का सम्बन्ध वस्तुतः तलवार और म्यान की तरह है। आत्मा तलवार है और शरीर म्यान है।

भूतचतुष्टय से आत्मा की उत्पत्ति होना सम्भव नहीं है। क्योंकि जो जड़ है उससे चेतन की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? वस्तुतः कार्य-कारण-भाव और गुणगुणीभाव सजातीय पदार्थों में ही होता है, विजातीयों में नहीं। पुष्प, गुड़ और जल के संयोग से मादक शक्ति उत्पन्न होने का उदाहरण देना भी अनुपयुक्त है, क्योंकि गुड़ आदि भी जड़ हैं और उनसे समुत्पन्न मादक शक्ति भी जड़ है। यह तो सजातीय द्रव्य से ही सजातीय द्रव्य की उत्पत्ति हुई, न कि विजातीय द्रव्य की। यदि आप शरीर के साथ ही आत्मा की उत्पत्ति मानते हैं तो जन्मते ही शिशु में दुग्धपान की इच्छा और प्रवृत्ति कैसे होती है? अतः यह स्पष्ट है, कि आत्मा है, वह नित्य है, फलतः पूर्वभवों के संस्कारों से ही ऐसा होता है।

इस प्रकार स्वयंबुद्ध के अकाट्य तर्कों से नास्तिकवादी अमात्य

---

१ सर्वो ह्यात्माऽस्तित्वं प्रत्येति, न नाहमस्मीति।

—ब्रह्मभाष्य १।१।१ आचार्य शंकर

परास्त हो गये। सभी ने आत्मा के पृथक् अस्तित्व को स्वीकार किया। और महाबल राजा भी अत्यन्त आल्हादित हुआ।

स्वयंबुद्ध अमात्य ने अन्य अनेक उपनयों के द्वारा सम्राट् को यह बताया कि शुभ और अशुभ कृत्यों का फल भी क्रमश: शुभ और अशुभ ही होता है।

चउप्पन महापुरिस चरियं में भोगासक्त महाबल राजा को प्रतिबोधित करने के लिये विमलमति नाम का मंत्री 'विबुधानंद नाटक' की रचना करवाता है। नाटक का मुख्य उद्देश्य जीवन की अनित्यता और मृत्यु की भयंकरता को चित्रित करना है। नाटक को देखते ही महाबल राजा के अन्त:करण में वैराग्य भावना छलकने लगती है। संसार के समस्त विषय उसे विषवृक्ष की तरह दु:खदायी प्रतीत होने लगते हैं।[१]

यह सुअवसर देखकर स्वयंबुद्ध ने राजा से कहा—राजन्! आज प्रात: मैं नन्दनवन में परिभ्रमण करने के लिये गया था, वहाँ दो विशिष्ट लब्धिधारी मुनिवर पधारे हैं। मैंने उनसे आपकी अवशिष्ट आयु के सम्बन्ध में जिज्ञासा प्रस्तुत की, तो उन्होंने बताया—'भूपति की आयु अब एक माह ही शेष है।' सम्राट् महाबल अमात्य के मुँह से मुनि की भविष्यवाणी सुनकर सकपका गया। मृत्यु के भयानक आतंक से वह विह्वल हो गया और बोला—मंत्रिवर! आज रात्रि के अन्तिम प्रहर में मैंने भी ऐसा ही स्वप्न देखा कि 'संभिन्नश्रोत्र' प्रमुख अमात्यों ने मुझे अंधकूप में फेंक दिया, तो भी अकेले होते हुए तुमने मेरा उद्धार किया। आर्य! तुम्हारा हृदयस्पर्शी उपदेश मेरे स्वप्न के साथ मिलता-जुलता ही है।[२] अत: अब इस स्वल्प समय में मुझे क्या करना चाहिये? मेरे लिये सर्वोत्तम श्रेय का महापथ कौन-सा होगा?

अमात्य ने गम्भीर गिरा से निवेदन किया—राजन्! घबराइये नहीं, घबराने वाला योद्धा रणक्षेत्र में जूझ नही सकता। जीवन और मृत्यु तो एक ही महल के दो द्वार हैं। एक द्वार से जीव प्रवेश करता है और दूसरे द्वार से निर्गम। आपने सारी जिन्दगी धर्माराधना नहीं की, तो भी एक घड़ी के शुद्ध विचार भी जीवन के समस्त कलिमलों को धोने में समर्थ हैं।

---

१ चउप्पन महापुरिस चरियं पृ० १७
२ भरतेश्वर बाहुबली वृत्ति

अतः आप इस अवशिष्ट आयु में ही संयम का आचरण कीजिए और अपने जीवन को पवित्र बनाइये।

अमात्य की प्रेरणा से पुत्र को राज्य-भार सौंपकर महाबल राजा, राजर्षि बन गये। दुष्कृत्यों की आलोचना की और बावीस दिन का संथारा कर समाधिपूर्वक आयुष्य पूर्ण किया।[१]

इस प्रकार धन सार्थवाह का जीव, जो अब तक आध्यात्मिक विकास की प्रथम भूमिका सम्यग्दर्शन तक ही पहुँच पाया था, इस भव में अधिक अग्रसर हुआ। इस बार उसने चतुर्थ गुणस्थान से ऊपर उठकर छठे-सातवें गुणस्थान की भूमिका पर पाँव रखा।

भरतेश्वर बाहुबली वृत्ति के अनुसार भी धन्ना सार्थवाह के भव में उन्होंने निष्कलंक श्रावक धर्म का आचरण किया, अर्थात् वे इस भव में पञ्चम गुणस्थान से षष्ठ-सप्तम गुणस्थान की भूमिका तक पहुँचे थे।

[५] ललितांग देव

महाबल का जीव ऐशानकल्प के श्रीप्रभ नाम के विमान में सप्त पल्योपम की आयुष्य वाला 'ललितांग देव' हुआ। स्वयंबुद्ध मंत्री भी राजर्षि के मरण शोक से संवेग को प्राप्त हुआ और सिद्धाचार्य के पास संयम ग्रहण कर अनेक वर्षों तक निरतिचार दीक्षा का परिपालन कर आयु पूर्ण होने पर ईशान देवलोक में कुछ अधिक दो सागरोपम की आयुष्य वाला इन्द्र का सामानिक देव बना। उसका नाम 'दृढ़धर्मा' देव था।

भवितव्यता के योग से ललितांग देव की स्वयंप्रभा देवी आयु का क्षय होने पर वहाँ से च्यव गई। उसके वियोग से विधुर बना ललितांग प्रत्येक क्षण शोकमग्न रहता था। स्वयंप्रभा के बिना उसे सुख के सब साधन दुःख रूप प्रतीत होने लगे। उसकी ऐसी दशा देखकर, पूर्वभव के सम्बन्ध से दृढ़धर्मा देव जो स्वयंबुद्ध अमात्य का जीव था, वह आकर उससे

---

१ (क) आवश्यकमलयगिरिवृत्ति पृ० १५८।२
(ख) आवश्यकहारिभद्रीयावृत्ति पृ० ११६
(ग) त्रिषष्टि० १।१।२३९-४४६
(घ) महापुराण, पर्व ४-५, पृ० ८२-११५
(ङ) महापुराण : जिनसेन, पर्व ४-५ पृ० ८४-९१
(च) चउप्पन महापुरिस चरियं, पृ० १६-२८
(छ) भरतेश्वर बाहुबली वृत्ति

सान्त्वना के शब्दों में कहता है—हे महासत्त्व ! आप एक स्त्री के लिये इतने व्याकुल क्यों हो रहे हैं ? धीर पुरुष तो अपनी मौत का प्रसंग उपस्थित होने पर भी इतने नहीं घबराते हैं।

ललितांग ने कहा—मित्र ! तुम जले पर नमक छिड़कने का काम क्यों करते हो ? मुझे प्राणों का विरह सहन हो सकता था परन्तु स्वयंप्रभा का विरह नहीं।

ललितांग के करुणापूरित शब्दों को श्रवण कर दृढ़धर्मा ने अपने अवधिज्ञान का उपयोग लगाकर कहा—आप शोक-विह्वल मत होइए, मैंने ज्ञान से जाना है, कि आपकी प्रिया कहाँ है ? आप एकमन होकर सुनिए।[1]

मनुष्यलोक में धातकीखण्ड के पूर्वविदेह क्षेत्र में नदी नामक ग्राम है, उसमें नागिल नाम के दरिद्र गृहस्थ के यहाँ आपकी प्रिया खुजली में फुन्सियों की तरह छह लड़कियों के बाद सातवीं कन्या के रूप में उत्पन्न हुई है। उसकी दु:खिनी माता ने उसका नाम भी नहीं रखा, अत: सभी ग्रामवासी उसे 'निर्नामिका' के नाम से पुकारने लगे हैं। माता-पिता, भाई-बहनों से ठुकराई हुई उस कन्या को एक दिन 'युगंधर' नामक केवली के दर्शन का लाभ प्राप्त हुआ। केवली भगवान की धर्म-देशना से उसकी सुप्त आत्मा जाग्रत हो गई, उसने श्रावक धर्म अंगीकार किया। मित्रप्रवर ! इस समय विशेष वैराग्य-भावना से वह बालिका युगंधर केवली से अनशन व्रत अंगीकार कर रही है, तुम उसके पास जाओ, जिससे वह तुम्हारे प्रति आसक्त होकर तुम्हारी पत्नी बनने का निदान कर सके।

ललितांग देव ने वैसा ही किया और उसके ऊपर प्रेम करती हुई आयु क्षय होने पर निर्नामिका पुन: ईशान स्वर्ग में ललितांग देव की 'स्वयंप्रभा' देवी के रूप में उत्पन्न हुई। देव, मोह की प्रबलता से पुन: उसमें आसक्त हो गया। अन्त समय में अपने च्यवन चिह्नों को देखकर दृढ़धर्मा से प्रतिबुद्ध हुआ नमस्कार महामंत्र का जाप करते हुए आयु पूर्ण करता है।[2]

---

१ ऐसा लगता है, कि दृढ़धर्मा देव ने संसार का स्वरूप दिखाने के लिए ही निर्नामिका का पूर्वकथन किया है, फिर भी ललितांग देव की विषयों से निवृत्ति नहीं हुई।

२ (क) आवश्यकनिर्युक्ति मलय० वृ० पृ० १५८
(ख) आवश्यक हारिभद्रीयावृत्ति पृ० ११६
(ग) महापुराण ५।२५३-२८८ पर्व ५-६, पृ० ११६-१२२

[६] वज्रजंघ

वहाँ से च्यवकर ललितांग देव का जीव जम्बूद्वीप के पूर्व महाविदेह क्षेत्र में सीता नदी के उत्तर में पुष्कलावती विजय के अन्तर्गत लोहार्गल नगर के अधिपति सुवर्णजंघ सम्राट् की पत्नी लक्ष्मी की कुक्षि में उत्पन्न हुआ। वज्रजंघ नाम दिया गया।

महापुराणकार ने माता का नाम वसुन्धरा और पिता का नाम वज्रबाहु[1] और नगर का नाम उत्पलखेटक दिया है।[2]

स्वयंप्रभा देवी भी वहाँ से आयु पूर्ण कर आचार्य श्री हेमचन्द्र तथा आचार्य शीलाङ्क के अभिमतानुसार पुण्डरीकिणी नगरी के स्वामी वज्रसेन राजा (चक्रवर्ती) की धर्मपत्नी 'गुणवती' रानी की कुक्षि में उत्पन्न हुई। जन्म के पश्चात् उसका नाम 'श्रीमती' रखा गया। आचार्यश्री जिनसेन व आचार्यश्री दामनन्दी के मतानुसार उसके पिता का नाम 'वज्रदन्त' और माता का नाम 'लक्ष्मीमती' था।[3]

एक बार 'श्रीमती' महल की छत पर घूम रही थी कि उसी समय सन्निकटवर्ती उद्यान में एक मुनि को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। कैवल्य महोत्सव करने हेतु देवगण आकाशमार्ग से आ-जा रहे थे। आकाश-मार्ग से

(घ) त्रिषष्टि १।१।५१५-५२२
(ङ) चउप्पन महापुरिस चरियं पृ० २८-३०
(च) भरतेश्वर बाहुबली वृत्ति

१ वज्रबाहुः पतिस्तस्य वज्रीवाज्ञापरोऽभवत्।
कान्ता वसुन्धरास्यासीद् द्वितीयेव वसुन्धरा॥
तयोः सूनुरभूद् वो ललिताङ्गस्ततश्च्युतः।
वज्रजंघ इति ख्यातिं बधवन्वर्थतां गताम्॥
—महापुराण श्लो० २८।२९ प० ६, पृ० १२२

२ जम्बूद्वीपे महामेरोः विदेहे पूर्वदिग्गते।
या पुष्कलावतीत्यासीत् जानभूमिर्मनोरमा॥
स्वर्गभूनिर्विशेषां तां पुरमुत्पलखेटकम्॥
—महापुराण श्लो०२६।२७, पर्व ६, पृ०१२२

३ (क) महापुराण, श्लो० ५८, पर्व ६, पृ० १२४
(ख) वही, श्लोक ५६, पर्व ६, पृ० १२४
(ग) वही, श्लोक ६०, पर्व ६, पृ० १२४

जाते हुए देवसमूह को निहारकर श्रीमती को पूर्वभव की स्मृति उद्बुद्ध हुई, उसने उस स्मृति को एक पट पर चित्रित किया[१] और अपने प्रति स्नेह-मूर्ति पण्डिता परिचारिका को प्रदान किया। आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार श्रीमती के पूर्वजन्म की स्मृति को परिचारिका ने स्वयं एक पट पर चित्रित कर लिया।[२] और प्रस्तुत चित्रपट को लेकर राजपथ पर, जहाँ चक्रवर्ती वज्रसेन का जन्म-दिवस मनाने हेतु अनेक देशों के राजकुमार आ-जा रहे थे, खड़ी हो गई। वज्रजंघ राजकुमार भी, जो पूर्वभव में ललितांग देव था, वह उधर से निकला। उसने ज्यों ही वह चित्र-पट देखा, त्यों ही उसे भी पूर्वभव की स्मृति स्वप्नवत् जाग्रत हो गई। उसने चित्रपट का सारा इतिवृत्त पण्डिता परिचारिका को बताया, और पण्डिता परिचारिका ने श्रीमती को निवेदन किया। श्रीमती की प्रेरणा से परिचारिका ने चक्रवर्ती सम्राट् वज्रसेन को श्रीमती और वज्रजंघ के पूर्वभव का परिचय प्रदान किया। चक्रवर्ती वज्रसेन ने 'श्रीमती' का वज्रजंघ के साथ पाणिग्रहण कर दिया।[३]

महापुराणकार ने भी प्रस्तुत प्रसंग को कुछ हेर-फेर के साथ निरूपित किया है, पर तथ्य यही है।[४]

चउप्पन महापुरिस चरियं में जातिस्मरणज्ञान का उल्लेख नहीं किया है। स्वयं पिता ने श्रीमती के विवाह के लिये स्वयंवर मंडप की रचना की। श्रीमती ने पूर्वभव के स्नेह से वज्रजंघ के गले में वर माला पहनाई।[५]

श्रीमती के साथ वज्रजंघ पुनः भोगों में आसक्त हुआ। सम्राट् सुवर्णजंघ ने वज्रजंघ को राज्य देकर स्वयं दीक्षा अंगीकार की और चक्रवर्ती वज्रसेन ने भी अपने पुत्र पुष्कलपाल को राज्य देकर दीक्षा ली। वे तीर्थङ्कर हुए। चक्रवर्ती वज्रसेन के संयम लेने के पश्चात् सीमाप्रान्तीय

---

१ मया विलिखितं पूर्वभवसम्बन्धिपट्टकम्।

—महापुराण, श्लोक १७०, पर्व ६, पृ० १३३

२ त्रिषष्टि १।१।६४८

३ त्रिषष्टि १।१।६४९-६८७

४ महापुराण, पर्व ६-७, पृ० १२२-१६०

५ पिउणा य सयंवरे दत्ते तीए पुव्वभवब्भासओ जायसणेहाएवइरजंघो वरिओ।

—चउप्पन महापुरिस चरियं, पृ० ३०

राजा पुष्कलपाल की आज्ञा का उल्लंघन करने लगे। वज्रजंघ उसकी सहायतार्थ पुंडरीकिणी नगरी में गया और शत्रुओं पर विजय-वैजयन्ती फहराकर पुन: अपनी राजधानी लौट रहा था, कि उसे ज्ञात हुआ कि प्रस्तुत अरण्य में दो मुनियों को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है और उनके दिव्य प्रभाव से दृष्टिविष सर्प भी निर्विष हो गये हैं। वज्रजंघ मुनियों के दर्शनार्थ गया। उनकी अमृतमयी वाणी को श्रवण कर उसे वैराग्य उत्पन्न हो गया। पुत्र को राज्य देकर संयम ग्रहण करूंगा, इस पवित्र भावना के साथ वह वहाँ से प्रस्थान कर राजधानी पहुँचा। इधर पुत्र ने सोचा कि पिताजी जीते-जी मुझे राज्य देंगे नहीं, और अभी वे सभी तरह से स्वस्थ हैं, न मालूम कब आयुष्य का अन्त होगा, अत: मेरे लिये यही श्रेय है, कि पिताजी को किसी उपाय से मारकर सिंहासनारूढ़ होऊं। तदर्थ उसने उसी रात्रि को वज्रजंघ के महल में जहरीला धुआँ फैलाया, जिसकी गन्ध से वज्रजंघ और श्रीमती दोनों ही मृत्यु को प्राप्त हुए।[1]

शुभशीलगणीविरचित भरतेश्वर बाहुबली वृत्ति में विष देने का उल्लेख है और चउप्पन महापुरिस चरियं के कर्त्ता आचार्य शीलाङ्क ने वैराग्य का कारण बताते हुये लिखा है, कि किसी समय श्रीकान्ता रानी ने वज्रजंघ को अपने सिर का श्वेत केश अति उद्विग्नतापूर्वक दिखाया। राजा ने श्रीकान्ता को आश्वस्त करते हुए कहा—धर्मप्रिये ! यह उज्ज्वल केश हमें धर्म की ओर उन्मुख करने आया है, इस वृद्धावस्था में सिर के पलित केशों को देखकर हमें अपने हृदय के श्याम भावों को दूर करना चाहिये। इस प्रकार विचार कर उन्होंने दीक्षा की अन्तरंग तैयारी की, तभी पितृहृदय से अनभिज्ञ राजकुमार ने विषधूम के प्रयोग से माता-पिता को मार दिया।[2]

महापुराणकार आचार्य जिनसेन ने प्रस्तुत घटना का इस रूप में चित्रण किया है—'वज्रदन्त चक्रवर्ती ने अपने लघुभ्राता अमिततेज के पुत्र पुण्डरीक को राज्य देकर दीक्षा ग्रहण करली, उस समय पुण्डरीक अल्प-वयस्क था, अत: चक्रवर्ती की पत्नी लक्ष्मी ने वज्रजंघ को सन्देश भेजा।

---

१ (क) पुत्तेण रज्जकंखिणा वासघरे जोगधूमप्पयोगेण मारितो।

—आवश्यक मलय० वृ० पृ० १५८

(ख) त्रिषष्टि० १।१।७१४-७१५

२ चउप्पन महापुरिस चरियं, पृ० ३०

उस सन्देश से वह सहायतार्थ प्रस्थान करता है, कि मार्ग में दो चारण लब्धिधारी मुनिवरों के दर्शन होते हैं। वह उन्हें सविधि आहार-दान देता है।[1] उस समय मुनि ने वज्रजंघ व श्रीमती के भावी भवों का निरूपण करते हुए बताया कि सम्राट्! आप आठवें भव में तीर्थङ्कर पद प्राप्त करेंगे और श्रीमती का जीव प्रथम दान धर्म का प्रवर्तक श्रेयांस होगा। मुनि की भविष्यवाणी को सुनकर दोनों अत्यन्त आल्हादित हुए।

वहाँ से सम्राट् वज्रसंघ पुण्डरीकिणी नगरी जाकर महारानी को आश्वस्त करते हैं और उनके राज्य की सुव्यवस्था कर पुनः अपने नगर में लौटते हैं।

एक दिन सम्राट् का शयनागार अगर आदि सुगन्धित द्रव्यों की तीव्र गंध से महक रहा था। द्वारपाल उस दिन गवाक्ष खोलना भूल गया, अतः धूप के धूँए के कारण श्वास रुक जाने से दोनों की मृत्यु हो गई।[2]

[७] युगल

वहाँ से वज्रजंघ व श्रीमती का जीव सदृश परिणामों से मृत्यु प्राप्त कर उत्तरकुरु में युगल-युगलिनी बने।[3] इसके अतिरिक्त श्वेताम्बर ग्रन्थों में अन्य वर्णन नहीं है।

महापुराण व पुराणसार के मन्तव्यानुसार उस समय उस युगल-

---

१ (क) तस्मिन्नेवाह्नि सोऽह्नाय प्रस्थानमकरोत् कृती।

—महापुराण, श्लो० ११८, पर्व ८, पृ० १७७

(ख) ततो दमधराभिख्यः श्रीमानम्बरचारणः।
समं सागरसेनेन तन्निवेशमुपाययौ॥
श्रद्धादिगुणसम्पत्त्या गुणवद्भ्यां विशुद्धिभाक्।
दत्त्वा विधिवदाहारं पञ्चाश्चर्याण्यवाप सः॥

—महापुराण, श्लो० १७३, पर्व ८ पृ० १८२

(ग) पुराणसार श्लो० ३२-३८, सर्ग २, पृ० २४।

२ (क) पुराणसार श्लो० ४०-४१, सर्ग २, पृ० २४।

(ख) महापुराण श्लोक २४४-२४६, पर्व ८, पृ० १८७।

३ (क) अथोत्तरकुरुष्वेतावुत्पन्नौ युग्मरूपिणौ।
एकचित्ताविपन्नानां गतिरेका हि जायते॥ —त्रिषष्टि० १।१।७१६

(ख) आवश्यकमलयगिरिवृत्ति पृ० १५८

(ग) आवश्यकहारिभद्रीयावृत्ति पृ० ११६।१

(घ) भरतेश्वर बाहुबली वृत्ति

युगलिनी को सूर्यप्रभदेव के गगन-गामी विमान को निहारकर जातिस्मरण ज्ञान उद्भूत होता है और उसी समय वहाँ लब्धिधारी मुनिराज पधारते हैं। मुनिराज को यथाविधि प्रणाम कर उन्होंने पूछा—प्रभो! आप कौन हैं, और कहाँ से आये हैं—'के यूयमागताः कुतः ?' उत्तर में ज्येष्ठ मुनि ने बतलाया कि 'पूर्वभव में जिस समय तुम्हारा जीव महाबल राजा था उस समय मैं तुम्हारा स्वयंबुद्ध मंत्री था। संयम धारण कर मैं सौधर्म स्वर्ग के स्वयंप्रभ विमान में मणिचूल नामक देव बना। वहाँ से प्रच्युत होकर मैं पुण्डरीकिणी नगरी में राजा प्रियसेन का ज्येष्ठपुत्र प्रीतिंकर हुआ। मेरी माता का नाम सुन्दरी है और लघुभ्राता का नाम प्रीतिदेव है, जो संप्रति मेरे साथ ही है। हम दोनों ही भ्राताओं ने स्वयंप्रभ जिनराज के सान्निध्य में दीक्षा ग्रहण कर तपोबल से अवधिज्ञान तथा चारण ऋद्धि सम्प्राप्त की है। आपको यहाँ उपस्थित जानकर हम आपको सम्यक्त्व रूपी रत्न प्रदान करने के लिये आये हैं।'

सम्यक्त्व रूपी रत्न से बढ़कर विश्व में न कोई वस्तु है, न हुई है और न होगी ही। इसी से अनन्त भव्य आत्माएँ अतीत में सिद्ध हुई हैं और अनागत में सिद्ध होंगीं। अतएव सम्यक्त्व सर्वश्रेष्ठ निधि है। जब देशना-लब्धि और काललब्धि आदि बहिरंग कारण और करणलब्धि रूप अन्तरंग कारण का संयोग होता है, तभी भव्य प्राणी विशुद्ध सम्यग्दर्शन के पात्र बन सकते हैं। जो आत्मा एक अन्तर्मुहूर्त के लिये भी सम्यग्दर्शन को सम्प्राप्त कर लेता है वह इस संसार रूप लता का उच्छेदन कर अत्यन्त लघु कर देता है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन का स्वरूप व महत्त्व समझाकर तथा दोनों को रत्नत्रय में आद्य रत्न सम्यक्दर्शन को देकर वे चारणमुनि स्वस्थान चले गये।[१]

चउप्पन महापुरिस चरियं[२] में सप्तम भव युगल का नहीं है। आचार्य शीलाङ्क के अनुसार वज्रजंघ और श्रीमती आयुष्य पूर्ण कर सौधर्म देवलोक में देव रूप से उत्पन्न हुए।

---

१ (क) पुराणसार : श्रीचन्द्र, श्लोक ४४-५१, पर्व २, पृ० २६
(ख) महापुराण श्लोक ६५-१५७, पर्व ९, पृ० १९८-२०३

२ चउप्पन महापुरिस चरियं, पृ० ३०

[८] सौधर्मकल्प

वहाँ से वे आयु पूर्ण कर सौधर्मकल्प में देव बने ।[१] महापुराण तथा पुराणसार में उनका नाम श्रीधर देव लिखा है ।[२]

[९] जीवानन्द वैद्य

वहाँ से च्यवकर धन्ना सार्थवाह का जीव जम्बूद्वीप के महाविदेह क्षेत्र में क्षितिप्रतिष्ठ नगर के अन्तर्गत सुविधि वैद्य का पुत्र जीवानन्द वैद्य बना ।[३] आचार्य शीलाङ्क ने पिता का नाम 'रस वैद्य' दिया है ।[४]

उस समय वहाँ पाँच अन्य जीव भी उत्पन्न होते हैं । प्रथम ईशानचन्द्र राजा के यहाँ कनकवती नाम की रानी से 'महीधर' नाम का पुत्र, द्वितीय सुनासीर मंत्री की लक्ष्मीदेवी से 'सुबुद्धि' नाम का पुत्र, तृतीय सागरदत्त सार्थवाह की अभयमती स्त्री से 'पूर्णभद्र' नाम का पुत्र, चतुर्थ धनश्रेष्ठी की शीलमती स्त्री से 'गुणाकर' नाम का पुत्र तथा पञ्चम ईश्वरदत्त पुत्र 'केशव' (श्रीमती का जीव) इन छहों में पय-पानी सा प्रेम था ।

अपने पिता की तरह जीवानन्द भी आयुर्वेद विद्या में प्रवीण था । उसकी प्रतिभा की तेजस्विता से सभी प्रभावित थे । एक दिन सभी स्नेही साथी परस्पर वार्तालाप कर रहे थे कि वहाँ एक दीर्घतपस्वी भिक्षार्थ आये । वे गृहस्थावस्था में पृथ्वीपाल राजा के गुणाकर नामक पुत्र थे,

---

१ (क) आवश्यकनिर्युक्तिमलयगिरिवृत्ति० १५८
(ख) आवश्यकहारिभद्रीयावृत्ति पृ० ११६।१
(ग) त्रिषष्टि० १।१।७१७
(घ) भरतेश्वर बाहुबली वृत्ति
(ङ) पुराणसार ५१।२।२६

२ (क) विमाने श्रीप्रभे तत्र नित्यलोके स्फुरत्प्रभः ।
स श्रीमान् वज्रजघार्यः श्रीधराख्य सुरोऽभवत् ॥
—महापुराण १८५।९।२०६
(ख) पुराणसार ५२।२।२६

३ (क) आवश्यकमलयगिरिवृत्ति पृ० १५८
(ख) आवश्यकचूर्णि पृ० १३२
(ग) त्रिषष्टि० १।१।७१८
(घ) भरतेश्वर बाहुबली वृत्ति

४ तत्थ य भुंजिऊण भोए आउयसेसयाए चइउण महाविदेहे वासे 'रसाहिहाणस्स' वेज्जस्स पुत्तत्तेणं समुप्पण्णो । —चउप्पन्न महापुरिस चरियं, पृ० ३१

जिन्होंने राज्यश्री को त्यागकर उग्र तपस्या प्रारम्भ की थी। असमय व अपथ्य भोजन के सेवन से वे कृमि-कुष्ठ की भयंकर व्याधि से ग्रसित हो गये थे। उन्हें निहारकर सम्राट् पुत्र महीधर ने उपालम्भ के रूप में जीवानन्द वैद्य से कहा—मित्रवर! आप अन्य की चिकित्सा करते हैं, चिकित्सा करने में कुशल भी हैं, पर मुझे अत्यन्त परिताप है, कि आपके अन्तर्मानस में इस समय दया की निर्मल स्रोतस्विनी प्रवाहित नहीं हो रही है। कृमिकुष्ठ रोग से ग्रसित मुनि को देखकर भी आप चिकित्सा हेतु प्रवृत्त नहीं हो रहे हैं।[1]

प्रत्युत्तर में जीवानन्द ने कहा—मित्र! तुम्हारा कथन अक्षरशः सत्य है, पर इस रोग की चिकित्सा के लिये जिन औषधियों की आवश्यकता है, वे मेरे पास नहीं हैं।

मित्रों ने कहा—बताइये, किन-किन औषधियों की आवश्यकता है? वे कहाँ पर उपलब्ध हो सकेंगी? हम मूल्य देंगे और जैसे भी होगा, लाने का प्रयास करेंगे।

जीवानन्द ने कहा—रत्नकम्बल, गोशीर्षचन्दन और लक्षपाक तैल। पूर्व की दो औषधियाँ मेरे पास नहीं हैं।

उसी क्षण वे पाँचों साथी औषध लाने के लिये प्रस्थित हुए। औषधियों की अन्वेषणा करते हुए एक श्रेष्ठी की विपणि पर पहुँचे। श्रेष्ठी से औषधि हेतु जिज्ञासा व्यक्त करने पर श्रेष्ठी ने कहा—प्रत्येक वस्तु का मूल्य एक-एक लाख दीनार है। वे उस निर्धारित मूल्य को देने के लिये ज्योंही प्रस्तुत हुए, त्योंही श्रेष्ठी ने प्रश्न किया—ये अमूल्य वस्तुएँ तुम्हें किसलिये चाहिए? उन्होंने बताया—मुनि की चिकित्सा के लिये। मुनि का नाम सुनते ही श्रेष्ठी सोचने लगा, कि इन नवयुवकों की धार्मिक निष्ठा अपूर्व है। उसने बिना मूल्य लिये ही औषधियाँ दे दीं। कालान्तर में शुद्ध भावों से वह सेठ प्रव्रजित होकर मोक्षगामी बना।[2] पाँचों मित्र उन वस्तुओं को लेकर वैद्य के पास गये।

जीवानन्द वैद्य भी अपने स्नेही साथियों के साथ उन औषधियों को

---

१ अस्ति व्याधेः परिज्ञानं, ज्ञानमस्त्यौषधस्य च।
चिकित्साकौशलं चाऽस्ति नास्ति वः केवलं कृपा॥ —त्रिषष्टि० १।१।७३८

२ त्रिषष्टि० १।१।७५६

तथा मृत-गोचर्म को लेकर उद्यान में पहुँचा। जहाँ मुनि ध्यानमुद्रा में अवस्थित थे। उन्होंने मुनि को सविधि वन्दन किया और उनकी स्वीकृति लिये बिना ही आरोग्य प्रदान करने हेतु सर्वप्रथम लक्षपाक तैल से मर्दन किया।[१] उष्णवीर्य तैल के प्रभाव से शरीरस्थ कृमियाँ बाहर निकलने लगीं, तो उन्होंने शीतवीर्य रत्नकम्बल से मुनि के शरीर को आच्छादित कर दिया, अतः शरीर से बाहर निकले हुए कीड़े उस कम्बल में ऐसे घुस गये जिस तरह भयंकर गर्मी की मौसम में उष्णता से घबराई हुई मछलियाँ शैवाल में घुस जाती हैं। तत्पश्चात् रत्नकम्बल की कृमियों को मृत-गोचर्म में स्थापित कर दिया, जिससे उनका प्राणघात न हो—'......**अहो सर्वत्राद्रोहता सताम्**' अर्थात् सज्जनों का प्रत्येक कार्य दयार्द्र होता है।

उसके पश्चात् पुनः लक्षपाक तैल से मर्दन किया और रत्नकम्बल से पुनः आच्छादित कर देने पर मांसस्थ कृमियाँ निकल आईं। तृतीय बार पुनः मर्दन किया और रत्नकम्बल ओढ़ा देने पर अस्थिगत कृमियाँ निकल गईं। जब शरीर कृमियों से मुक्त हो गया तो उस पर गोशीर्ष चन्दन के रस का विलेपन किया। इस तरह दवा करने से मुनि नीरोग व पूर्ण स्वस्थ हो गये।

मुनि की स्वस्थता देखकर छहों मित्र अत्यन्त प्रमुदित हुए। एक बार 'सिद्धाचार्य'[२] मुनि के तात्त्विक प्रवचन को सुनकर छहों को संसार से विरक्ति हुई, उन्होंने दीक्षा ग्रहण की और उत्कृष्ट संयम की आराधना-साधना की।[३]

---

१ चउप्पन महापुरिस चरियं तथा त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र के अनुसार उन्होंने मुनि से स्वीकृति ली। मुनि के द्वारा स्वीकृति मिलने पर वे मृत-गोचर्म लेकर आए। —चउप्पन महापुरिस चरियं, पृ० ३२।१
—त्रिषष्टि० १।१।७६०

२ चउप्पन महापुरिस चरियं पृ० ३२

३ (क) आवश्यकनिर्युक्ति गा० १६६
(ख) आवश्यकमलयगिरिवृत्ति पृ० १५८-१५६
(ग) आवश्यकचूर्णि पृ० १३२-१३३
(घ) आवश्यकहारिभद्रीयावृत्ति पृ० ११६-११७
(ङ) त्रिषष्टि० १।१।७२६-७८०
(च) भरतेश्वर बाहुबली वृत्ति
(छ) चउप्पन महापुरिस चरियं पृ० ३१-३२

महापुराण और पुराणसार में जीवानन्द वैद्य का भव नहीं बताया है। उन्होंने लिखा है, कि देवलोक से च्युत होकर जम्बूद्वीपस्थ वत्सकावती देश की सुसीमा नगरी में वह सुदृष्टि राजा और सुन्दरनन्दा रानी की कुक्षि से सुविधि पुत्र हुआ, और श्रीमती का जीव उसी का पुत्र केशव हुआ। केशव के स्नेहवश प्रारम्भ में उसके पिता सुविधि ने संयम न लेकर श्रावक व्रत स्वीकार किये और अन्त में दीक्षा लेकर संलेखनायुक्त समाधि-मरण प्राप्त किया।[1]

[१०] अच्युत देवलोक

आयु पूर्ण कर जीवानन्द का जीव तथा अन्य साथी बारहवें देवलोक में बाईस सागरोपम की स्थिति वाले देव बने।[2]

महापुराण और पुराणसार के अनुसार भी सुविधि का जीव बारहवें देवलोक में ही उत्पन्न हुआ।[3]

[११] वज्रनाभ

जीवानन्द का जीव देवलोक की आयु समाप्त होने पर पुष्कलावती विजय की पुण्डरीकिणी नगरी के अधिपति वज्रसेन राजा की धारिणी रानी की कुक्षि में उत्पन्न हुआ। उत्पन्न होते ही माता ने चौदह महास्वप्न देखे।[4]

---

१ (क) महापुराण १२१-१६१।६-१०।२१८-२२२
(ख) पुराणसार ६१-६५।२।२८-३०

२ (क) साहुं तिगिच्छिऊणं सामन्नं देवलोग गमण च।
—आवश्यकनिर्युक्ति गा० १७२

(ख) आवश्यकहारिभद्रीयावृत्ति, १६७
(ग) आवश्यकमलयगिरिवृत्ति प० १५६
(घ) आवश्यकचूर्णि १३३
(ङ) चउप्पन महापुरिस चरिय पृ ३२
(च) भरतेश्वर बाहुबली वृत्ति
(छ) षडपि द्वादशे कल्पेऽच्युतनामनि तेऽभवन्।
शक्रसामानिकास्तादृक्, न सामान्यफलं तपः॥
—त्रिषष्टि० १।१।७८६

३ (क) महापुराण, १७०।१०।२२२
(ख) समुत्पेदेऽच्युते कल्पे प्राप्य तत्र प्रतीन्द्रताम्।
—पुराणसार ६६।२।३०

४ देखिये परिशिष्ट।

जन्म होने पर पुत्र का नाम 'वज्रनाभ' रक्खा। पूर्व के पाँचों साथियों में से चार क्रमशः बाहु, सुबाहु, पीठ और महापीठ नामक उनके भ्राता हुए और केशव का जीव सुयशा नामक उनका सारथी हुआ।[१]

अपने ज्येष्ठ पुत्र वज्रनाभ को राज्य देकर सम्राट् वज्रसेन ने संयम ग्रहण किया और उत्कृष्ट संयम की साधना कर कैवल्य प्राप्त किया तथा तीर्थ की संस्थापना कर वे तीर्थङ्कर बने।

सम्राट् वज्रनाभ ने पूर्वभव में मुनियों की सेवा-सुश्रूषा की थी जिसके फलस्वरूप वे षट्खण्ड के अधिपति, चौदह रत्नों के स्वामी चक्रवर्ती सम्राट् बने और शेष भ्राता माण्डलिक राजा हुए। दीर्घकाल तक राज्य-लक्ष्मी का उपभोग करने के पश्चात् अपने पूज्य पिता तीर्थङ्कर वज्रसेन के प्रभावपूर्ण, अमृतप्रपा प्रवचनों को श्रवण कर उनके मानस में, वैराग्य का उदधि उछालें मारने लगा। अपने प्रिय लघु-भ्राताओं तथा सारथी के साथ वज्रनाभ चक्रवर्ती ने से प्रव्रज्या ग्रहण की।

संयम ग्रहण करने के पश्चात् वज्रनाभ ने आगमों का गम्भीर, तलस्पर्शी अनुशीलन-परिशीलन करते हुए चौदह पूर्व तक अध्ययन किया और अन्य भ्राताओं ने एकादश अङ्गों का। अध्ययन के साथ ही उन्होंने उत्कृष्ट तप तथा अनेक चामत्कारिक लब्धियाँ प्राप्त कीं। वज्रनाभ मुनि ने अरिहन्त, सिद्ध, प्रवचन-प्रभृति बीस निमित्तों की आराधना की और तीर्थङ्कर नामकर्म का बंध किया।[२]

आवश्यकनिर्युक्ति, आवश्यकचूर्णि आदि के अनुसार प्रथम और अन्तिम तीर्थङ्कर के जीव ने बीस ही स्थानों की आराधना व साधना की तथा अन्य तीर्थङ्करों के जीवों ने एक, दो, तीन आदि[३] की आराधना करके ही तीर्थङ्कर नामकर्म का बंध किया।

---

१ सुयशा किसी अन्य राजा का पुत्र हुआ, पूर्वभव के स्नेह-सम्बन्ध से बाद में वह वज्रनाभ का सारथी बना। —(क) भरतेश्वर बाहुबली वृत्ति

(ख) त्रिषष्टि शलाका० १।१।८०८

२ देखिये, परिशिष्ट

३ (क) 'पढमो तित्थयरत्तं बीसहिं ठाणेहिं कासीय।'

—आवश्यकनिर्युक्ति गा० १७५

(ख) पुरिमेण य पच्छिमेण य एते सव्वेऽवि फासिया।
ठाणा मज्झिमएहिं जिणेहिं एगं दो तिन्नि सव्वे वा॥

—आवश्यकचूर्णि २-१०६, पृ० १३५

महापुराण व पुराणसार प्रभृति दिगम्बर-परम्परा के ग्रन्थों में बीस[1] स्थानों के बदले सोलह भावनाओं का उल्लेख किया गया है।[2] किन्तु शाब्दिक दृष्टि से अन्तर होने पर भी दोनों में भावों की दृष्टि से विशेष अन्तर नहीं है।

जैन संस्कृति की तरह ही बौद्ध संस्कृति ने भी बुद्धत्व की उपलब्धि के लिये दान, शील, नैष्कर्म्य, प्रज्ञा, वीर्य, शांति, सत्य, अधिष्ठान (दृढ़ निश्चय), मैत्री, उपेक्षा (सुख-दुःख में समस्थिति), इन दस पारमिताओं को (पाली रूप पारमी) अपनाना आवश्यक माना है।[3] दस पारमिताओं और बीस स्थानों में भी अत्यधिक समानता है। तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करने पर स्पष्ट ज्ञात होता है, कि श्रमण-संस्कृति की दोनों ही धाराओं ने तीर्थङ्कर व बुद्ध बनने के लिये पूर्वभवों में ही आत्म-मन्थन, चित्तग्रंथन, गुणों का उत्कीर्तन तथा गुणों का धारण करना आवश्यक ही नहीं, अपितु अनिवार्य माना है।

वज्रनाभ मुनि ने भी विशुद्ध परिणामों से श्वेताम्बर ग्रन्थानुसार बीस स्थानकों की और दिगम्बर ग्रन्थानुसार सोलह भावनाओं की आराधना कर तीर्थङ्कर नाम-गोत्र का अनुबन्धन किया। अन्त में मासिक संलेखनापूर्वक पादपोपगमन संथारा कर समाधिपूर्वक आयुष्य पूर्ण किया।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि वज्रनाभ के शेष चारों लघु भ्राताओं में से बाहुमुनि, मुनियों की वैयावृत्य करता था और सुबाहुमुनि परिश्रान्त मुनियों को विश्रामणा देता था—अर्थात् थके हुए मुनियों के अवयवों का मर्दन आदि करके सेवा करता। दोनों की सेवाभक्ति को निहारकर वज्रनाभ अत्यधिक प्रसन्न हुए और उनकी प्रशंसा करते हुए बोले—तुमने सेवा और विश्रामणा के द्वारा अपने जीवन को सफल किया है।

ज्येष्ठ भ्राता के द्वारा अपने मंझले भ्राताओं की प्रशंसा सुनकर पीठ-महापीठ मुनि के अन्तर्मानस में ये विचार जाग्रत हुए कि हम स्वाध्याय

---

१ देखिये परिशिष्ट।

२ (क) महापुराण श्लोक० ६८-७७, पर्व ११, पृ० २३४।
(ख) तत्त्वार्थसूत्र, अ० ६, सू० २३।

३ बौद्धधर्म-दर्शन पृ० १८१-१८२।

आदि में निरन्तर तन्मय रहते हैं, पर खेद है कि हमारी कोई प्रशंसा नहीं करता, जबकि वैयावृत्य करने वालों की प्रशंसा होती है। इस ईर्ष्याबुद्धि की तीव्रता से मिथ्यात्वाभिनिवेश से उन्होंने स्त्रीवेद का बन्ध किया। आलोचना प्रतिक्रमण न करने पर स्वल्प दोष भी अनर्थ कारण बन जाता है।

सेवा के कारण बाहुमुनि ने चक्रवर्ती के विराट् सुखों के योग्य कर्म उपार्जित किये और सुबाहुमुनि ने विश्रामणा के द्वारा लोकोत्तर बाहुबल को प्राप्त करने योग्य कर्मों का संग्रहण किया।[1]

प्रस्तुत प्रसंग महापुराण में नहीं है।

[१२] सर्वार्थसिद्ध

आयु पूर्णकर वज्रनाभ आदि पाँचों भाई सर्वार्थसिद्ध विमान में उत्पन्न हुए। वहाँ वे तेतीस सागरोपम तक सुख-रूपी उदधि में अवगाहन करते रहे।[2]

महापुराणकार ने भरत और बाहुबलि के पूर्वभवों का निम्न प्रकार से उल्लेख किया है।

भरत का जीव प्रथम भव में 'अतिगृद्ध' नाम का राजा था। द्वितीय भव में वह नरक में उत्पन्न हुआ। तृतीय भव में 'शार्दूल' हुआ। चतुर्थ भव में 'दिवाकरप्रभदेव' बना। पञ्चम भव में 'मतिवर' हुआ। षष्ठम भव में 'अहमिन्द्र' बना। सप्तम भव में 'सुबाहु' बना। अष्टम भव में 'अहमिन्द्र' बना और नवम भव में षट् खण्ड का अधिपति भरत सम्राट् हुआ।

बाहुबली का जीव प्रथम भव में 'सेनापति' था। तदनन्तर भोगभूमि

१-२ (क) आवश्यकनिर्युक्ति १७२-१८२।
(ख) आवश्यकचूर्णि १३२-१३४।
(ग) आवश्यकहारिभद्रीयावृत्ति १२७-२१८।
(घ) आवश्यकमलयगिरिवृत्ति १५६-११२।
(ङ) त्रिषष्टि० १।१।७६१ से ९११।
(च) पुराणसार ७० से ७४।२।३०-३२।
(छ) महापुराण श्लोक ६८-७८, पर्व ११, पृ० २३३-२३४।
(ज) भरतेश्वर बाहुबली वृत्ति।
(झ) चउप्पन महापुरिस चरियं पृ० ३२ से ३४।

में 'आर्य' हुआ। तृतीय भव में 'प्रभंकर' देव बना। चतुर्थ भव में 'अकंपन' हुआ। पञ्चम भव में 'अहमिन्द्र देव' बना। षष्ठम भव में 'महाबाहु' बना। सप्तम भव में 'अहमिन्द्र' हुआ और अष्टम भव में अद्वितीय भुज-पराक्रम को धारण करने वाला 'बाहुबलि' हुआ।[1]

श्वेताम्बर ग्रन्थों में भरत और बाहुबली के 'सुबाहु, बाहु और अहमिन्द्र' के सिवाय और किसी भव का उल्लेख प्राप्त नहीं होता। केवल श्रेयांस के भगवान ऋषभदेव के साथ हुए दस भवों का उल्लेख है। आचार्य जिनसेन ने उसके ग्यारह भवों का उल्लेख किया है—(१) धनश्री (२) निर्नामिका (३) स्वयंप्रभा देवी (४) श्रीमती (५) भोगभूमि की आर्या (६) स्वयंप्रभ देव (७) केशव (८) अच्युत स्वर्ग में प्रतीन्द्र (९) धनदत्त (१०) अहमिन्द्र (११) दानधर्म का प्रथम नायक श्रेयांस।[2]

[१३] श्री ऋषभदेव

सर्वार्थसिद्ध की आयु समाप्त होने पर सर्वप्रथम वज्रनाभ का जीव च्युत हुआ और वह जम्बूद्वीपस्थ भरतक्षेत्र की इक्ष्वाकुभूमि में अन्तिम कुलकर 'नाभि' की पत्नी 'मरुदेवी' की कुक्षि में आषाढ़ कृष्णा चतुर्थी को उत्तराषाढ़ा नक्षत्र के योग में उत्पन्न हुआ।[3] चैत्र कृष्णा अष्टमी उत्तराषाढ़ा नक्षत्र के योग में ही उनका जन्म हुआ।[4] 'श्री ऋषभ' यह गुणनिष्पन्न नाम रखा गया।

---

१ महापुराण ४७।३६३-३६६।

२ महापुराण ४७।३६०-३६२।

३ (क) उववातो सव्वट्ठे सव्वेंसि पढमतो चुतो उसभो।
रिक्खेण असाढाहिं असाढबहुले चउत्थीए॥
—आवश्यकनिर्युक्ति गा० ८१२

(ख) कल्पसूत्र १९१ पृ० ५६

(ग) आषाढमासस्य पक्षे, प्रवृत्ते धवलेतरे।
चतुर्थ्यामुत्तराषाढानक्षत्रस्थे निशाकरे॥
प्रपाल्याऽऽयुस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमसम्मितम्।
जीवः श्री वज्रनाभस्य च्युत्वा सर्वार्थसिद्धितः॥
श्री नाभिपत्न्या उदरे मरुदेव्या अवातरत्।
मानसात् सरसो हंस, इव मन्दाकिनी तटे॥
—त्रिषष्टि० १।२।२०९-२१०

४ (क) आवश्यकनिर्युक्ति १८४

(ख) आवश्यकचूर्णि पृ० १३५

उसके पश्चात् बाहुमुनि का जीव सर्वार्थसिद्ध विमान से च्यवकर पूर्वभव की वैयावृत्य के दिव्य प्रभाव से श्री ऋषभदेव के पुत्र 'भरत चक्रवर्ती' हुए। 'सुबाहुमुनि' का जीव पूर्वभव में मुनियों को विश्रामणा देने से श्री ऋषभ के पुत्र बाहुबली हुए, जो विशिष्ट बाहुबल के अधिपति थे।

पीठ और महापीठ मुनि के जीव, ईर्ष्या के फलस्वरूप क्रमशः श्री ऋषभदेव की पुत्री ब्राह्मी और सुन्दरी के रूप में उत्पन्न हुईं।[1]

भगवान श्री ऋषभदेव के विराट् व्यक्तित्व और कृतित्व की झांकी अगले पृष्ठों में प्रस्तुत है। यहाँ तो मात्र श्री ऋषभदेव के पूर्वभवों का संक्षिप्त रेखा-चित्र उपस्थित किया गया है, जो पतनोत्थान का जीवित भाष्य है। श्रमण-संस्कृति का यह उद्घोष रहा है, कि जब आत्मा पर-परिणति से हटकर स्व-परिणति को अपनाता है तब शनैः-शनैः शुद्ध-बुद्ध निर्मल होता हुआ एक दिन परमात्मा बन जाता है। कर्मपाश से सदा सर्वदा के लिए मुक्त होने का नाम ही परमात्म-अवस्था है।[2]

इस प्रकार श्रमण-संस्कृति ने निजत्व में जिनत्व की पावन प्रतिष्ठा कर, जन-जन के अन्तर्मानस में आशा और उल्लास का संचार किया। प्रसुप्त देवत्व को जगाकर आत्मा से परमात्मा, नर से नारायण और भक्त से भगवान बनने का पवित्र सन्देश दिया।

□

---

१ (क) आवश्यकमलयगिरिवृत्ति १६२
(ख) आवश्यकचूर्णि पृ० १३५
(ग) आवश्यकहारिभद्रीयावृत्ति १२०
(घ) त्रिषष्टि० १।२।२६४-८८९
(ङ) महापुराण १२८।१५८।१५।३३६-३३९
(च) चउप्पन महापुरिस चरियं पृ० ३४

२ कर्मबद्धो भवेज्जीवः।
कर्ममुक्तस्तथा जिन.।।

तृतीय खण्ड

जन्म और साधना

- गृहस्थ जीवन
- साधक जीवन

गृहस्थ जीवन

गृहस्थ जीवन

महापुरुषों का देश

भारतवर्ष महापुरुषों का देश है, इस विषय में संसार का कोई भी देश या राष्ट्र भारतवर्ष की समानता नहीं कर सकता। यह अवतारों की जन्मभूमि है, सन्तों की पुण्यभूमि है, वीरों की कर्मभूमि है और विचारकों की प्रचार-भूमि है। यहाँ अनेक नररत्न, समाजरत्न एवं राष्ट्ररत्न पैदा हुए हैं, जिन्होंने मानव मन की सूखी धरणी पर स्नेह की सरस सरिता प्रवाहित की। जन-जीवन में अभिनव जागृति का संचार किया। जन-मन में संयम और तप की ज्योति जगाई। अपने पवित्र चरित्र और तपःपूत वाणी के द्वारा कर्त्तव्य-मार्ग में जूझने की अमर-प्रेरणा दी।

युग-पुरुष

गगन-मण्डल में विचरती हुई विद्युत् तरंगों को पकड कर जैसे बेतार का तार उन विद्युत् तरंगों को भाषित रूप देता है, अव्यक्त वाणी को व्यक्त करता है, वैसे ही समाज में या राष्ट्र मे जो विचारधाराएँ चलती हैं, उन्हें प्रत्येक विचारक अनुभव तो करता है, किन्तु अनुभूति की तीव्रता के अभाव में अभिव्यक्त नहीं कर सकता। युग-पुरुष की अनुभूति तीव्र होती है और अभिव्यक्ति भी तीव्र होती है; वह जनता-जनार्दन की अव्यक्त विचारधाराओं को बेतार के तार की भाँति मुखरित ही नहीं करता बल्कि उसे नूतन स्वरूप प्रदान करता है। उसकी विमल-वाणी में युग की समस्याओं का समाधान निहित होता है। उसके कर्म में युग का कर्म क्रिया-शील होता है और उसके चिन्तन में युग का चिन्तन चमकता है। युग-पुरुष अपने युग का सफल प्रतिनिधित्व करता है, जन-जन के मन का साधिकार नेतृत्व करता है, एवं वह युग की जनता को सही दिशा-दर्शन देता है। भूले-भटके जीवन-राहियों का पथ-प्रदर्शन करता है। अतः वह समाजरूपी शरीर का मुख भी है और मस्तिष्क भी है।

भगवान श्री ऋषभदेव ऐसे ही युग-पुरुष थे, जिन्होंने अपने युग की भोली-भाली जनता को 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' का पाठ पढ़ाया, जन-जीवन को नया विचार, नयी वाणी एवं कर्म प्रदान किया। भोगमार्ग से हटाकर

कर्ममार्ग, प्रवृत्तिमार्ग और योगमार्ग पर लगाया। अज्ञानान्धकार को हटाकर ज्ञान का विमल आलोक प्रज्वलित किया। मानव संस्कृति का नव-निर्माण किया। यही कारण है, कि अनन्त अतीत की धूलि भी उनके जीवन की चमक एवं दमक को आच्छादित नहीं कर सकी।

भारतीय संस्कृति के आद्य-निर्माता

आज, मानव संस्कृति के आद्य निर्माता महामानव भगवान श्री ऋषभदेव के नाम से कौन अनभिज्ञ होगा? वे वर्तमान अवसर्पिणी काल-चक्र में सर्वप्रथम तीर्थङ्कर हुए हैं।[१] उन्होंने ही सर्वप्रथम पारिवारिक प्रथा, समाज व्यवस्था, शासन पद्धति, समाजनीति और राजनीति की स्थापना की और मानव-जाति को एक नया प्रकाश दिया, जिसका उल्लेख अगले पृष्ठों में किया जाएगा।

जन्म से पूर्व की परिस्थिति

भगवान श्री ऋषभदेव के जन्म से पूर्व अवसर्पिणीकाल के प्रथम आरे में मनुष्यों का आयुष्य तीन पल्योपम का होता था, तथा उनका देहमान तीन-कोश परिमाण। उस समय मानव वज्रऋषभनाराच संघयण तथा समचतुरस्रसस्थान वाले, सुन्दर व आकर्षक शरीर को धारण करने वाले थे। आदिपुराण में वर्णन है, कि वहाँ सदाचार, संतोष, सत्य व ईमानदारी की प्रवृत्ति के कारण रोग, शोक, वियोग व वृद्धत्वजन्य कष्ट नहीं होते थे।[२]

उस समय आवश्यकताएँ अत्यन्त अल्प थीं, संचय वृत्ति का अभाव था, पक्षी की भाँति वे स्वतन्त्र विचरण करते थे, किसी प्रकार की सामा-

१ (क) एत्थणं उसहेणाम अरहा कोसलिए पढमराया, पढमजिणे, पढमकेवली, पढम-तित्थयरे, पढम धम्मवरचक्कवट्टी समुप्पज्जित्था। —जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति

(ख) उसमे इ वा, पढमराया इ वा, पढमभिक्खाचरे इ वा, पढमजिणे इ वा, पढमतित्थकरे इ वा।

—कल्पसूत्र०—पुण्यविजयजी, सू० १९४, पृ० ५७

२ यद्‌भुवा न जरातका न वियोगो न शोचनम्।
नानिष्टसम्प्रयोगश्च न चिन्ता दैन्यमेव च॥
न विषादो भय ग्लानिर्नारुचि. कुपित च न।
न कार्पण्यमनाचारो, न बलो यत्र नाबल.॥

—आदिपुराण ९।७३, ७६

जिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक मर्यादाएँ न थीं। शासक या शासित, शोषक अथवा शोषित का सर्वथा अभाव था। उस समय की भूमि भी स्निग्ध, कोमल व मधुर थी। धान्य बिना बोये उग आते थे। घोड़े, हाथी, ऊँट आदि सभी प्रकार के पशु थे, पर इनका कोई उपयोग नहीं करता था। बुभुक्षा अत्यल्प थी और उसे शांत करने के लिये अनेक प्रकार के कल्पवृक्ष होते थे। सूर्य, चन्द्र, तारामण्डल सदृश ज्योतिवन्त अनेकों कल्पवृक्ष थे। अतः उन लोगों ने कभी नभ-मण्डल में सूर्य व चन्द्रमा के दर्शन भी नहीं किये थे। सब प्रकार के मनोरंजन व आमोद-प्रमोद के साधनों की उपलब्धि दस प्रकार के कल्पवृक्षों[1] से स्वतः हो जाती थीं। ऐसे कल्पवृक्षों को इस्लाम द्रख्त, तोबे और क्रिश्चियन स्वर्गीय वृक्षों (Celestial Tree) के नाम से संकेतित करते हैं। आज भी अमेरिका में कल्पवृक्षों के प्रतीक स्वरूप कुछ वृक्षों को Milk Tree, Bread Tree और Light Tree कहा जाता है।

इस प्रकार एकान्त सुखरूप 'सुषमा' नामक प्रथम काल चार कोटाकोटि सागर पर्यन्त चला। तत्पश्चात् क्रमशः ह्रासोन्मुख होता हुआ द्वितीय काल पूर्ण हो गया व तृतीय काल भी व्यतीत होने लगा। शनैः-शनैः कल्पवृक्षों से प्राप्त सामग्री क्षीणप्राय होने लगी। आवश्यकताएँ बढ़ने लगीं, तो संचय वृत्ति, अहंता-ममता ने भी डेरा डालना शुरू कर दिया। सरलता, निष्कपटता व सहज शांति के स्थान पर पारस्परिक वैमनस्य, घृणा, तनाव व संघर्ष उत्पन्न हुए। अपराधी मनोभावना के बीज अंकुरित होने लगे। आयु भी क्रमशः घटता हुआ तीन पल्य के स्थान पर दो पल्य और एक पल्य का होगया। शरीर का परिमाण भी घटने लगा किन्तु भोजन की मात्रा पहले से अधिक होगई। भूमि की स्निग्धता और मधुरता में पर्याप्त अन्तर आगया। आवश्यकताओं की पूर्ति न होने से मानव-जीवन अस्त-व्यस्त हो गया।

शासन-व्यवस्था

विख्यात राजनैतिक विचारक टामस पेन (Tamas Paine) ने लिखा है, 'मानव अपनी बुरी प्रवृत्तियों पर स्वयं नियंत्रण नहीं रख सका, इसलिये शासन का जन्म हुआ।' शासन का कार्य है—मानव की दुष्प्रवृत्तियों पर

---

१ परिशिष्ट मे देखिये।

नियन्त्रण रखना। सुप्रवृत्ति पुष्पलता है, फलरुह है, जिसे दुष्प्रवृत्ति की झाड़ियाँ पनपने नहीं देतीं। शासन का कार्य इन झाड़ियों को काटना है।[१]

प्रस्तुत सन्दर्भ के प्रकाश में हम जैन सस्कृति की दृष्टि से देखें तो भी शासन-व्यवस्था का मूल, अपराध और अव्यवस्था ही है। अपराध और अव्यवस्था पर नियन्त्रण पाने हेतु सामूहिक जीवन जीने के लिये मानव विवश हुआ। मानव की अन्तःप्रकृति ने उसे प्रेरणा प्रदान की, कि भोगभूमि की समाप्ति के साथ ही वैयक्तिक जीवन का भी त्याग करना चाहिये और कर्मभूमि के साथ ही सामाजिक जीवन जीने की कला अपनानी चाहिए। यह सर्वमान्य तथ्य है, कि आजीविका, विवाह, व्यवसाय प्रभृति कार्यों के लिए सामाजिक सहयोग की नितान्त अपेक्षा रहती है। सामाजिक चेतना के अभाव में कर्म का मार्ग संकीर्ण व भयावह बन जाता है। अतएव सामाजिक जीवन की आवश्यकताओं की परिपूर्ति के लिए जो सामूहिक व्यवस्था निर्धारित हुई उसे 'कुल' कहा गया। कुल की व्यवस्था व संचालन करने वाला सर्वेसर्वा अथवा मुखिया जो प्रकृष्ट प्रतिभा-सम्पन्न होता था उसे 'कुलकर' की सज्ञा से अभिप्रेत किया गया।[२] उसे व्यवस्था बनाये रखने के लिए अपराधी को दण्ड देने का भी अधिकार था। आचार्य जिनसेन ने स्व-रचित महापुराण में कुलकर की परिभाषा निम्न प्रकार से व्यक्त की है—

प्रजा के जीवनोपायों के ज्ञाता मनु व आर्य मनुष्यों को 'कुल' की तरह एक रहने का जिन्होंने उपदेश दिया, वे कुलकर कहे गये। युग की आदि में होने से वे युगादिपुरुष से भी सम्बोधित किये गये।[3]

कुलकरों की संख्या

कुलकरों की सख्या के सम्बन्ध में विभिन्न मत हैं। श्वेताम्बर अंग

---

१ ज्ञानोदय, वर्ष १७, अक २, अगस्त १९६५ सहचिन्तन

—कन्हैयालाल मिश्र, पृ० १४४

२ स्थानांगसूत्रवृत्ति ७६७।५१८।१

३ प्रजाना जीवनोपायमननान्मनवो मत।
आर्याणां कुलसस्त्यायकृतेः कुलकरा इमे ॥
कुलाना धारणादेते मताः कुलधरा इति।
युगादिपुरुषा प्रोक्ताः युगादौ प्रभविष्णवः ॥

—महापुराण, आदि पुराण ३।२११।२१२

साहित्य—स्थानांग[1], समवायांग[2] तथा भगवती में सात कुलकरों का उल्लेख मिलता है, जिसकी पुष्टि आवश्यकचूर्णि,[3] आवश्यकनिर्युक्ति,[4] त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र[5], वसुदेव हिंडी[6] तथा भरतेश्वर बाहुबली-वृत्ति[7] आदि के पश्चात्‌वर्ती आचार्यों ने की है। उपांग साहित्य—जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में पन्द्रह कुलकर माने हैं।[8] पउमचरियं,[9] महापुराण[10], हरिवंश पुराण[11] और सिद्धान्त संग्रह[12] में चौदह कुलकरों के नाम उपलब्ध होते हैं।

---

१ स्थानाङ्गसूत्रवृत्ति सू० ७६७ पत्र ५१८।१

२ (क) समवायाङ्ग १५७

(ख) जम्बुद्दीवे णं भंते ! दीवे भारहे वासे इमीसे ओसप्पिणीए समाए कइ कुलगरा होत्था ? गोयमा सत्त। —भग० ५।६।३

३ आवश्यकचूर्णि १२९

४ आवश्यकमलयगिरिवृत्ति १५२।१५४

५ त्रिषष्टि० १।२।१४२-२०६

६ वसुदेवहिंडी—संघदासगणी वाचक विरचित—नीलयशा लभक खण्ड

७ भरतेश्वर बाहुबली वृत्ति

८ तीसे समाए पच्छिमेतिभाए पलिओवमद्धभागावसेसे, एत्थणं, इमे पण्णरस कुलगरा समुप्पजित्था त जहा—सुमई, पडिस्सुइ, सीमकरे, सीमधरे, खेमंकरे, खेमधरे, विमलवाहणे, चक्खुम, जसम, अभिचन्दे, चन्दाभे, पसेणई, मरुदेवे, णाभी, उसभोत्ति। —जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति पत्र १३२

९ (१) सुमति (२) प्रतिश्रुति (३) सीमङ्कर (४) सीमन्धर (५) क्षेमंकर (६) क्षेमंधर (७) विमलवाहन (८) चक्षुष्मान् (९) यशस्वी (१०) अभिचन्द्र (११) चन्द्राभ (१२) प्रसेनजित् (१३) मरुदेव (१४) नाभि —पउमचरिय ३।५०-५५

१० आद्यः प्रतिश्रुतिः प्रोक्तः, द्वितीयः सन्मतिर्मतः।
तृतीयः क्षेमकृन्नाम्ना, चतुर्थः क्षेमधृन्मनुः॥
सीमकृत्पंचमो ज्ञेयः, षष्ठः सीमधृदिष्यते।
ततो विमलवाहाकश्, चक्षुष्मानष्टमो मतः।
यशस्वान्नवमस्तस्मान्, नाभिचन्द्रोऽप्यनन्तरः॥
चन्द्राभोऽस्मात्परं ज्ञेयो, मरुदेवस्ततः परम्।
प्रसेनजित्परं तस्मान्नाभिराजश्चतुर्दशः॥
—महापुराण, जिनसेनाचार्य, १।३।२२९-२३२, पृ० ६६

११ हरिवंशपुराण में महापुराण की तरह ही चौदह कुलकरों के नाम उपलब्ध होते हैं। —हरिवंशपुराण, सर्ग ७, श्लोक १२४-१७०

१२ सिद्धान्त संग्रह, पृ० १८

इस प्रकार कुलकरों की व्यवस्था और कार्यक्षेत्र की दृष्टि से मतैक्यता होने पर भी उनकी संख्या के सम्बन्ध में जो विभिन्न मत उपलब्ध होते हैं उनसे अनुमानित होता है, कि कुछ कुलकर मनुष्यों के लिये योगक्षेम में मात्र मार्गदर्शक रहे होंगे, अतः अपेक्षाभेद से इनकी संख्या में विभिन्नता दृष्टिगोचर होती है। कुछ एक आचार्यों ने संख्या-भेद को वाचना-भेद माना है।

कुलकरों को आदिपुराण में 'मनु' ने भी कहा गया है।[१]

वैदिक साहित्य में कुलकरो के स्थान में 'मनु' शब्द ही व्यवहृत हुआ है। मनुस्मृति में स्थानांग की तरह सात मनुओ का उल्लेख है[२] तो अन्यत्र चौदह का भी।[3] संक्षेप में चौदह या पन्द्रह कुलकरों को सात में अन्तर्निहित किया जा सकता है। चौदह या पन्द्रह कुलकरों का जहाँ उल्लेख है, उसमे प्रथम छह सर्वथा नये हैं और ग्यारहवें कुलकर चन्द्राभ का भी उल्लेख नही है। शेष सात वे ही हैं।

प्रथम कुलकर—विमलवाहन

जब विचार सघर्ष, कषाय-वृद्धि, छल-प्रपच, स्वार्थ, अहंकार और वैर-विरोध की पाशविक प्रवृत्तियों का प्रादुर्भाव हो रहा था और इसके लिए किसी के नेतृत्व की परम आवश्यकता अनुभव की जा रही थी तभी एक विशेष घटना घटित हुई, जो उस समय की स्थिति में एकदम अपूर्व थी।

---

१ (क) आदि पुराण ३।१५
(ख) महापुराण ३।२२९, पृ० ६६

२ स्वायम्भुवस्यास्य मनो॰, षड्वश्या मनवोऽपरे।
सृष्टवन्तः प्रजाः स्वाः स्वाः, महात्मानो महौजसः॥
स्वारोचिषश्चोत्तमश्च, तामसो रैवतस्तथा।
चाक्षुषश्च महातेजा, विवस्वत्सुत एव च॥
स्वायम्भुवाद्या. सप्तैते, मनवो भूरितेजस.।
स्वे स्वेऽन्तरे सर्वमिदमुत्पाद्यापुश्चराचरम्॥ —मनुस्मृति १।६१-६३

३ (१) स्वायम्भुव (२) स्वारोचिष (३) औत्तमि (४) तापस (५) रैवत (६) चाक्षुष (७) वैवस्वत (८) सावर्णि (९) दक्षसावर्णि (१०) ब्रह्मसावर्णि (११) धर्मसावर्णि (१२) रुद्रसावर्णि (१३) रौच्यदेव सावर्णि (१४) इन्द्र सावर्णि।
—मोन्योर-मोन्योर विलियम : संस्कृत-इगलिश डिक्शनरी, पृ० ७८४

एक युगल स्वेच्छया वन में इतस्ततः परिभ्रमण कर रहा था, एकाएक सामने से एक निर्मल श्वेत, सुन्दर कान्तिवाला बलिष्ठ हस्ति आ निकला। उसने उस युगल को अत्यन्त स्नेह की दृष्टि से निहारा। हाथी ने जातिस्मरणज्ञान से पूर्वभवानुभूत दृश्य का अवलोकन कर जाना कि हम दोनों ही पश्चिम महाविदेह क्षेत्र में घनिष्ठ मित्र थे, यह सरल परिणामों द्वारा काल कर यहाँ उत्पन्न हुआ है और मैं धूर्त्त स्वभावी होने से पशु योनि को प्राप्त हुआ हूँ। उसने अपनी सूंड से उनका प्रसन्नमन से आलिङ्गन किया और उनकी इच्छा न होते हुए भी उन्हें उठाकर अपनी पीठ पर बिठा लिया। अन्य युगलों को इस घटना से अत्यन्त आश्चर्य हुआ, क्योंकि उन्होंने वाहनारूढ़ कभी किसी व्यक्ति को नही देखा था। लोगों ने उस युगल को गजारूढ़ देखकर सोचा—यह मनुष्य हम सबसे अधिक शक्तिशाली है अतः इसी को अपना मुखिया बनाना चाहिये, सभी युगलियों ने मिलकर उसे ही प्रथम कुलकर के पद पर आसीन कर दिया। विमल-उज्ज्वल कांति वाले हाथी पर आरूढ़ होने के कारण उसका नाम भी 'विमलवाहन' प्रसिद्ध हो गया है।[1]

विमलवाहन शासक के सद्भाव में कुछ समय तक अपराधों में न्यूनता रही, पर कल्पवृक्षों के क्षीणप्राय होने से युगलों का उन पर ममत्व बढ़ने लगा। एक युगलिया जिस कल्पवृक्ष का आश्रय लेता था उसी का आश्रय अन्य युगल भी ले लेता था इससे कलह व वैमनस्य की भावनाएँ तीव्रतर होने लगीं। वर्तमान स्थिति का सिंहावलोकन करते हुए नीतिज्ञ कुलकर विमलवाहन ने कल्पवृक्षों का विभाजन कर दिया।

दण्डनीति

अपराधी मनोवृत्ति जब व्यवस्था का भी अतिक्रमण करने लगी तब अपराधों के निरोध के लिए दण्ड-नीति[2] की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी। इससे पूर्व कोई दण्ड-व्यवस्था नही थी।

हाकार नीति

सात कुलकरों की दृष्टि से प्रथम कुलकर 'विमलवाहन' के समय

---

१ (क) आवश्यकनिर्युक्ति, पृ० १५३।
(ख) त्रिषष्टि० १।२।१४२-१४७।

२ दण्डः अपराधिनामनुशासनं तत्र तस्य वा स एव वा नीतिः नयो दण्डनीति।
—स्थानांगवृत्ति प० ३६६-१

'हाकार'[1] नीति का प्रचलन हुआ। जब उपर्युक्त विभाग व्यवस्था का भी अतिक्रमण होने लगा तो अपराधी को खेदपूर्वक 'हा! अर्थात् तुमने यह क्या किया?' ऐसा दण्ड दिया जाता था। यह शब्द-प्रताड़ना उस युग का महान् दण्ड था। क्योंकि उस युग का मानव आज के मानव की तरह अमर्यादित व उच्छृंखल नहीं था। वह स्वभाव से सकोची और लज्जाशील था। अपराध के प्रतिकारस्वरूप 'हा' शब्द कह देने मात्र से वह पानी-पानी हो जाता, उसे ऐसा प्रतीत होता मानो मृत्यु-दण्ड मिल रहा हो।[2] प्रस्तुत नीति द्वितीय कुलकर 'चक्षुष्मान्' के समय तक सफलता से चली।

माकार नीति

जब 'हाकार' नीति विफल होने लगी। अपराध बढ़ने लगे और प्रस्तुत हाकार दण्ड लोगों के लिये अड़ियल अश्व की तरह सहज बन गया, उस समय अन्य नीति की आवश्यकता प्रतीत हुई। 'आवश्यकता आविष्कार की जननी है' इस कथन के अनुसार चक्षुष्मान् के पुत्र तृतीय कुलकर यशस्वी ने यह सोचकर कि 'यदि एक दवा से रोग-शान्ति न होती हो तो दूसरी दवा का प्रयोग करना चाहिये, लघु अपराध के लिए 'हाकार नीति' और गुरुतर अपराध के लिए 'माकार नीति'[3] का प्रयोग प्रारम्भ किया तथा उससे भी अधिक अपराध वालों को दोनों नीतियों से दण्ड देना शुरू किया।[4] यशस्वी के पुत्र 'अभिचन्द्र' के समय तक उक्त दो दण्ड व्यवस्थाओं से काम चलता रहा। 'मत करो' यह निषेधाज्ञा महान् दण्ड समझी जाती थी।

धिक्कार नीति

मगर जन-साधारण की धृष्ठता क्रमशः बढ़ती जा रही थी। अतः माकार नीति के भी असफल हो जाने पर 'धिक्कार नीति' का प्रादुर्भाव हुआ।[5] और यह नीति पाँचवें प्रसेनजित्, छठे मरुदेव तथा सातवें कुलकर

---

१ ह इत्यधिक्षेपार्थस्तस्य करण हकारः। — स्थानांगसूत्रवृत्ति ३९९

२ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति कालाधिकार ७६

३ 'मा' इत्यस्य निषेधार्थस्य करणं अभिधान माकार.। —स्थानांगवृत्ति प० ३९९

४ त्रिषष्टि० १।२।१७६-१७९

५ धिगधिक्षेपार्थं एव तस्य करण उच्चारण धिक्कार.। —स्थानाङ्गवृत्ति प० ३९९

नाभि तक चलती रही। क्योंकि उस समय का मानव स्वभाव से सरल और मानस से कोमल था।[१] अतः नाभि कुलकर तक अपराधवृत्ति का विशेष विकास नहीं हुआ। इस नीति के अनुसार अपराधी को इतना और कहा जाता था कि 'धिक् अर्थात् तुझे धिक्कार है, जो ऐसा कार्य किया।' इस प्रकार जघन्य अपराध वालों के लिये 'खेद', मध्यम अपराध वालों के लिए 'निषेध' तथा उत्कृष्ट अपराध वालों के लिए 'तिरस्कार' सूचक दण्ड मृत्यु-दण्ड से भी अधिक प्रभावशाली थे।

इस तरह सभी कुलकरों ने अपने-अपने समय की तात्कालिक समस्या का आंशिक समाधान किया।

दिगम्बर परम्परा के अनुसार जब तीसरा आरा समाप्ति पर था, कल्पवृक्षों की शक्ति न्यून होती चली गई, उस समय क्रमशः १४ कुलकर हुए जो मानव-सभ्यता के सूत्रधार थे। इन्होंने मनुष्यों को प्रकृति-प्रदत्त वस्तुओं के उपयोग की कला सिखाई। कृषि व औद्योगिक सभ्यता की ओर मानव समाज को कुलकर-संस्था ने ही प्रवृत्त किया। ग्राम व नगर संस्कृति के जनक भी ये ही माने जाते हैं। हरिवंशपुराण, महापुराण तथा पउमचरियं के अनुसार तृतीय आरे की समाप्ति पर कल्पवृक्षों की ज्योति मन्द-मन्दतर होती गई, तब एक बार प्रथम कुलकर के समय आकाश मे उदित हुए सूर्य-चन्द्र को देखकर जन-समुदाय भयभीत हो उठा, भावी उत्पात की आशंका से वे सब प्रथम कुलकर प्रतिश्रुति के पास गये, और बोले—हे नररत्न! नभ-मण्डल के दोनों छोरों पर, मण्डलाकार तथा असमय में हम लोगों को भय उत्पन्न करने वाले ये दो अपूर्व पदार्थ क्या हैं?[२] प्रतिश्रुति ने उनकी जिज्ञासा का समाधान करते हुए कहा—ये सूर्य, चन्द्र ज्योतिश्चक्र के स्वामी हैं। पहले ज्योतिरंग कल्पवृक्षों के कारण ये धूमिल से थे, अब वे कल्पवृक्ष निस्तेज हो रहे हैं। अतः ये चमकते हुए स्पष्ट प्रतिभासित होते हैं, इनसे भयभीत होने का कोई कारण नहीं। यह सुनकर सब मनुष्य निर्भय हो गये। सूर्य-चन्द्र का दिखना उस युग में होने वाले परिवर्तनों में सर्वप्रथम परिवर्तन था।[३]

---

१ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, वक्षस्कार, सू० १४

२ नरप्रधान! कावेतावपूर्वौ गगनान्तयोः।
दृश्यते मण्डलाकारावकाण्डे नो भयङ्करौ॥ —हरिवंशपुराण ७।१२८

३ महापुराण ३।७०, ७१

इसी तरह तारागणों से युक्त नभोमण्डल को देखकर भयभीत हुए मनुष्यों के भय को सन्मति नाम के द्वितीय कुलकर ने दूर किया। क्षेमंकर ने प्रजाहित के लिये सिंह-व्याघ्र इत्यादि बर्बर जानवरों को निर्जन वनों में छुड़वा दिया। क्षेमंधर ने हिंस्र पशुओं से रक्षा का उपाय बताया। सीमंकर ने सम्पत्ति का बंटवारा करना सिखाया तथा कल्पवृक्षों की सीमा निश्चित कर दी। विमलवाहन ने गज, अश्व आदि वाहनों पर सवारी करना सिखाया। पहले माता-पिता पुत्र का मुंह देखे बिना ही कालधर्म को प्राप्त हो जाते थे, संतान कल्पवृक्षों की सुगन्धित वायु से पोषण प्राप्त कर स्वतः बड़े हो जाते थे। अब माता-पिता पुत्र का मुंह देखने लगे तो उन्हें अति आश्चर्य हुआ।[१] चक्षुष्मान् ने उक्त आश्चर्य को दूर किया। यशस्वान् ने अपने समय में पुत्र का नामकरण रखने की शिक्षा दी और आशीर्वाद देना सिखाया।[२] अभिचन्द्र कुलकर ने अपने समय की समस्या का बखूबी समाधान करते हुए बालकों को क्रीड़ा-विनोद करवाने की शिक्षा दी। मरुदेव ने जल-संतरण के लिये नौका व पर्वतारोहण के लिये सीढ़ियों का आविष्कार किया। प्रसेनजित जो युगल धर्म से रहित थे उन्होंने किसी अन्य प्रधान कुल की कन्या के साथ विवाह किया। नाभिराज नाम के अंतिम कुलकर ने नाभि-(नाल) काटने की विधि सिखायी, अतः वे वे नाभिराय कहलाये।[3] इस प्रकार चौदह ही कुलकरों ने अपने-अपने समय में जनोपयोगी कार्य किये।[४]

महापुराण मे जिनसेनाचार्य ने नाभि कुलकर के और भी युगानुकूल कार्यो का उल्लेख किया है—कौनसा फल खाने योग्य है और कौनसा अभक्ष्य है इसका परिज्ञान कराया तथा थाली आदि अनेक प्रकार के

१ महापुराण ३।१२४

२ वही ३।१२८

३ तस्सि काले होदि हु बालाण णाभिणालमइदीह ।
तवकत्तणो बदेसं कहदि मणू ते पकुव्वंति ॥

—तिलोयपण्णत्ति ४।४९।६

४ (क) महापुराण, भगवज्जिनसेनाचार्य ३।५५-२०६ ।
(ख) हरिवंशपुराण ७।१२५-१७० ।
(ग) तिलोयपण्णत्ति महाधिकार ४।४२१-५०६।१९७-२०६ ।

बर्तन हाथी के गण्डस्थल पर मिट्टी द्वारा बनाकर वैसे ही अन्य बर्तन बनाने का भी उपदेश दिया।[१]

वहाँ पर यह उल्लेख भी है, कि ये चौदह ही कुलकर पूर्वभव में महाविदेह क्षेत्र में उच्चकुलीन महापुरुष थे। इनमें से कितने ही कुलकर जातिस्मरणज्ञान के धारक थे, और कितने ही अवधिज्ञान के धारक। इसीलिये उन्होंने अपने ज्ञान-बल से उक्त कार्यों का उपदेश दिया था।[२]

नाभि कुलकर

अन्य कुलकरों से नाभिराय अधिक प्रतिभासम्पन्न थे। उनका समुन्नत शरीर, अप्रतिम रूप-सौन्दर्य, अपार बल-वैभव के कारण वे सभी में अप्रतिम है। श्रीमद्भागवतकार ने उनको आदिमनु स्वायम्भुव के पुत्र प्रियव्रत और प्रियव्रत के आग्नीध्र तथा आग्नींध्र के नौ पुत्रों में ज्येष्ठ माना है।[3] महाराजा नाभि अपने विशिष्ट ज्ञान, उदार गुण एवं परम ऐश्वर्य के कारण कुलकर या 'मनु' कहलाते थे।

उनका युग एक संक्रान्तिकाल था। भोगभूमि समाप्त होकर कर्मभूमि का प्रारम्भ हो चुका था। नये प्रश्न थे, नये हल चाहिए थे। नाभिराय ने उनका समाधान प्रदान किया। वे जन-जन के त्राणकर्ता बने, अतः उन्हें क्षत्रिय कहा गया। वही 'क्षत्रिय' शब्द आगे चलकर 'नाभि' के अर्थ में रूढ हो गया। अमर कोषकार ने 'क्षत्रिये नाभिः' लिखा है।[४] अभिधान चिन्तामणि में आचार्य हेमचन्द्र ने भी 'नाभिश्च क्षत्रिये' लिखा है।[५] मेदिनीकोश में लिखा है कि चक्र के मध्य भाग में जिस प्रकार नाभि की मुख्यता है उसी प्रकार क्षत्रिय राजाओं में नाभि मुख्य थे।[६] आचार्य जिनसेन के शब्दों में कहा जाय तो वे चन्द्र के समान अनेक कलाओं की आधारभूमि थे, सूर्य के समान तेजवान थे, इन्द्र के समान वैभव सम्पन्न थे और कल्पवृक्ष

१ महापुराण ३।२०४

२ वही ३।२०७,२१०

३ प्रियव्रतो नाम सुतो मनोः स्वायम्भुवस्य यः।
तस्याग्नीध्रस्ततो नाभिः ऋषभस्तत्सुतः स्मृतः॥ —भागवतपुराण ११।२।१५

४ अमरकोष ३।५।२०

५ अभिधान चिन्तामणि १।३६

६ नाभिर्मुख्य नृपे चक्रमध्यक्षत्रियोरपि —मेदिनी कोष भ० वर्ग ५

के समान मनोवांछित फलों के प्रदाता थे।[1] अरबी का एक शब्द है 'नबी' जिसका अर्थ है 'ईश्वर का दूत', 'पैगम्बर' और 'रसूल'।[2] यह शब्द संस्कृत के 'नाभि' और प्राकृत के 'णाभि' का रूपान्तर है। जिसका तात्पर्य है कि ईश्वर का दूत। वे अपने तेजस्वी व्यक्तित्व के कारण 'ईश्वर के दूत' के रूप में जन-जन के आदर पात्र बने।

नाभि का दूसरा नाम 'अजनाभ' था। उनके नाम पर प्रस्तुत आर्यखण्ड को 'नाभिखण्ड' या अजनाभवर्ष कहा गया। स्कन्धपुराण में 'हिमाद्रिजलधेरन्तर्नाभिखण्डमिति स्मृतम्' पद आया है।[3] इस पर चिन्तन करते हुए डा० अवधबिहारी लाल अवस्थी ने लिखा है 'सप्त द्वीपों वाली पृथ्वी में जम्बूद्वीप बहुत ही प्रसिद्ध भूखण्ड था। आद्य प्रजापति मनु स्वायम्भुव के पुत्र प्रियव्रत दस राजकुमारों के पिता थे। उनमें तीन तो संन्यासी हो गये थे और सात पुत्रों ने सात महाद्वीपों का आधिपत्य प्राप्त किया। ज्येष्ठ आग्नींध्र जम्बूद्वीप के राजा हुए। उनके नौ लड़के जम्बूद्वीप के स्वामी बने। जम्बूद्वीप के नौ वर्षों में से हिमालय और समुद्र के बीच में स्थित भूखण्ड को आग्नींध्र के पुत्र नाभि के नाम पर ही 'नाभिखण्ड' कहा गया।[4] हम पूर्व लिख चुके हैं कि नाभि का दूसरा नाम अजनाभ था जिससे इस खण्ड को 'अजनाभ-वर्ष' भी कहते हैं। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने लिखा है 'स्वायम्भुव मनु के पुत्र प्रियव्रत, प्रियव्रत के पुत्र नाभि, नाभि के पुत्र ऋषभ और ऋषभदेव के सौ पुत्र हुए, जिनमें भरत ज्येष्ठ थे। यही नाभि अजनाभ भी कहलाते थे जो अत्यन्त प्रतापी थे और जिनके नाम पर यह देश 'अजनाभ वर्ष' कहलाता था।[5] श्रीमद्‌भागवत में लिखा है 'अजनाभवर्ष ही आगे चलकर 'भारतवर्ष' इस संज्ञा से अभिहित हुआ।[6]

---

१ शशीव स कलाधारः तेजस्वी भानुमानिव।
प्रभु शक्र इवाभीष्ट फलदः कल्पशाखिवत्॥ —महापुराण १२।११

२ 'उर्दू-हिन्दी कोश' सम्पादक—रामचन्द्र वर्मा, प्रका० हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय बम्बई, चतुर्थ सस्करण, अगस्त १९५३, पृ० २२४

३ स्कन्धपुराण १।२।३७-५५

४ प्राचीन भारत का भौगोलिक स्वरूप, प्रकाशक—कैलाश प्रकाशन, लखनऊ, सन् १९६४, पृ० १२३, परिशिष्ट २

५ मार्कण्डेय पुराण : सास्कृतिक अध्ययन—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, पाद टिप्पण सं० १, पृ० १३८

६ अजनाभ नामैतद्वर्षभारतमिति यत् आरभ्य व्यपदिशन्ति—श्रीमद्‌भागवत ५।७।३

अनेक आचार्यों ने नाभिराय को उदयाद्रि और महारानी मरुदेवी को प्राचीदिशा कहा है क्योंकि उनसे ही सूर्य समान तेजस्वी भगवान ऋषभदेव का जन्म हुआ। इस विश्व में नाभिराय सबसे अधिक पुण्यवान और मरुदेवी पुण्यवती थी क्योंकि ऋषभदेव जैसे महान् पुत्र उनसे उत्पन्न हुए। ऋषभदेव अनुपम थे, अद्‌भुत थे, उन्हें मरुदेवी जैसी माता ही जन्म दे सकती थी। प्राचीदिशा ही सूर्य को जन्म दे पाती है अन्य दिशाएँ नहीं। आचार्य मानतुंग ने इस बात को इस रूप में प्रस्तुत किया है—

स्त्रीणां शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रान्
नान्या सुतं त्वदुपमं जननी प्रसूता।
सर्वा दिशो दधति भानि सहस्ररश्मिं
प्राच्येव दिक् जनयति स्फुरदंशुजालम्॥[1]

जैन और वैदिक ग्रन्थों के प्रकाश में यह साधिकार कहा जा सकता है कि नाभि कुलकर एक सुशासक, विचारक एवं प्रजावत्सल थे। उन्हीं नाभि कुलकर के यहाँ प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव का जीव सर्वार्थसिद्ध का आयु पूर्ण कर अवतरित हुआ।

स्वप्न-दर्शन

हम पूर्व बता चुके हैं कि अन्तिम कुलकर नाभि के समय यौगलिक सभ्यता क्षीण हो रही थी, और एक नयी सभ्यता मुस्करा रही थी। उस संधि वेला में श्री वज्रनाभ (धनसेठ) का जीव सर्वार्थसिद्ध विमान से च्यवकर आषाढ़ कृष्णा चतुर्थी के दिन, उत्तराषाढ़ा नक्षत्र में, चन्द्रयोग के समय जब तृतीय आरे के चौरासी लक्ष पूर्व, तीन वर्ष साढ़े सात मास अवशेष थे, नाभि कुलकर की स्त्री मरुदेवी की कुक्षि में इस प्रकार आया जैसे राजहंस मानसरोवर से गंगा तट पर आता है।

प्रभु जब गर्भ में आए उस समय क्षणभर के लिये प्राणीमात्र सुख का अनुभवन करने लगा। तीन लोक में समस्त दुःख विलीन हो गये।

जब बालक गर्भ में आता है, तब गर्भ का माता के मानस पर, और माता के मानस का गर्भ पर प्रभाव पड़ता है। यही कारण है, कि किसी विशिष्ट पुरुष के गर्भ में आने पर उसकी माता कोई श्रेष्ठ स्वप्न देखती है। भारतीय साहित्य में स्वप्न-विज्ञान के सम्बन्ध में विस्तार से निरूपण

---

१ भक्तामर स्तोत्र २२वां श्लोक।

मिलता है। मर्यादा पुरुषोत्तम श्री राम के गर्भ में आने पर माता कौशल्या ने चार स्वप्न देखे थे।[1] कर्मयोगी श्रीकृष्ण के गर्भ में आने पर देवकी ने सात स्वप्न देखे थे।[2] महात्मा बुद्ध के गर्भ में आने पर उनकी माता मायादेवी ने एक षड्दन्त गज का स्वप्न देखा था।[3] उसी प्रकार श्री ऋषभदेव के गर्भ में आने पर माता मरुदेवी ने (१) वृषभ (२) गज (३) सिंह (४) लक्ष्मी, (५) पुष्पमाला, (६) चन्द्र, (७) सूर्य, (८) ध्वजा (९) कुम्भ (१०) पद्म सरोवर, (११) क्षीर-समुद्र, (१२) विमान, (१३) रत्नराशि (१४) निर्धूम अग्नि, ये चौदह महास्वप्न देखे।[4] कल्पसूत्र में प्रथम स्वप्न 'हस्ति' का बताया है।[5] प्रस्तुत उल्लेख सामान्य रूप से कथित समझना चाहिये, क्योंकि सभी तीर्थंकरों की माताएँ प्रथम स्वप्न में 'हस्ति' को ही देखती हैं। कल्पसूत्र की सभी वृत्तियों में ऋषभदेव की माता मरुदेवी ने इसके अपवाद रूप प्रथम स्वप्न में 'वृषभ' को देखा था। दिगम्बराचार्य जिनसेन ने सोलह स्वप्नों का उल्लेख किया है। उन्होंने भी प्रथम स्वप्न 'हस्ति' का बताया है।[6] उपर्युक्त चौदह स्वप्नों में से ध्वजा को उन्होंने

---

१ (क) चतुरो बलदेवाम्बाथ......... । —श्री काललोकप्रकाश ३०।५९
(ख) ददर्श सुखसुप्ता च यामिन्याः पश्चिमे क्षणे ।
चतुरः सा महास्वप्नान् सूचनान् बलजन्मनः ।। —त्रिषष्टि० १।४।१६८
(ग) सेनप्रश्न, पृ० ३७९ ।
(घ) जैन रामायण, केशराज जी, १६वीं ढाल के दोहे ।

२ (क) यामिन्याः पश्चिमे यामे सूचका विष्णुजन्मनः ।
देव्या ददृशिरे स्वप्नाः सप्तैते सुखसुप्तया ।।
—त्रिषष्टि० ४।१।२१७
(ख) सेनप्रश्न पृ० ३७९ ।

३ (क) बुद्धचर्या, राहुल सांकृत्यायन, पृ० २, प्रथम संस्करण ।
(ख) ललित विस्तर, गर्भावक्रान्ति परिवर्तन ।

४ (क) त्रिषष्टि १।२।२२९
(ख) आवश्यकचूर्णि पृ० १३५
(ग) चउप्पन महापुरिस चरिय पृ० ३४ ।

५ गयवसह सीह अभिसेय, दाम ससि दिणयर झयं कुम्भं ।
पउमसर सागर विमाण-भवण रयणुच्चय सिहिं च ।।
—कल्पसूत्र प० १४ (पुण्यविजयजी)

६ महापुराण : जिनसेनाचार्य प० १२।१०३-१२०, पृ० २५९-२६०

स्थान नहीं दिया है। शेष तेरह स्वप्न उपर्युक्त कथित ही हैं। इनके अति-रिक्त (१) मत्स्ययुगल, (२) सिंहासन, (३) नागेन्द्र का भवन—ये तीन स्वप्न अधिक हैं। श्वेताम्बर मान्यतानुसार नरक से आने वाले तीर्थंकरों की माता स्वप्न में भवन को देखती हैं और स्वर्ग से आने वालों की माता विमान।[१] उन्होंने विमान और भवन के स्वप्नों को वैकल्पिक माना है।

यहाँ यह स्मरणीय है, कि अन्य सब तीर्थङ्करों की माताएँ प्रथम स्वप्न में गजराज को मुख में प्रवेश करती हुई देखती हैं, परन्तु ऋषभदेव की माता मरुदेवी ने प्रथम स्वप्न में वृषभ को अपने मुख में प्रवेश करते देखा।

स्वप्न-दर्शन के पश्चात् जाग्रत हो माता मरुदेवी नाभि कुलकर के पास आई और अवलोकित स्वप्नों का फल पूछा। नाभि राजा ने अपनी तीक्ष्ण विचार शक्ति से स्वप्नों का प्रतिफल बताते हुए कहा—तुम एक अलौकिक पुत्र-रत्न को प्राप्त करोगी।[२]

आचार्य जिनसेन ने भरत के गर्भ में आने पर यशस्वती रानी के पाँच महास्वप्नों का उल्लेख किया है—

यशस्वती महादेवी ने स्वप्न में सुमेरु पर्वत, चन्द्र-सूर्य, हंस सहित सरोवर, चञ्चल लहरों वाला समुद्र तथा ग्रसित पृथ्वी को देखा। श्री ऋषभदेव ने स्वप्नों का फलादेश बताते हुए कहा—सुमेरु पर्वत तुम्हारे चक्र-वर्ती सम्राट् के पुत्र-जन्म का सूचक है। सूर्य-दर्शन से उसके प्रताप की और चन्द्र-दर्शन से उसकी कान्ति रूपी सम्पदा की सूचना प्राप्त होती है। सरोवर-दर्शन से तुम्हारा पुत्र अनेक पवित्र लक्षणों से युक्त शरीर वाला और विशाल राज्य-लक्ष्मी का उपभोक्ता होगा। पृथ्वी का ग्रसा जाना उसके समस्त पृथ्वी के स्वामित्व का सूचक है। समुद्र का स्वप्न यह सूचित करता है, कि वह चरम शरीरी होकर संसार रूपी समुद्र को पार करने वाला होगा।[३]

---

१ देवलोकाद्योऽवतरति तन्माता विमानं पश्यति, यस्तु नरकात् तन्माता भवनमिति।

—भगवती ११।११ अभयदेववृत्ति

२ (क) आवश्यकचूर्णि पृ० १३५

(ख) त्रिषष्टि० १।२।२२६

३ आदिपुराण १५।१०३ ; १२२-१२३

श्वेताम्बर ग्रन्थों के अनुसार भरत की माता ने चौदह स्वप्न देखे। जो स्वप्न तीर्थंकर की माता देखती है वे ही स्वप्न चक्रवर्ती की माता भी देखती है पर अन्तर यही होता है कि तीर्थंकर की माता बहुत ही स्पष्ट देखती है तो चक्रवर्ती की माता कुछ अस्पष्ट देखती है।

जन्म

भगवान श्री ऋषभदेव का जन्म जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, कल्पसूत्र, आवश्यकनिर्युक्ति, आवश्यकचूर्णि, त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र प्रभृति श्वेताम्बर ग्रन्थानुसार चैत्र कृष्णा अष्टमी को हुआ[1] और दिगम्बराचार्य जिनसेन के अनुसार नवमी[2] को। सम्भव है अष्टमी की मध्यरात्रि होने से श्वेताम्बर-परम्परा ने अष्टमी लिखा हो और प्रातःकाल जन्म मानने से दिगम्बर परम्परा ने नवमी लिखा हो। इस भेद का कारण हमारी दृष्टि से उदय और अस्त तिथि की पृथक्-पृथक् मान्यता हो सकती है।

भगवान ऋषभदेव के जन्म लेते ही सम्पूर्ण लोक में उद्योत हो गया। क्षणभर के लिये नारकी, तिर्यञ्च आदि जीव भी शारीरिक-मानसिक परितापों से मुक्त हो गये। छप्पन दिक्कुमारियों ने व देव-देवेन्द्रों ने मिलकर अति उल्लास तथा आनन्द से भगवान का जन्म-महोत्सव किया।[3]

---

१ (क) कल्पसूत्र—पुण्यविजयजी, सू० १९३
(ख) 'चेत्तबहुलट्ठमीए जातो उसभो असाढनक्खत्ते'।
—आवश्यकनिर्युक्ति, गा० १८४
(ग) आवश्यकचूर्णि— जिनदास महत्तर, पृ० १३५
(घ) त्रिषष्टि० १।२।२६४
(ङ) कल्पलता—समयसुन्दर, पृ० १९७
(च) कल्पद्रुम कलिका—लक्ष्मीवल्लभ, पृ० १४२
(छ) कल्पसूत्र कल्पार्थबोधिनी—केशरगणी, पृ० १४४
(ज) कल्पसूत्र, कल्पसुबोधिका, पृ० ४८५
(झ) चउप्पन महापुरिस चरियं, पृ० ३४
(ञ) भरतेश्वर बाहुबली वृत्ति

२ महापुराण—जिनसेन १३।१-३, पृ० २८३

३ (क) जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, पञ्चम वक्षस्कार
(ख) आवश्यकचूर्णि, पृ० १३६-१५०
(ग) चउप्पन महापुरिस चरियं, पृ० ३४
(घ) त्रिषष्टि० १।२।२६४-६४६

नामकरण

माता मरुदेवी ने जो चौदह महास्वप्न देखे थे। उनमें सर्वप्रथम वृषभ का स्वप्न था। और जन्म के पश्चात् भी शिशु के उरु-स्थल पर वृषभ का लांछन था।[1] अतः उनका गुणसम्पन्न नाम 'ऋषभ' रक्खा गया। भगवती आदि आगम शास्त्र तथा आगमेतर साहित्य में 'वृषभ' अथवा 'ऋषभ' के आगे 'देव' अथवा 'नाथ', शब्दों का प्रयोग नहीं मिलता है। ये शब्द उनके साथ कब जुड़े यह कहना कठिन है तथापि यह प्रयोग उनके प्रति विशेष आदर भाव द्योतित करने के लिये हो सकता है।

भागवत के मन्तव्यानुसार उनके सुन्दर शरीर, विपुल कीर्ति, तेज, बल, ऐश्वर्य, यश और पराक्रम प्रभृति सद्गुणों से कारण महाराज नाभि ने उनका नाम 'ऋषभ' दिया।[2]

भगवती, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, समवायांग, चतुर्विंशतिस्तव, कल्पसूत्र, नन्दीसूत्र, निशीथचूर्णि आदि आगम साहित्य में यही नाम आया है।

दिगम्बर परम्परा में ऋषभदेव के स्थान पर 'वृषभदेव' भी प्रसिद्ध है। वृषभदेव जगत् भर में ज्येष्ठ हैं और जगत् का हित करने वाले धर्म-रूपी अमृत की वर्षा करेंगे, एतदर्थ ही इन्द्र ने उनका नाम 'वृषभदेव' रक्खा।[3] वृष कहते हैं श्रेष्ठ को। भगवान श्रेष्ठ धर्म से शोभायमान हैं, इसलिये भी इन्द्र ने उन्हें वृषभ स्वामी के नाम से पुकारा।[4]

श्री ऋषभदेव धर्म और कर्म के आद्यनिर्माता थे एतदर्थ जैन इतिहासकारों ने उनका एक नाम 'आदिनाथ' भी लिखा है और यह नाम अधिक जन-मन प्रिय रहा है।

---

१ (क) उरुसु उसभलंछणं उसभो सुमिणंमि तेण कारणेंण उसभोत्ति णामं कयं।
—आवश्यकचूर्णि, पृ० १५१

(ख) आवश्यकनिर्युक्ति १९२।१

(ग) त्रिषष्टि० १।२।६४८-६४९

(घ) कल्पसूत्र व्या० ७, पृ० १४२ कल्पद्रुमकलिका।

२ श्रीमद्भागवत ५।४।२ प्र० खण्ड गोरखपुर संस्करण ३, पृ० ५५६

३ वृषभोऽयं जगज्ज्येष्ठो वर्षिष्यति जगद्धितम्।
धर्मामृतमितीन्द्रास्तम् अकार्षुर्वृषभाह्वयम्॥
—महापुराण १४।१६०

४ महापुराण १४।१६१

श्री ऋषभदेव प्रजा के पालक थे, एतदर्थ आचार्य जिनसेन[1] व आचार्य समन्तभद्र[2] ने उनका एक गुण-निष्पन्न नाम 'प्रजापति' भी लिखा है। तथा जब भगवान गर्भ में आये थे तब कुबेर ने हिरण्य की वृष्टि की थी अतः इनका एक नाम 'हिरण्यगर्भ' भी मिलता है।[3] दशवैकालिक की चूर्णि में इनको 'काश्यप' भी कहा है। इक्षु के विकार रूप रस अर्थात् इक्षु के परिवर्तित स्वरूप को 'कास्य' कहा जाता है। उसका पान करने से भगवान 'काश्यप' नाम से भी प्रसिद्ध हुए।[4] इनके अतिरिक्त उनको विधाता, विश्वकर्मा और सृष्टा आदि अनेक नामों से अभिहित किया गया है।[5]

वंश-उत्पत्ति

जब ऋषभदेव एक वर्ष से कुछ कम के थे, उस समय वे पिता की गोद में बैठे क्रीड़ा कर रहे थे। तभी शक्रेन्द्र हाथ में इक्षु लेकर आया।[6] भगवान ने इन्द्र के अभिप्राय को जानकर उसे लेने के लिये अपना प्रशस्त लक्षणयुक्त दक्षिण हस्त आगे बढ़ाया। बालक का इक्षु के प्रति आकर्षण देखकर शक्र ने इस वंश को 'इश्वाकुवंश' नाम से अभिहित किया। आचार्यों ने इसकी व्युत्पत्ति करते हुए कहा है—इक्षु + आकु (भक्षणार्थे) इक्ष्वाकु।[7]

---

१ महापुराण १६०।१६।३६३

२ प्रजापतिर्यः प्रथम जिजीविषुः शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः।
प्रबुद्धतत्त्वः पुनरद्भुतोदयो, ममत्वतो निर्विविदे विदाम्बरः॥
—बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र

३ महापुराण पर्व १२।९५

४ (क) कास—उच्छू, तस्य विकारो कास्यः—रसः, सो जस्स पाण सो कासवो—उसभस्वामी —दशवैकालिक अगस्त्यसिंह चूर्णि

(ख) काश्यमित्युच्यते तेजः काश्यपस्तस्य पालनात्।
—महापुराण १६।२६६, पृ० ३७०

५ विधाता विश्वकर्मा च स्रष्टा चेत्यादिनामभिः।
प्रजास्त व्याहरन्ति स्म, जगतां पतिमच्युतम्॥
—महापुराण १६।२६७।३७०

६ (क) देसणूग च वरिस सक्कागमण च वंसठयणा य।
—आवश्यकनिर्युक्ति १८५।१९२

(ख) आवश्यकचूर्णि पृ० १५२

७ (क) सक्को वसट्ठवणे इक्खु अगू तेण हुन्ति इक्खागा।
—आवश्यकनिर्युक्ति १८६

(ख) आवश्यकचूर्णि १५२।

यौगलिक मानव-समाज में सर्वप्रथम इसी वंश की स्थापना हुई। इससे पूर्व भगवान ऋषभदेव का कोई वंश, कुल या जाति नहीं थी। कालान्तर में किसी एक-एक घटना को मुख्य कर पृथक्-पृथक् समुदायों के पृथक्-पृथक् वंश बनते गये।

दिगम्बर परम्परा ने 'इक्ष्वाकु' वंश के नामकरण की सार्थकता बताते हुए कहा है, कि भगवान के समय में इक्षुदण्ड स्वयं सम्भूत थे, किन्तु जन-समुदाय उनके उपयोग से अनभिज्ञ था। ऋषभदेव ने सर्वप्रथम इक्षु में से रस निकालने की विधि सिखायी, अतः वे 'इक्ष्वाकु' कहलाये।[१] और तभी से वह भूमि भी 'इक्ष्वाकु भूमि' के नाम से प्रसिद्ध हो गई।[२] पानी की क्यारी का कर्तन करने से जैसे पानी का प्रवाह बह निकलता है, तथैव इक्षु के कर्तन और छेदन से रसस्राव होता है, इस कारण भगवान के गोत्र का नाम 'कास्यप' रक्खा गया।[3]

अकाल मृत्यु

श्री ऋषभदेव का बाल्यकाल अति आनन्द से व्यतीत हुआ। शनैः-शनैः वे दस वर्ष के हुए तभी एक अपूर्व घटना घटी। एक युगल अपने नवजात पुत्र-पुत्री को ताड़वृक्ष के नीचे सुलाकर स्वयं क्रीड़ा-हेतु प्रस्थान कर गया। भवितव्यता से एक बड़ा परिपक्व ताड़फल बालक के ऊपर गिरा, मर्म-प्रदेश पर प्रहार होने से असमय ही वह बालक मरकर स्वर्ग सिधार गया। यह प्रथम अकाल मृत्यु उस अवसर्पिणी काल के तृतीय आरे में हुई। यौगलिक माता-पिता ने बड़े लाड़ से अपनी इकलौती कन्या का पालन किया, अत्यन्त सुन्दर होने से उसका नाम भी 'सुनन्दा' रख दिया गया। कुछ समय पश्चात् उसके माता-पिता की भी मृत्यु हो गई। इस कारण वह बालिका यूथभ्रष्ट मृगी की तरह इतस्ततः परिभ्रमण करने लगी। अन्य यौगलिकों ने नाभि राजा से उक्त समस्त वृतान्त कह सुनाया। श्री नाभि ने

---

१ आकानाच्च तदिक्षूणां रससंग्रहणे नृणाम्।
इक्ष्वाकुरित्यभूद् देवो जगतामभिसम्मतः॥ —महापुराण १६।२६४

२ आवश्यकचूर्णि पृ० १५२

३ (क) आवश्यकमलयगिरिवृत्ति पृ० १६२
(ख) आवश्यकचूर्णि पृ० १५२

उस लड़की के विषय में यह कहकर कि यह ऋषभ की पत्नी बनेगी, अपने पास रख लिया।[१]

विवाह-परम्परा

सामाजिक रीतिरिवाज जिसमे विवाह प्रथा भी सम्मिलित है, कोई शाश्वत सिद्धान्त नहीं, किन्तु उनमें युग के अनुसार परिवर्तन होता रहता है। भाई-बहन का विवाह इस युग में सबसे बड़ा पाप माना जाता है, किन्तु उस युग में यह एक सामान्य प्रथा थी। यौगलिक परम्परा में भाई और भगिनी ही पति और पत्नी के रूप में परिवर्तित हो जाया करते थे। शाक्यों में भी भगिनी-विवाह प्रचलित था। महावंश में उल्लेख है, कि लाट देश के राजा सिंहबाहु ने अपनी भगिनी को पटरानी बनाया।[२] सुनन्दा के भ्राता की अकाल मृत्यु हो जाने से ऋषभदेव ने सुनन्दा व सहजात सुमङ्गला के साथ पाणिग्रहण कर नई व्यवस्था का सूत्रपात किया।[३] आचार्य हेमचन्द्र ने विवाह के विषय में लिखते हुए कहा कि ऋषभदेव ने लोगों में विवाह-प्रवृत्ति चालू रखने के लिए विवाह किया।[४] सुनन्दा को स्वीकार करके उसका अनाथपन दूर किया। हरिवंशपुराण मे सुमङ्गला के स्थान पर 'नन्दा' नाम दिया है।[५]

श्री ऋषभदेव अनासक्त भाव से पत्नीद्वय के साथ गृहस्थाश्रम में रहे।

उस समय 'बाहु' और पीठ' के जीव सर्वार्थसिद्ध विमान से च्यवकर सुमङ्गला की कुक्षि से युग्म रूप में उत्पन्न हुए। भरतक्षेत्र को आनंदित

---

१ (अ) आवश्यकनिर्युक्ति १९०।१९३
(ख) आवश्यकचूर्णि पृ० १५२
(ग) चउप्पन महापुरिस चरियं पृ० ३७
(घ) भरत बाहुबली वृत्ति

२ देखिये, बी० सी० लाहा : वीमेन इन बुद्धिस्ट लिटरेचर

३ आवश्यकनिर्युक्ति १९१-१९३

४ ततः प्रभृति सोद्वाहस्थितिः स्वामिप्रवर्तिता।
प्रावर्तत 'परार्थाय महतां हि प्रवृत्तयः॥'

—त्रिषष्टि० १।२।८८१

५ स जगत्त्रयरूपिण्या नन्दया च सुनन्दया।
प्रौढ़यौवनया प्रौढश्रिवकीड विधिनोढया॥

—हरिवंशपुराण ६।१८

करने वाले 'बाहु' के जीव का नाम 'भरत' रखा गया और 'पीठ' के जीव का नाम 'ब्राह्मी' प्रसिद्ध हुआ। सुनन्दा ने भी सर्वार्थसिद्ध विमान से च्यवित हुए सुबाहु और महापीठ के जीव को युगल रूप से उत्पन्न किया और उनके नाम क्रमशः 'बाहुबली' तथा 'सुन्दरी' अभिहित हुए।[1] पद्मपुराण में ऋषभदेव की यशस्वती रानी से भरत का जन्म बताया है।[2]

इसके पश्चात् सुमंगला के क्रमशः ९८ पुत्र और हुए।[3] दिगम्बर परम्परा निन्यानवें पुत्र मानती है।[4]

विधवा विवाह नहीं

कितने ही आधुनिक विचारक कल्पना के गगन में विहरण करते हुए 'सुनन्दा' को विधवा मानकर श्री ऋषभदेव के उसके साथ किये गये विवाह को विधवा विवाह कहते हैं। उन विचारकों को यह स्मरण रखना चाहिये कि आचार्य भद्रबाहु,[5] आचार्य जिनदासगणी महत्तर,[6] आचार्य मलयगिरि,[7] आचार्य हेमचन्द्र,[8] श्री समयसुन्दर,[9] उपाध्याय विनयविजय,[10] केशरमुनि,[11] श्री लक्ष्मीवल्लभ,[12] श्री मणिसागर[13] प्रभृति विज्ञों ने प्रस्तुत घटना का उट्टङ्कन करते हुए उस युगल को बालक और बालिका

---

१ (क) आवश्यक मूलभाष्य।
  (ख) आवश्यकनिर्युक्ति १९२।१९४।१
  (ग) आवश्यकचूर्णि १५३
  (घ) महापुराण १६।८।३४६
२ पद्मपुराण—रविषेणाचार्य २०।१०४
३ देखिये परिशिष्ट।
४ महापुराण जिनसेन १६।४-५।३४६
५ आवश्यकनिर्युक्ति १९०
६ आवश्यकचूर्णि १५२
७ आवश्यकमलयगिरिवृत्ति १९३
८ त्रिषष्टि० १।२।७३५–७३७
९ कल्पसूत्र, कल्पलता, व्या० ७, समयसुन्दर, पृ० १९८
१० कल्पसुबोधिका विनय० पृ० ४८७ सारा० न०
११ कल्पसूत्र कल्पार्थबोधिनी पृ० १४४
१२ कल्पसूत्र कल्पद्रुमकलिका पृ० १४२
१३ कल्पसूत्र पृ० २९७

बताया है, न कि युवा-युवती। और जब वे बालक थे तो उनका पारस्परिक सम्बन्ध भी भातृ-भगिनी रूप में ही था, पति-पत्नी के रूप में नहीं; अतः स्पष्ट है, कि श्री ऋषभदेव ने सुनन्दा के साथ विवाह किया, वह विधवा विवाह नहीं था। जब उनका पति-पत्नीरूप सम्बन्ध ही नहीं हुआ तो वह विधवा कैसे कही जा सकती है ?

आचार्य जिनसेन ने महापुराण में प्रस्तुत घटना का उल्लेख नहीं किया है और न ऋषभ सहजात सुमंगला से ही पाणिग्रहण करवाया है। श्री ऋषभ की अनुमति लेकर नाभि ने ऋषभ के विवाह हेतु दो सुयोग्य सुशील कन्याओं की याचना की।[1] फलस्वरूप कच्छ महाकच्छ की दो बहिनें, जो सुन्दर और यौवनवती थीं, जिनका नाम 'यशस्वी और सुनन्दा' था उनके साथ नाभि ने ऋषभ का विवाह किया।[2] भागवत के अनुसार गृहस्थ धर्म की शिक्षा देने के लिए देवराज इन्द्र की दी हुई उनकी कन्या जयन्ती से ऋषभदेव ने विवाह किया।[3] सम्भव है, सुनन्दा का ही भागवतकार ने जयन्ती नाम दिया हो। क्योंकि श्वेताम्बर ग्रन्थानुसार वह अरण्य में एकाकी प्राप्त हुई थी। उसकी सौन्दर्य-सुषमा अत्यधिक होने के कारण वह वनदेवी के सदृश प्रतीत हो रही थी।[4] उसके सौन्दर्य तथा सद्गुणों के कारण ही भागवतकार ने उसे इन्द्र की पुत्री समझा है और पुत्री समझकर वर्णन किया है। श्वेताम्बर ग्रन्थों की तरह[5] भागवतकार ने भी उसके सौ सन्तान बताई है।[6]

भरत और बाहुबली का विवाह

यौगलिक युग में भाई और बहन का विवाह एक सामान्य रिवाज

---

१ महापुराण पर्व १५।६९ पृ० ३३०

२ तन्व्यौ कच्छमहाकच्छजाम्यौ सौम्ये पतिंवरे।
यशस्वतीसुनन्दाख्ये स एव पर्यणीनयत् ॥

—महापुराण १५।७०।३३१

३ .... गृहमेधिना धर्माननुशिक्षमाणो जयन्त्यामिन्द्रदत्तायामुभय लक्षणं कर्म समाम्नायाम्नातमातमभियुञ्जन्नात्मजानामात्मसमानानां शतं जनयामास।

—भागवत ५।४।८।५५७

४ आवश्यकचूर्णि—जिनदास, पृ० १५२-१५३

५ आवश्यकचूर्णि १५३

६ भागवत ५।४।८।५५७

था। आज जिसे अत्यन्त हेय व अनीतिसूचक समझा जाता है उस समय यह एक प्रतिष्ठित व सर्वमान्य प्रथा थी। भगवान ऋषभदेव ने सुनन्दा के साथ पाणिग्रहण कर इस प्रथा का उच्छेद किया, तथा कालान्तर में इसे और सुदृढ़ रूप देने से लिए व यौगलिक धर्म का मूलतः नाश करने के लिए जब भरत और बाहुबली युवा हुए तब भरत सहजात ब्राह्मी का पाणिग्रहण बाहुबली से करवाया और बाहुबली सहजात सुन्दरी का पाणिग्रहण भरत से करवाया।[1] इन विवाहों का अनुकरण करके जनता ने भी भिन्न गोत्र में समुत्पन्न कन्याओं को उनके माता-पिता आदि अभिभावकों द्वारा दान में प्राप्त कर पाणिग्रहण करना प्रारम्भ किया।[2] इस प्रकार एक नवीन परम्परा का प्रादुर्भाव हुआ।

आचार्य जिनसेन ने ब्राह्मी-सुन्दरी के विवाह का वर्णन नहीं किया है। प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजी भी उन्हें अविवाहित मानते हैं।[3] पर उन्होंने प्राचीन श्वेताम्बर ग्रन्थों के कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं किये।

---

१ (क) युग्मिधर्म निषेधाय भरताय ददौ प्रभुः।
सोदर्यां बाहुबलिनः सुन्दरीं गुणसुन्दरीम्॥
भरतस्य च सौदर्यां ददौ ब्राह्मीं जगत्प्रभुः।
भूपाय बाहुबलिने तदादि जनताप्यथ॥

—श्री काललोकप्रकाश ३२।४७-४८

(ख) आवश्यक निर्युक्ति गा० २२४

(ग) भगवता युगलधर्मव्यवच्छेदाय भरतेन सह जाता ब्राह्मी बाहुबलिने दत्ता, बाहुबलिना सहजाता सुन्दरी भरताय।

—आवश्यकमलयगिरिवृत्ति, पृ० २००

(घ) कल्पद्रुमकलिका, लक्ष्मी० पृ० १४४।१

२ (क) भिन्नगोत्रादिकां कन्यां दत्तां पित्रादिभिर्मुदा।
विधिनोपायतः प्रायः प्रावर्त्तत तथा ततः॥

—श्री काललोकप्रकाश ३२।४९

(ख) इति दृष्ट्वा तत आरभ्य प्रायो लोकेऽपि कन्या पित्रादिना दत्ता सती परिणीयते इति प्रवृत्तम्।'

—आवश्यकमलयगिरिवृत्ति २००

३ (क) दर्शन अने चिन्तन, भा० ६ 'भगवान ऋषभदेव अने तेमनो परिवार' पृ० २३६।

(ख) जैन प्रकाश, ८ फरवरी १९६६ जैन परम्परा के आदर्श।

काल का प्रभाव

ऋषभदेव का काल भारी उथल-पुथल का काल था। कालदोष से कल्पवृक्षों का प्रभाव उसी तरह क्षीण हो गया था जैसे सूर्योदय के पश्चात् दीपकों का प्रकाश। प्राकृतिक परिवर्तनों के साथ मानवीय व्यवस्था में भी आमूलचूल परिवर्तन हो रहा था। परिस्थितियाँ पलट रही थीं। परिवार प्रथा का प्रारम्भ हो रहा था और संग्रहवृत्ति का सूत्रपात हो चला था। ऐसी स्थिति में अपराधवृत्ति का विकास होना भी स्वाभाविक था और उस पर नियंत्रण करना भी आवश्यक था।

सर्वप्रथम राजा

आचार्य जिनसेन ने ऋषभदेव को कुलकर तथा तीर्थंकर दोनों माना है तथा भरत को भी चक्रवर्ती और कुलकर माना है।[१] आगे इन्हीं दोनों को मनु नाम से भी अभिहित किया है। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में भी ऋषभदेव को पन्द्रहवाँ कुलकर बताया है।[२] जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण की 'विशेषणवती' में कुलकरों की व्यवस्था में यह उल्लेख प्राप्त होता है, कि प्रथम कुलकर सुमति के समय से पंचम कुलकर क्षेमंकर के समय तक 'हाकार' दण्ड था। षष्ठ कुलकर क्षेमंधर से दशम कुलकर अभिचन्द्र के समय तक 'माकार' दण्ड था और ग्यारहवें कुलकर चन्द्राभ से पन्द्रहवें कुलकर 'ऋषभ' तक धिक्कार दण्ड था। यहाँ भी ऋषभ की गणना पन्द्रहवें कुलकर के रूप में की गई है। जबकि आवश्यकचूर्णि, त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति, कल्पसूत्र आदि में ऋषभदेव का प्रथम राजा के रूप में उल्लेख है। प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यदि वे कुलकर हैं, तो राजा कैसे हो सकते हैं, और यदि राजा हैं, तो कुलकर क्यों कहा ? यदि कहें, कि राजा बनने से पूर्व वे कुछ समय तक कुलकर पद पर आसीन रहे होंगे, उसके पश्चात्

---

१ वृषभस्तीर्थकृच्चैव कुलकृच्चैव संमतः।
भरतश्चक्रभृच्चैव कुलधृच्चैव वर्णितः॥
वृषभो भरतेशश्च तीर्थचक्रभृतौ मनू॥ —महापुराण ३।२१३,२३२

२ तीसे ण समाए पच्छिमे तिभाए पलिओवमट्ठभागावसेसे एत्थ णं इमे पण्णरस कुलगरा समुप्पज्जित्था तं जहा—सुमई, पडिस्सुई, सीमंकरे, सीमंधरे, खेमंकरे, खेमंधरे, विमलवाहणे, चक्खुमं, जसम, अभिचन्दे, चन्दाभे, पसेणई, मरुदेवे, णाभी, उसभे य।

राजा बने होंगे परन्तु यह कथन भी यथार्थ प्रतीत नहीं होता। क्योंकि नाभि कुलकर की विद्यमानता में ही ऋषभदेव का राजा के रूप में अभिषेक हो चुका था। दूसरी बात, नाभि उस समय कुलकर के रूप में प्रसिद्ध थे। अतः एक कुलकर की विद्यमानता में दूसरा कुलकर कैसे हो सकता है? तथा पूर्व कुलकर के समय ही ऋषभदेव का राज्याभिषेक इस तथ्य को प्रमाणित करता है, कि वे स्वल्प समय के लिये भी कुलकर पद पर आसीन नहीं हुए होंगे। भगवान ऋषभदेव का कुमारावस्था का समय यौगलिक-परम्परा और कर्मभूमि का संधिकाल था, उसके पश्चात् तो राज्य-व्यवस्था का सूत्रपात विधिवत् प्रारम्भ हो गया था, अतः उन्हें यौगलिक परम्परा का वाहक कुलकर कैसे माना जा सकता है? तथापि जिनसेनाचार्य ने महापुराण में, जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने 'विशेषणवती' तथा जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति आदि में उन्हें कुलकर बताया है, उसका कारण यही प्रतीत होता है, कि वहाँ 'कुलकर' शब्द से 'कुलकर के सदृश कार्य करने वाले कुलकर होते हैं', इस अभिप्राय को ग्रहण किया गया होगा। भगवान ऋषभदेव के समय प्राचीन परम्पराएँ नष्ट हो रही थीं, नवीन परम्पराओं का प्रादुर्भाव हो रहा था। उस समय जन-समुदाय के मन में प्राचीन परम्पराओं के दृढ़तम संस्कार अभी पूरी तरह से अलग नहीं हुए थे, तथा नवीन संस्कार अपना पूरा प्रभाव नहीं जमा पाये थे अतः दोनों नामों से ऋषभदेव को सम्बोधित किया जाता होगा, ऐसा प्रतीत होता है। परन्तु वस्तु-स्थिति तो यही है, कि उस समय कुलकर-व्यवस्था नष्ट हो गई थी, समाज-व्यवस्था और राज्य-व्यवस्था का श्रीगणेश हो गया था। व्यष्टि, समष्टि में परिवर्तित हो रही थी, अनेक प्रकार के सामाजिक नियम भी बन चुके थे। कल्पवृक्षों की इतिश्री के साथ असि, मषि, कृषि का विकास हो गया था, और उसके आधार पर ग्राम-निर्माण, शासन-व्यवस्था, वैवाहिक सम्बन्ध तथा उग्र-भोग-राजन्य एवं क्षत्रिय के कार्यों का विभाजन हो गया था। इन विभिन्न सामाजिक एवं राजनैतिक आधारों से निष्कर्ष निकलता है, कि नाभि ही अन्तिम कुलकर थे। श्री ऋषभदेव मानवीय-सभ्यता के आदि सूत्रधार थे, इसीलिये उन्हें युगादिपुरुष कहा जाता है।

राज्य की सुव्यवस्था हेतु राजा का महत्त्व अतीतकाल में सर्वोपरि रहा है। राजा के अभाव में एक सुन्दर व सुव्यवस्थित राज्य की कल्पना करना स्वप्नवत् असंभव था। नेत्र जैसे शरीर के हेय-उपादेय का ज्ञान कराने

में सहकारी है वैसे ही राजा भी राष्ट्र के हित के लिए हेय-उपादेय का विवेक कराने में परम सहायक है। श्रेष्ठ शासक प्रजा की भलाई, कुलीनोचित आचार, शिष्ट-संरक्षण और दुष्ट-निग्रह करने में कुशल होता है। साथ ही वह अराजकता रूपी विष-वृक्ष का उन्मूलन करने वाला भी होता है।

जब कुलकर 'नाभि' के नेतृत्व में ही धिक्कार नीति का उल्लंघन होने लगा, प्राचीन मर्यादाएँ विच्छिन्न होने लगीं तब उस अव्यवस्था से यौगलिक घबराकर श्री ऋषभदेव के पास पहुँचे, और उन्हें सारी स्थिति का परिज्ञान कराया।[1]

ऋषभदेव ने कहा—जनता में अपराधी मनोवृत्ति न फैले तथा मर्यादाओं का यथोचित पालन हो उसके लिए तीन प्रकार की दण्ड-व्यवस्थाओं का प्रचलन हुआ था, अब कालानुसार अपराधों में वृद्धि हो रही है, मर्यादाओं का अतिक्रमण हो रहा है उनके शमन-निमित्त अन्य दण्ड-व्यवस्थाओं का विधान आवश्यक हो गया है और यह व्यवस्था राजा ही कर सकता है क्योंकि शक्ति के समस्त स्रोत उसमें केन्द्रित होते हैं।

यह सुनकर युगलियों ने कहा—राजा कैसा होता है ? उसके क्या कर्त्तव्य होते हैं ?

ऋषभदेव ने कहा—जो विशिष्ट प्रतिभा और शक्ति का स्रोत हो वह व्यक्ति राज्यपदाधिकारी होता है। उसके पास अपराधी-मनोवृत्तियों को दूर करने के लिए चार प्रकार की सेना होती है। उसके सहयोग से तथा अपने बुद्धि-चातुर्य से वह अन्याय का प्रतिकार करता है और न्याय की प्रतिष्ठा करता है।

तब युगलियों ने कहा—महाराज ! हमे तो वर्तमान में आप ही सर्वाधिक बुद्धि व शक्ति-सम्पन्न दृष्टिगोचर होते हैं, अतः हमारे ऊपर अनुग्रह कर आप ही राजा बन जाइये।[2]

ऋषभदेव ने कहा—आप सभी नाभि कुलकर के समक्ष अपनी माँग प्रस्तुत करें, वे आपको राजा देंगे।

---

१ नीतीण अइक्कमणे निवेयणं उसभसामिस्स

—आवश्यकनिर्युक्ति मलयगिरि १९३

२ (क) आवश्यकचूर्णि १५४

(ख) त्रिषष्टि० १।२।८९९

युगलियों ने नाभि के पास जाकर निवेदन किया। समय को परखने वाले नाभि ने यौगलिकों की विनम्र प्रार्थना पर ऋषभदेव का राज्याभिषेक कर 'राजा' घोषित किया।[1] ऋषभदेव राजा बने और शेष जनता प्रजा। इस प्रकार पूर्व चली आ रही 'कुलकर' व्यवस्था का अन्त हुआ और एक नवीन अध्याय का प्रारम्भ हुआ। इसी प्रसग में एक स्थल पर महाकवि सूरदास ने लिखा है—

> **बहुरो रिसभ बड़े जब भये,**
> **नाभि, राज देवन को गये।**
> **रिसभ राज परजा सुख पायो,**
> **जस ताको सब जग में छायो।**[2]

राज्याभिषेक के समय युगलसमूह कमलपत्रों में पानी लेकर आये। राज्ययोग्य अलंकारों से विभूषित प्रभु के मस्तक पर जल डालना योग्य नहीं, यह सोचकर वे ऋषभदेव के पद-पद्मों का सिंचन करने लगे। उनके विनीत स्वभाव को लक्ष्य में रखकर नगरी का नाम 'विनीता' रखा। जिसका अपर नाम 'अयोध्या' और 'साकेत' भी है।[3]

अवध देश को कोशल जनपद माना गया है। अयोध्या, श्रावस्ती, लखनऊ आदि नगर कोशल जनपद के अन्तर्गत माने गये हैं। वैशाली में जन्म होने के कारण जैसे तीर्थङ्कर भगवान महावीर को 'वैशालिक' कहा जाता है, उसी प्रकार 'कोशल' देश में जन्म होने के कारण भगवान ऋषभदेव को 'कौशलिक' भी कहा जाता है।[4] जैन परम्परा के अनुसार यह स्थान

---

१ (क) आवश्यकनिर्युक्ति मलयगिरिवृत्ति १९४।१९४
(ख) आवश्यकचूर्णि पृ० १५३-१५४
(ग) विदितानुरागमापौरप्रकृतिजनपदो राजा।
नाभिरात्मजं समयसेतु रक्षायामभिषिच्य···।

—श्रीमद्भागवत ५।४।५

२ सूरसागर, पञ्चम् स्कन्ध पृ० १५०-१५१

३ (क) मध्येऽर्धभरतस्याशु चक्रे वैश्रवणः पुरम्।
साकेतं नामतः ख्यातं विनीतजनतावृतम्॥

—पुराणसार १८।३।३६

(ख) हरिवंशपुराण ९।४२

४ आदिपुराण १६।१५४

बहुत पवित्र माना जाता है। इस देश से सम्बन्धित अनेक जैन कथाएँ व अनुश्रुतियाँ प्रचलित हैं। अयोध्या की गणना प्राचीन नगरी के रूप में की गयी है। भगवान ऋषभदेव के साथ भरत चक्रवर्ती तथा राम-लक्ष्मण आदि की यह जन्मभूमि रही है। अयोध्या का महत्त्व सभी धर्म और सम्प्रदायों में निर्विवाद रूप से वर्णित है।

इस प्रान्त का नाम 'विनीत भूमि' और 'इक्खाग भूमि' भी प्रसिद्ध है।[१] कालान्तर में प्रस्तुत प्रान्त मध्यदेश के नाम से प्रख्यात हुआ।[२] प्रस्तुत नगरी का विशेष परिचय परिशिष्ट में दिया गया है।[3]

राज्य व्यवस्था का सूत्रपात

राज्याभिषेक के पश्चात् श्री ऋषभदेव ने मानव-जाति को विनाश के गर्त से बचाने के लिये और राज्य की सुव्यवस्था हेतु आरक्षक दल की स्थापना की, जिसके अधिकारी 'उग्र' कहलाये। मंत्रि-मंडल बनाया जिसके अधिकारी 'भोग' नाम से प्रसिद्ध हुए। सम्राट् के समीपस्थ जन, जो परामर्शप्रदाता थे, वे 'राजन्य' के नाम से विख्यात हुए और अन्य राज्य कर्मचारी 'क्षत्रिय' नाम से पहचाने गये।[४]

मंत्रों में जैसे ओंकार मंत्र प्रथम व प्रसिद्ध है वैसे ही राजाओं में प्रथम राजा ऋषभदेव हैं। वे अपनी प्रजा का पुत्रवत् पालन करते थे। दुष्टों के दमन एवं प्रजा तथा राज्य के संरक्षणार्थ उन्होंने चार प्रकार की सेना व सेनापतियों की व्यवस्था की।[५] राज्य-शक्ति को कोई चुनौती न दे सके, इसके लिये गज, अश्व, रथ व पादातिक चतुर्विध सेना का संगठन किया। अपराधी की खोज एवं अपराध-निरोध हेतु साम-दाम-दण्ड और भेद नीति का प्रचलन किया।[६] इन चार नीतियों में 'साम' सर्वोत्तम है। साम का

---

१ (क) आवश्यकसूत्रमलयगिरिवृत्ति, पृ० १६३
(ख) आवश्यकनिर्युक्ति हारिभद्रीया टीका, पृ० १२०-२

२ आवश्यकनिर्युक्ति हारिभद्रीया टीका १५१।१०६-११२

३ देखिये परिशिष्ट

४ (क) आवश्यकनिर्युक्तिमलयगिरिवृत्ति १६८।१६५।१
(ख) आवश्यकचूर्णि जिन० पृ० १५४
(ग) त्रिषष्टि० १।२।९७४-९७६

५ त्रिषष्टि० १।२।९२५-९३२

६ (क) त्रिषष्टि० १।२।९५९
(ख) णीतीओ उसभसामिम्मि चेव उप्पनाओ। —आवश्यकचूर्णि १५६

अर्थ है वचन चातुर्य से मित्र अथवा शत्रु को अपने वश में करना जो शत्रु साम उपाय के द्वारा वशीभूत न हो उसे 'भेद' द्वारा वश में करना चाहिये। भेद से तात्पर्य शत्रु को किसी अन्य शत्रु से लड़ाकर उसकी शक्ति को क्षीण कर देना। साम में स्वयं मिलन का प्रयत्न किया जाता है, पर भेद में परस्पर विग्रह डलवाकर अधीनता स्वीकार करायी जाती है। दान या दाम से तात्पर्य है भौतिक वस्तु देकर शत्रु को प्रसन्न करना। और जहाँ ये तीनों उपाय निष्फल प्रतीत हों वहाँ दण्ड का प्रयोग किया जाता है। पर दण्ड का प्रयोग अपने से निर्बल शत्रु के लिये ही श्रेयकारी है, सबल के लिये नहीं।[१]

दण्ड नीति की आवश्यकता

शासन की सुव्यवस्था के लिये दण्ड परम आवश्यक है। दण्ड नीति सर्व अनीति रूपी सर्पों को वश में करने के लिए विषविद्यावत् है। अपराधी को उचित दण्ड न दिया जाय तो अपराधों संख्या निरन्तर बढ़ती जायेगी एवं बुराइयों से राष्ट्र की रक्षा नहीं हो सकेगी। अतः ऋषभदेव ने अपने समय में चार-प्रकार की दण्ड-व्यवस्था निर्मित की।

(१) परिभाष, (२) मण्डलबन्ध, (३) चारक, (४) छविच्छेद।[२]

परिभाष

कुछ समय के लिए अपराधी व्यक्ति को आक्रोशपूर्ण शब्दों में नजर बन्द रहने का दण्ड देना।

मन्डलबन्ध

सीमित क्षेत्र में रहने का दण्ड देना।

चारक

बन्दीगृह में बन्द करने का दण्ड देना।

छविच्छेद

करादि अङ्गोपाङ्गों से छेदन का दण्ड देना।

ये चार नीतियाँ कब चलीं, इसमें विद्वानों के विभिन्न मत हैं। कुछ विज्ञों का मन्तव्य है कि प्रथम दो नीतियाँ ऋषभदेव के समय चलीं[3] और

---

१ आदिपुराण ८।२५३

२ स्थानाङ्गवृत्ति ७।३।५५७

३ आद्यद्वयमृषभकाले अन्ये तु भरतकाले इत्यन्ये। —स्थानांगवृत्ति ७।३।५५७

दो भरत के समय। आचार्य अभयदेव के मन्तव्यानुसार ये चारों नीतियाँ भरत के समय चलीं।[१] आचार्य भद्रबाहु और आचार्य मलयगिरि के अभिमतानुसार बन्ध (बेड़ी का प्रयोग) और घात (डण्डे का प्रयोग) ऋषभनाथ के समय आरम्भ हो गये थे।[२] और मृत्युदण्ड का आरम्भ भरत के समय हुआ।[३] जिनसेनाचार्य के अनुसार वध-बन्धनादि शारीरिक दण्ड भरत के समय चले।[४] उस समय तीन प्रकार के दण्ड प्रचलित थे जो अपराध के अनुसार दिये जाते थे—

(१) अर्थ हरण दण्ड (२) शारीरिक क्लेश रूप दण्ड (३) प्राणहरण रूप दण्ड।[५]

खाद्य-समस्या का समाधान

भगवान ऋषभदेव के समय कल्पवृक्ष नष्ट हो चुके थे। अतः मनुष्य कंद, मूल, पत्र, पुष्प और फलादि का उपभोग करते थे। किन्तु जनसंख्या की अभिवृद्धि होने पर कन्द, मूल, फलादि पर्याप्त मात्रा में उत्पन्न न होने से मानव ने स्वयं सम्भूत चावल, गेहूँ, मूंग, चना आदि का उपयोग करना प्रारम्भ कर दिया, किन्तु पकाने के साधनों से अनभिज्ञ होने के कारण अपक्व चना, चांवल आदि अन्न दुष्पाच्य हो गये, तो लोग अपनी समस्या को लेकर ऋषभदेव के पास पहुँचे, उनसे अपनी समस्या का समाधान मांगा। श्री ऋषभदेव ने छिलके उतारकर, हाथ से मलकर खाने

---

१ (क) परिभासणा उ पढमा, मण्डलबन्धम्मि होई बीया तु।
चारग छविछेदावि, भरहस्स चउव्विहा नीई॥
—स्थानांगवृत्ति ७।३।५५७

(ख) आवश्यकभाष्य गा० ३

२ (क) निगडाइजमो बन्धो घातो दण्डादितालणया।
—आवश्यकनिर्युक्ति, गा० २१७

(ख) आवश्यकमलयगिरिवृत्ति १९६-२०२

३ (क) आवश्यकनिर्युक्ति २१८

(ख) मारणं जीववधो-जीवस्य जीविताद् व्यपरोपणं तच्च भरतेश्वरकाले समुत्पन्नं।
—आवश्यकनिर्युक्ति १९९।२

४ शरीरदण्डनञ्चैव वधबन्धादिलक्षणम्।
नृणां प्रबलदोषाणां भरतेन नियोजितम्॥
—महापुराण ३।२१६।६५

५ आदिपुराण ४२।१६४

की सलाह दी, लोगों ने वैसा ही किया। पर, कालक्रम से वह भी दुष्पच्य हो गया, अजीर्ण आदि व्याधि की व्यथा से व्यथित हो पुनः ऋषभदेव के पास आये, उन्होंने समाधान दिया कि पानी में कुछ समय भिगोकर और मुट्ठी व बगल में रखो इससे तुम्हें अजीर्ण की व्यथा परेशान नहीं करेगी। लोगों ने दृढ़ श्रद्धा सहित उनके वचनों का आदर किया और उनके कथनानुसार खाना प्रारम्भ किया। कुछ समय के लिये उक्त व्यथा का समाधान हुआ, पर स्थायी समाधान अभी तक नहीं हो पाया था। लोग प्रतिदिन कमजोर होते जा रहे थे। यद्यपि श्री ऋषभदेव अग्नि के सम्बन्ध में जानते थे, तथापि यह काल एकान्त स्निग्ध था, अग्नि उत्पन्न नहीं हो सकती थी; अग्नि की उत्पत्ति के लिये एकान्त स्निग्ध व एकान्त रूक्ष दोनों ही काल अनुपयुक्त होते हैं।

समय के कदम आगे बढ़े। एक दिन एक विशेष घटना घटी। वृक्षों के परस्पर टकराने से अग्नि उत्पन्न हुई। धीरे-धीरे उसने भयंकर रूप धारण किया और आस-पास के तृण-काष्ठ आदि को जलाने लगी। लोगों ने रत्नराशि समझकर उसकी ओर हाथ बढ़ाया, तो उनके हाथ जलने लगे। भयभीत हुए लोग ऋषभदेव के पास आये और बोले—स्वामिन्! वन में कोई अद्भुत भूत उत्पन्न हुआ है। ऋषभदेव ने कहा—अब स्निग्धरूक्ष काल आ गया है, अतः तुम्हारी समस्या का सर्वथा स्थायी समाधान हो जाएगा। तुम सब लोग जाओ और उसके आस-पास के तृणादि को हटाकर पूर्वोक्त विधि से अन्न को उसमें पकाकर खाओ।

सरल-हृदयी लोगों ने अग्नि में पकाने के लिये अनाज उसमें डाल दिया, किन्तु पात्र के अभाव में वह सारा जलकर भस्म हो गया। तब वे पुनः भागे-भागे ऋषभदेव के समीप आये और बोले—स्वामिन्! वह तो स्वयं भूखी राक्षसी ज्ञात होती है। हमने जितना अन्न डाला वह सारा का सारा खा गयी है, तो हमारी उदर-पूर्ति कैसे करेगी?

ऋषभदेव ने कहा—पात्र के बिना अन्न नहीं पकाया जा सकता।

युगलियों ने पूछा—पात्र कैसे तैयार होते हैं?

ऋषभदेव उस समय हस्ति पर आरूढ़ थे, उन्होंने वहीं पर आर्द्र-मृत्तिका का पिण्ड मँगवाया। उसे हाथी के मस्तक पर रखकर हाथ से फैलाया और उसका हस्तीशीर्ष आकारवत् पात्र बनाकर सभी को दिखाया और कहा कि इस प्रकार से विविध पात्रों को तैयार करो। उन्हें प्रथम

अग्नि में पकाओ तदनन्तर उस परिपक्व पात्र में अन्नादि डालकर पूर्वोक्त रीति से पकाकर खाओ। इस तरह शिल्पों में प्रथम कुम्भकार का शिल्प ऋषभदेव से प्रचलित हुआ। खाद्य समस्या का समाधान करने के कारण ही संभवतः अथर्ववेद के ऋषभसूक्त में भगवान श्री ऋषभदेव की अन्य विशेषणों के साथ 'जातवेदस्' (अग्नि) के रूप में भी स्तुति की है।[1]

इस शिल्प के अनन्तर अन्य शिल्पों के लिये भी द्वार खुल गया। ग्रामों व नगरों का निर्माण करने के लिये उन्होंने मकान बनाने की कला सिखायी।

कार्य करते-करते मनुष्यों का मन उचट जाय तो मनोरंजन के लिये चित्र-शिल्प आदि का भी आविष्कार किया। कल्पवृक्षों के अभाव में वस्त्र की समस्या सामने उपस्थित हुई तो भगवान ने वस्त्र-निर्माण की शिक्षा दी। बाल, नाखून आदि की अभिवृद्धि से जब शरीर अभद्र व अशोभन दिखाई दिया तो प्रभु ने नापित-शिल्प का प्रशिक्षण दिया।

उपर्युक्त पञ्चशिल्प सरिता के प्रवाह की तरह वृद्धिगत होते गये और शनैः-शनैः एक-एक शिल्प के बीस-बीस अवान्तर भेद हो जाने से सम्पूर्ण शिल्प-कर्म सौ प्रकार का हो गया। इनके अतिरिक्त प्रभु ने घसियारे का, काष्ठों के क्रय-विक्रय का तथा खेती व व्यापार सम्बन्धी आवश्यक वस्तुओं का भी प्रशिक्षण दिया। इस प्रकार ऋषभदेव सभी कल्पवृक्षों में एक मुख्य कल्पवृक्ष हो गये।[2]

भगवान श्री ऋषभदेव सर्वप्रथम वैज्ञानिक और समाजशास्त्री थे। उन्होंने समाज की रचना की। भागवत में आता है, कि एक वर्ष तक वृष्टि न होने से लोग भूखों मरने लगे, सर्वत्र 'त्राहि-त्राहि' मच गई, तब ऋषभदेव

---

१ अथर्ववेद ६।४।३

२ (क) आवश्यकनिर्युक्तिमलयगिरि गा० १६७।१

(ख) आवश्यकनिर्युक्ति २०६-२१३

(ग) आवश्यकहारि० वृत्ति मूलभाष्य ८।१३१।१

(घ) आवश्यकचूर्णि : जिनदास १५४

(ङ) त्रिषष्टि० १।२।९३४-९५६

(च) वसुदेव हिंडी

(छ) चउप्पन महापुरिस चरियं, पृ० ३८

(ज) भरतेश्वर बाहुबली वृत्ति

ने आत्म-शक्ति से पानी बरसाया और उस भयंकर अकाल-जन्य संकट को दूर किया।[1] प्रस्तुत घटना इस बात को प्रकट करती है, कि उस समय खाद्य-वस्तुओं की कमी आ चुकी थी, जनता पर अभाव की काली घटाएँ घिरी हुई थीं। उसे उन्होंने दूर किया। वर्षा बरसाने के कारण वे वर्षा के देवता रूप में भी प्रसिद्ध हैं।

आचार्य जिनसेन ने भगवान ऋषभदेव के समय प्रचलित आजीविका के प्रमुख छह साधनों का उल्लेख किया है—

(१) असि अर्थात् सैनिक वृत्ति (२) मषि—लिपि विद्या (३) कृषि—खेती का कार्य (४) विद्या—अध्यापन या शास्त्रोपदेश का कार्य (५) वाणिज्य—व्यापार, व्यवसाय (६) शिल्प—कला-कौशल।[2] उस समय के मानवों को भी 'षट्कर्मजीविनाम्' कहा गया है।[3]

कलाओं का अध्ययन

कला कामधेनु और चिन्तामणि रत्न है। कला ही आत्म-कल्याण करने वाली है। यही धर्म, अर्थ तथा कामरूप फल से सहित सम्पदाओं को उत्पन्न करती है ऐसा विचारकर सम्राट् श्री ऋषभदेव ने अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को बहत्तर कलाओं का[4] और कनिष्ठ पुत्र बाहुबली को प्राणी-लक्षणों का ज्ञान कराया।[5] जिनसेन आचार्य ने लिखा है, कि आदि तीर्थङ्कर श्री ऋषभदेव ने अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को अर्थशास्त्र, संग्रह प्रकरण और नृत्यशास्त्र की शिक्षा दी थी। वृषभसेन को गान्धर्वविद्या की शिक्षा, अनन्त-विजय को चित्रकला, वास्तुशिक्षा और आयुर्वेद की शिक्षा दी; तथा

---

१ श्रीमद्भागवत, स्कन्ध ५, अ० ४, कण्डिका ३

२ असिर्मषिः कृषिर्विद्या वाणिज्यं शिल्पमेव च।
कर्माणीमानि षोढा स्युः प्रजाजीवनहेतवः॥ —आदिपुराण १६।१७९

३ आदिपुराण ३९।१४३

४ देखिये परिशिष्ट

५ (क) भरहस्स रूवकम्मं, नराइ लक्खणमहोइयं बलिणो।
—आवश्यकनिर्युक्ति २१३

(ख) आवश्यकचूर्णि : जिनदास, पृ० १५६

(ग) त्रिषष्टि० १।२।९६०-९६२

(घ) जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिवृत्ति

(ङ) कल्पसूत्र सुबोधिनी टीका ४९६ साराभाई

बाहुबली को कामनीति, स्त्री-पुरुष लक्षण, आयुर्वेद, धनुर्वेद, अश्वलक्षण, गजलक्षण, रत्न-परीक्षा एवं तन्त्र-मन्त्र की शिक्षा दी थी।[१] भरत आदि पुत्रों के समान ही ऋषभदेव ने स्त्री-शिक्षा की अनिवार्यता को ध्यान में रखकर अपनी दोनों पुत्रियों को शिक्षित किया। पुत्री ब्राह्मी को दक्षिण हस्त से अठारह लिपियों का अध्ययन कराया[२] और सुन्दरी को वाम-हस्त से गणित विद्या का परिज्ञान कराया।[३] व्यवहार-साधन हेतु मान (माप), उन्मान (तोला, माशा आदि वजन), अवमान (गज, फीट, इंच आदि) व प्रतिमान (छटांक, सेर, मन आदि) सिखाये।[४] मणि आदि पिरोने की कला से भी अवगत कराया।[५]

आदिपुराणकार ने लिखा है, कि आदि तीर्थङ्कर ने स्वयं अपनी पुत्रियों के लिपि संस्कार के समय सुवर्णपट्ट पर अ, आ, इ, ई, उ, ऊ आदि वर्णमाला लिखकर अक्षरज्ञान कराया था।[६]

---

१ आदिपुराण १६।११८-१२५

२ (क) लेहं लिवीविहाणं जिणेण बंभीए दाहिणकरेणं
—आवश्यकनिर्युक्ति २१२

(ख) आवश्यकहारिभद्रीयावृत्ति भाष्य ६।१३२

(ग) विशेषावश्यकभाष्यवृत्ति १३२

(घ) त्रिषष्टि० १।२।९६३

(ङ) आवश्यकचूर्णि १५६

(च) कल्पसूत्र सुबोधिका टीका साराभाई, पृ० ४६६

(छ) ऋषभदेव ने ही सम्भवतः लिपि-विद्या के लिए लिपि-कौशल का उद्भावन किया। ऋषभदेव ने ही सम्भवतः ब्रह्म विद्या की शिक्षा के लिए उपयोगी ब्राह्मी लिपि का प्रचार किया था।
—हिन्दी विश्वकोष श्री नगेन्द्रनाथ बसु प्र० भा०, पृ० ६४

३ (क) 'गणियं संखाणं सुन्दरीए वामेण उवइट्ठं' —आवश्यकनिर्युक्ति २१२

(ख) आवश्यकचूर्णि, पृ० १५६

(ग) विशेषावश्यकभाष्यवृत्ति १३२

(घ) महापुराण १६।१०४।३५५

(ङ) 'दर्शयामास सव्येन सुन्दर्या गणितं पुनः।' —त्रिषष्टि० १।२।९६३

४ 'माणुम्माणवमाणपमाणंगणिमाइ वत्थूण।' —आवश्यकनिर्युक्ति २१३

५ (क) आवश्यकनिर्युक्ति गा० २१४

(ख) आवश्यकसूत्रहारिभद्रीयावृत्ति मूल भाष्य ११।१३२

६ आदिपुराण १६।१०५

ऋषभ-परम्परा में ब्राह्मी और सुन्दरी दोनों बहनों का महत्वपूर्ण स्थान है। ये कन्याद्वय अत्यन्त प्रतिभाशालिनी थीं। ब्राह्मी अक्षरज्ञान, व्याकरण, न्याय व साहित्य आदि में पारंगत थी। ब्राह्मी लिपि जो आज की हिन्दी (नागरी) लिपि मानी जाती है उसका आविष्कार ऋषभदेव की पुत्री ब्राह्मी के द्वारा ही हुआ है। यावन्मात्र लिपियाँ जो आजकल उपलब्ध होती हैं उन सबका मूल-आधार ब्राह्मी लिपि ही माना जाता है। क्योंकि उन सभी लिपियों में प्राय: समानता दिखलाई देती है उसका मूल कारण यही है कि वे सभी लिपियाँ ब्राह्मी लिपि से ही निकली हैं।[१] ब्राह्मी जहाँ उक्त-कथित अक्षरज्ञान आदि में प्रतिभासम्पन्न थी वहाँ दूसरी ओर सुन्दरी गणित विद्या में पारंगत थी। आज का जितना भी गणितशास्त्र (Mathematics) है वह सब 'सुन्दरी' के गणितशास्त्र का ही विकसित रूप माना जाता है।

इस प्रकार सम्राट् श्री ऋषभदेव ने प्रजा के हित के लिए, अभ्युदय के लिए पुरुषों को बहत्तर कलाएँ, स्त्रियों को चौंसठ कलाएँ और सौ प्रकार के शिल्पों का परिज्ञान कराया।[२] कृषि सम्बन्धी भी सारा प्रशिक्षण दिया। खेती योग्य भूमि किस प्रकार तैयार की जाती है, हल किस प्रकार चलाये जाते हैं, बीज बोने व फसल उगने की पूर्व-पश्चात् विधि क्या है, इत्यादि सभी बातें ऋषभदेव ने बतायीं। संभवत: इसी कारण आगे चलकर वे 'कृषि के देवता' व 'कृषिराज' के रूप में पूजित हुए।

संक्षेप में कहा जाय तो उन्होंने असि, मषि और कृषि (सुरक्षा, व्यापार, उत्पादन) की व्यवस्था की।[३] अश्व, हस्ती, गायें आदि पशुओं का

---

१ देखिए परिशिष्ट

२ (क) कल्पसूत्र १९५।५७ पुण्य० सं०

(ख) जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिसूत्र ३६ पृ० ७७ अमो० सं०

(ग) एतच्च सर्वं सावद्यमपि लोकानुकम्पया।
स्वामी प्रवर्त्तयामास, जानन् कर्तव्यमात्मनः॥ —त्रिषष्टि० १।२।९७१

३ (क) असिर्मषिः कृषिर्विद्या वाणिज्यं शिल्पमेव च।
कर्माणीमानि षोढा स्युः प्रजाजीवनहेतवः॥
तत्र वृत्तिं प्रजानां स भगवान् मतिकौशलात्।
उपादिक्षत् सरागो हि स तदासीज्जगद्गुरुः॥
तत्रासिकर्म सेवायां मषिर्लिपिविधौ स्मृता।
कृषिर्भूकर्षणे प्रोक्ता विद्या शास्त्रोपजीवने॥

उपयोग प्रारम्भ किया।[1] जीवनोपयोगी प्रवृत्तियों का विकास कर जीवन को सरस, शिष्ट और व्यवहार योग्य बनाया।

वर्णव्यवस्था

यौगलिकों के समय में किसी प्रकार की वर्ण या जाति की व्यवस्था नहीं थी। सभी एक ही वर्ण के लोग थे। उनमें किसी प्रकार के ऊँच-नीच का भेद-भाव नहीं था। भोग-भूमि में कल्पवृक्षों से जीवन-यापन करने के कारण वे कभी कर्म-क्षेत्र में उतरे ही नहीं थे। अब सामाजिक संगठन बनाये रखने के लिये यह आवश्यक हो गया, कि किसी जाति में रहकर कार्य किया जाय।

जब व्यक्तियों का एक समुदाय कई पीढ़ियों से वंश-परम्परागत प्रणाली के अनुसार एक ही देश में रहता हो और एक ही प्रकार का पेशा करता हो उसे जाति (Race) संज्ञा से अभिहित किया जाता है, इसी को दूसरे शब्दों में वर्ण कहा जाता है। मूलतः जातिनामकर्मोदय या गतिनाम-कर्मोदय की अपेक्षा से एक ही जाति—मनुष्य जाति है, पर आजीविका की भिन्नता से जाति भी मुख्यतः चार विभागों में विभक्त हो गई—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र।

सम्राट् श्री ऋषभदेव ने क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन तीन वर्णों (Caste) की स्थापना की।[2] यह वर्णन आवश्यकनिर्युक्ति, आवश्यकचूर्णि, आवश्यकमलयगिरिवृत्ति, आवश्यकहारिभद्रीयावृत्ति, त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र प्रभृति श्वेताम्बर ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से नहीं है। परवर्ती

वाणिज्यं वणिजां कर्म, शिल्पं स्यात् करकौशलम्।
तच्च चित्रकलापत्रच्छेदादि बहुधा स्मृतम्॥

—महापुराण, १७९-१८२, पर्व १६

(ख) प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषुः।
शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः॥

—बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र, समन्तभद्राचार्य

१ आवश्यकहारिभद्रीयावृत्ति, गा० २०१, पृ० १२८

२ उत्पादितास्त्रयो वर्णाः तदा तेनादिवेधसा।
क्षत्रियाः वणिजः शूद्राः क्षतत्राणादिभिर्गुणैः॥

—महापुराण १८३।१६।३६२

विज्ञों ने उस पर अवश्य कुछ लिखा है।[1] पर दिगम्बराचार्य जिनसेन की तरह विशद रूप से नहीं। यहाँ यह स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक है, कि वर्ण-व्यवस्था की स्थापना वृत्ति और आजीविका को व्यवस्थित रूप देने के लिये थी, न कि ऊँचता व नीचता की दृष्टि से।

इस जाति या वर्ण-व्यवस्था द्वारा सामाजिक दृष्टि से आदिपुराणकार जिनसेन ने निम्न प्रकार से मूल्याङ्कन किया है—(क) जाति या वर्ण-व्यवस्था के कारण धार्मिक चेतना वर्ग-विशेष में केन्द्रित रहती है। (ख) भिन्न-भिन्न जातियाँ होने से कला, शिल्प आदि अन्य सांस्कृतिक कार्यों का विकास सरलतापूर्वक हो जाता है। (ग) पृथक् जाति या वर्ण होने से सामाजिक संगठन सुदृढ़ बनता है। (घ) जाति व्यवस्था के द्वारा समाज का विकास व उसके संरक्षण में सहायता मिलती है। (ङ) आर्थिक जीवन विकास हेतु श्रम-विभाजन अत्यावश्यक है। (च) जाति या धर्म विशेष के आधार पर शिक्षा में प्रगति होती है। प्रत्येक जाति अपनी जाति के सुधार व कल्याणार्थ विशेष प्रयत्नशील रहती है।[2]

वर्ण-व्यवस्था जन्म से या कर्म से ?

यह वर्ण-व्यवस्था जन्म से है या कर्म से, इस विषय में आजकल द्विविध विचारधाराएँ प्रचलित हैं। कुछ लोग वर्ण-व्यवस्था को जन्म से ही मानते हैं। उनके अनुसार जो जिस वर्ण में उत्पन्न हो गया वह चाहे जो अनुकूल-प्रतिकूल करे वह उस जन्म में उसी वर्ण में रहेगा, मरणोत्तर काल में ही उसका वर्ण-परिवर्तन हो सकता है और कुछ लोग वर्ण को गुण एवं कर्म के अधीन मानते हैं। उनके अनुसार कर्म को व्यवस्थित रूप देने के लिये ही चतुर्वर्ण की स्थापना हुई थी।

ऐतिहासिक दृष्टि से विचार किया जाय, तो कर्मणा वर्णव्यवस्था की बात अधिक प्राचीन सिद्ध होती है। क्योंकि ब्राह्मणों तथा महाभारत आदि में जहाँ भी इसकी चर्चा की गई है, वहाँ कर्म की अपेक्षा ही वर्ण-व्यवस्था मानी गई है। महाभारत में भारद्वाजऋषि भृगुमहर्षि से प्रश्न

---

१ (क) कल्पलता : समयसुन्दर गणी, पृ० १९९
(ख) पउमचरियं : विमलसूरि उ० ३।१११-११६
(ग) 'पश्चाच्चतुर्वर्णस्थापनं कृतम्'।
—कल्पद्रुमकलिका०, लक्ष्मी०, पृ० १४४

२ आदिपुराण ३८।४७

करते हैं कि यदि सित, (सत्त्वगुण), लोहित, (रजोगुण), पीत (रजस्त-मोव्यामिश्र) और कृष्ण (तमोगुण) इन चार वर्णों के वर्ण से वर्णभेद माना जाता है, तो सभी वर्णों में वर्णसांकर्य दिखाई देता है। काम, क्रोध, भय, शोक आदि तो सभी में होता है, फिर वर्णभेद क्यों होता है ? सभी का शरीर स्वेद, मूत्र, पुरीष, कफ और रुधिरवान होता है, फिर वर्णभेद कैसा ? जंगम और स्थावर जीवों की असंख्यात जातियाँ हैं, उन विविध वर्णवाली जातियों के वर्ण का निश्चय कैसे किया जाय ?

उत्तर में भृगु महर्षि कहते हैं—वस्तुतः वर्णों में कोई विशेषता नहीं। सर्वप्रथम ब्रह्मा ने इस विश्व में ब्राह्मण-वर्ण ही सृजा था, बाद में कर्मों की वैविध्यता ने उसे विविध रूप दे दिया। जिन्हें काम-भोग प्रिय था, स्वभाव से उग्र तथा सत्त्वगुण प्रधान धर्म का परित्याग करने वाले थे, जो रक्तांग अर्थात् रजोगुणी थे, वे 'क्षत्रियत्व' को प्राप्त हुए। जिन द्विजों ने गो आदि से आजीविका करनी प्रारम्भ की, स्वधर्म का जिन्होंने पालन नहीं किया, वे रजस्तमोव्यामिश्र गुण के धारक थे, अतः वे 'वैश्य' बने। इनके अतिरिक्त जो हिंसा, झूठ, चोरी आदि तमोगुण युक्त थे वे 'शूद्र' कहलाये।[1]

बुद्ध गौतमीय धर्मशास्त्र में भी उल्लेख है—हे राजन् ! जाति नहीं पूजी जाती, गुण ही कल्याण के करने वाले हैं, वृत्त-सदाचार में स्थित चाण्डाल को भी देवों ने ब्राह्मण कहा है।[2]

शुक्रनीति में भी इस आशय का एक श्लोक आया है—

'मनुष्य जाति से न ब्राह्मण होता है, न क्षत्रिय, न वैश्य, न शूद्र और न म्लेच्छ। किन्तु गुण और कर्म से ही ये भेद होते हैं।[3] आततायियों से प्रजा की रक्षा करना अर्थात् दुष्ट पुरुषों का निग्रह और शिष्ट पुरुषों का पालन करना तथा पक्षपातरहित प्रजा-रक्षण के साथ-साथ आत्मरक्षण करना

---

१ महाभारत शा० अ० १८८।६-१४।

२ न जातिः पूज्यते राजन् गुणाः कल्याणकारकाः।
चण्डालमपि वृत्तस्थं त देवा ब्राह्मणं विदुः॥
—बुद्ध गौतमीय धर्मशास्त्र

३ न जात्या ब्राह्मणश्चात्र क्षत्रियो वैश्य एव वा।
न शूद्रो न च वै म्लेच्छो भेदिता गुणकर्मभिः॥ —शुक्रनीति

क्षात्र-धर्म है, जो ऐसा करने में शारीरिक व मानसिक दृष्टि से सर्वथा योग्य थे, वे 'क्षत्रिय' संज्ञा से अभिहित किये गये।

आचार्य जिनसेन के मन्तव्यानुसार सम्राट् श्री ऋषभदेव ने स्वयं अपनी भुजाओं में शस्त्र धारण कर मानवों को यह शिक्षा प्रदान की, कि आततायियों से निर्बल मानवों की रक्षा करना शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति का प्रथम कर्त्तव्य है। श्री ऋषभदेव के प्रस्तुत आह्वान से कितने ही व्यक्तियों ने यह कार्य स्वीकार किया। वे 'क्षत्रिय' नाम से पहचाने गये।[1]

श्री ऋषभदेव ने दूर-दूर तक के प्रदेशों की जंघाबल से पदयात्रा कर जन-जन के मन में यह विचार-ज्योति प्रज्वलित की, कि मनुष्य को सतत गतिमान् रहना चाहिये, एक स्थान से द्वितीय स्थान पर वस्तुओं का आयात-निर्यात कर प्रजा के जीवन में सुख का सञ्चार करना चाहिये। जो व्यक्ति प्रस्तुत कार्य के लिये सन्नद्ध हुए, वे 'वैश्य' की संज्ञा से अभिहित किये गये।[2]

श्री ऋषभदेव ने मानवों को यह प्रेरणा प्रदान की, कि कर्म-युग में एक-दूसरे के सहयोग के बिना कार्य नहीं हो सकता। अतः ऐसे सेवानिष्ठ व्यक्तियों की आवश्यकता है—जो बिना किसी भेद-भाव के सेवा कर सकें। जो व्यक्ति सेवा के लिये तैयार हुए उनको श्री ऋषभदेव ने 'शूद्र' कहा।[3]

कालान्तर में शूद्र अतीव घृणा की दृष्टि से देखे जाने लगे। आज से करीब ढाई हजार वर्ष पूर्व भगवान महावीर के समय में इस दृष्टि ने और भी भयंकर रूप धारण कर लिया था। शूद्रों का मुँह देखना तो दूर उनकी छाया से भी घृणा की जाती थी सार्वजनिक धर्म-सभाओं व संस्थाओं में जाने का उन्हें तनिक भी अधिकार नहीं था। धर्म-शास्त्रों का कभी राह चलते श्रवण भी हो जाता तो धर्म के ठेकेदार उनके कानों में उबलता शीशा डलवा देते थे। इस प्रकार जातिवाद के नाम पर भयंकर 'राक्षसवाद' शुरू हो गया था। जिसका श्रमण भगवान महावीर ने और तथागत बुद्ध ने विरोध किया था और मानवता की प्रतिष्ठा की थी। उन्होंने कहा—जातिवाद तात्त्विक नहीं है। मनुष्य कर्म (आचार-व्यवहार) से ही ब्राह्मण,

---

१ महापुराण २४३।१६।३६८

२ महापुराण २४४।१६।३६८

३ महापुराण २४५।१६।३६८

क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र होता है। वर्ण-व्यवस्था मनुष्यकृत है, यह कोई ईश्वरीय व्यवस्था नहीं है।

पर जिस समय यह जाति व्यवस्था हुई थी, उस समय ऊँच-नीच की दृष्टि से नहीं हुई थी, तब मात्र कार्य-व्यवस्था की दृष्टि से हुई थी। जिन्होंने यह कार्य सहर्ष स्वीकार किया वे शूद्र कहलाने लगे।

तप और शास्त्रज्ञान आदि व्रत संस्कारों से जो संस्कारित हुआ वह 'ब्राह्मण' कहलाया।

इस प्रकार व्रत-संस्कार से ब्राह्मण हुए, शस्त्र धारण कर आजीविका करने वाले 'क्षत्रिय' हुए, खेती और पशु-पालन के द्वारा जीविका करने वाले 'वैश्य' कहलाये और सेवा-शुश्रूषा करने वाले 'शूद्र' कहलाये।

ब्राह्मण-वर्ण की स्थापना सम्राट् भरत ने की थी। ऐसा आवश्यक-निर्युक्ति, आवश्यकचूर्णि, त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र प्रभृति ग्रन्थों व टीकाओं में उल्लेख मिलता है।[1]

यहाँ पर एक प्रश्न सहज ही उद्‌भूत होता है, कि भगवान ऋषभदेव ने क्षत्रिय आदि तीन वर्णों की स्थापना की, तो ब्राह्मण-वर्ण की स्थापना क्यों नहीं की?

उक्त प्रश्न का एक मात्र यही समाधान प्रतीत होता है, कि उस समय भोगभूमि के मनुष्य स्वभावतः भद्र एवं शान्त थे। ब्राह्मण-वर्ण की प्रकृति उस समय के मनुष्यों में स्वभाव से ही थी, अतः उस प्रकृति वाले मानवों का एक पृथक् वर्ग स्थापित करने की आवश्यकता उन्हें महसूस नहीं हुई। महाभारत आदि में उल्लिखित वर्ण-व्यवस्था में सर्वप्रथम ब्रह्मा द्वारा ब्राह्मण-वर्ण की स्थापना का भी यही उद्देश्य प्रतीत होता है, कि मूलतः मनुष्य ब्राह्मण प्रकृति के ही थे, परन्तु समयानुसार उनमें विकारों की अभिवृद्धि और कर्म की विभिन्नता ने क्षत्रियादि वर्णों को प्रगट किया।

भगवान ऋषभदेव के राज्यकाल के पश्चात् भरत उत्तराधिकारी हुए। उन्होंने अपने युग की परिस्थिति का अवलोकन किया तो उन्हें एक ऐसे वर्ग की आवश्यकता प्रतीत होने लगी, जो व्रतादि में तत्पर हो, सात्त्विक प्रवृत्तियों में संलग्न रहकर अध्ययन-अध्यापन को ही अपना मुख्य कार्य समझे, ऐसा विचार कर उन्होंने सच्चे श्रावकों की परीक्षा की और अहिंसक वृत्ति के

---

१ देखिये, विस्तृत विवरण के लिये प्रस्तुत ग्रन्थ में 'ब्राह्मण-वर्ण की उत्पत्ति'

साधकों को 'माहन' की उपाधि से विभूषित किया, तथा एक चतुर्थ वर्ण की स्थापना की।

वर्णोत्पत्ति के सम्बन्ध में ईश्वरकर्तृत्व की मान्यता के कारण वैदिक साहित्य में अच्छी-खासी चर्चा है। उस पर विस्तार से विश्लेषण करना, यहाँ अपेक्षित नहीं है। संक्षेप में—पुरुष सूक्त में एक संवाद है और वह संवाद कृष्ण, शुक्लयजु, ऋक् और अथर्व इन चारों वेदों की संहिताओं में प्राप्त होता है।

प्रश्न है—ऋषियों ने जिस पुरुष का विधान किया, उसे कितने प्रकारों से कल्पित किया? उसका मुख क्या हुआ? उसके बाहु कौन बताये गये? उसके उरु (जांघ) कौन हुए, और उसके पैर कौन कहे जाते हैं?[1]

उत्तर है—ब्राह्मण उसका मुख था, राजन्य-क्षत्रिय उसका बाहु, वैश्य उसका उरु, और शूद्र उसके पैर हुए।[2]

यह एक लाक्षणिक वर्णन है। प्रस्तुत मंत्र में निरूपण का तात्पर्यार्थ यह है कि समाज रूप विराट् शरीर के मुख, बाहु, उरु और पाद के तुल्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ण हैं। जिस प्रकार मानव का शरीर मुखादि चार प्रधान अवयवों से निर्मित होता है, उसी प्रकार समाज-शरीर का निर्माण ब्राह्मण आदि वर्णों से होता है। पर पीछे के आचार्य लाक्षणिकता को विस्मृत कर शब्दों से चिपट गये और उन्होंने कहा—ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, उरुओं से वैश्य और पैरों से शूद्र उत्पन्न

---

१ यत्पुरुष व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्।
मुखं किमस्य, कौ बाहु, का (वू) उरु, पादा (वु) उच्येते ॥
—ऋग्वेद संहिता १०।९०; ११-१२

२ (क) ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
उरु तदस्य यद्वैश्यः पदभ्यां शूद्रो अजायत ॥
—ऋग्वेद संहिता १०।९०।१२

(ख) शुक्ल यजुर्वेद संहिता ३१।१०–११

(ग) किं बाहू किमुरु? —अथर्ववेद संहिता १९।६।६

(घ) विप्रक्षत्रियविट्शूद्रा मुखबाहूरुपादजाः।
वैराजात् पुरुषाज्जाता य आत्माचारलक्षणाः ॥
—भागवत ११।१७।१३ हि० भा०, पृ० ८०९

हुए। एतदर्थ ब्राह्मण को मुखज, क्षत्रिय को बाहुज, वैश्य को उरुज और परिचारक को पादज लिखा है।[1]

परन्तु यह मान्यता एकदम असंगत है। आज तक किसी मनुष्य की उत्पत्ति मुख से, बाहु से, जांघ से या पैर से होती नहीं देखी गई। यद्यपि ईश्वर को लोग **'कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्तुं वा समर्थः'** मानते हैं, परन्तु प्रकृति के विरुद्ध कार्य न साधारण पुरुष कर सकता है और न ईश्वर ही।

वैदिक साहित्य में अनेक स्थलों पर भगवान श्री ऋषभदेव को ब्रह्मा कहा है। संभवतः प्रस्तुत सूक्त का सम्बन्ध भगवान श्री ऋषभदेव से ही हो।

जैन संस्कृति की तरह वैदिक संस्कृति भी वर्णोत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न मत रखती है। साथ ही जैन संस्कृति की तरह वह भी प्रारम्भ में वर्ण-व्यवस्था जन्म से न मानकर कर्म से मानती थी।[2]

□

---

१ वक्त्राद् भुजाभ्यामुरुभ्यां पद्भ्यां चैवाथ जज्ञिरे।
सृजतः प्रजापतेर्लोकानिति धर्मविदो विदुः॥
मुखजा ब्राह्मणास्तात बाहुजाः क्षत्रियाः स्मृताः।
उरुजा धनिनो राजन् पादजाः परिचारकाः॥ —महाभारत ४-६।२१६

२ न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्।
ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि, कर्मभिर्वर्णतां गतम्॥ —महाभारत

साधक जीवन

- साधना के पथ पर
- उत्तराधिकार
- वैराग्य
- वार्षिक दान
- महाभिनिष्क्रमण
- साधुचर्या
- भिक्षा के लिए परिभ्रमण
- दारुण-कष्ट
- विवेक के अभाव में
- नमि-विनमि के द्वारा राज्य याचना
- विशिष्ट लाभ
- अक्षय तृतीया

साधक जीवन

साधना के पथ पर

आदि सम्राट् श्री ऋषभदेव ने २० लाख पूर्व कुमारावस्था में वास किया, तदनन्तर ६३ लाख पूर्व तक लोकनायक के रूप में, समाज और राष्ट्र के आदि सूत्रधार के रूप में न्यायपूर्वक राज्य का संचालन किया, प्रजा का पुत्रवत् पालन किया, प्रजा में फैली हुई अव्यवस्था का उन्मूलन किया, अन्याय और अत्याचार का प्रतिकार किया, नीति-मर्यादाओं को कायम किया। वे प्रजा के शोषक नहीं, पोषक थे; शासक ही नहीं, सेवक भी थे। श्रीमद्भागवत के अनुसार उनके शासन-काल में प्रजा की एक ही चाह थी, कि प्रतिपल-प्रतिक्षण हमारा प्रेम प्रभु में ही लगा रहे। अन्य किसी भी वस्तु की वे चाह नहीं करते थे।[1]

उत्तराधिकार

राज्य का उत्तराधिकारी ज्येष्ठ-श्रेष्ठ पुत्र ही प्राचीन काल से होता आया है। श्री ऋषभदेव से पहले कुलकर-व्यवस्था में भी यही नीति प्रचलित थी। प्रथम कुलकर विमलवाहन के पश्चात् उसी का पुत्र चक्षुष्मान् कुलकर पद पर आसीन हुआ। इस प्रकार संतति परम्परा से ही अन्तिम कुलकर नाभि हुए और जब कुलकर व्यवस्था के स्थान पर एक नवीन राज्य-व्यवस्था का श्री गणेश हुआ तो नाभि के पुत्र ऋषभदेव ने शासन-सूत्र संभाला। इसी परम्परा की परिपूर्ति श्री ऋषभदेव ने भी की। महाभिनिष्क्रमण से पूर्व उन्होंने अपने सभी पुत्रों को बुलाया व अपनी विरक्ति का विचार उनके समक्ष प्रस्तुत किया।

भरत आदि के न चाहने पर भी उन्हें स्वीकृति देनी पड़ी। श्री ऋषभदेव ने अयोध्या नगरी का सम्पूर्ण राज्य अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को दिया और बहली प्रदेश का राज्य बाहुबली को सौंपा। इसी तरह शेष

---

१ श्रीमद्भागवत ५।४।१८, पृ० ५५८-५५९

अट्ठाणवें पुत्रों को जागीरी के रूप में कुछ राज्यांश प्रदान किया।[१] आगे चलकर भगवान की यही पद्धति प्रत्येक कुल में प्रचलित हो गई।

न्याय-नीति पूर्वक सामाजिक कर्तव्यों का प्रतिबोध कराते हुए ८३ लाख पूर्व तक वे गृहस्थाश्रम में रहे। पुत्रों को उत्तराधिकारी बनाने के पश्चात उन्होंने त्याग-मार्ग की ओर कदम बढ़ाना उचित समझा। वे राजकीय कर्तव्यों से पूर्णतः पृथक् हो गये।

वैराग्य

त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, चउप्पन महापुरिस चरियं आदि ग्रन्थों में भगवान के वैराग्य का कारण निम्न प्रकार से उल्लिखित है—एक बार बसन्त ऋतु में नागरिक लोग अनेक प्रकार की क्रीड़ाएँ कर रहे थे। उस समय प्रभु विचार करने लगे—क्या इससे भी उत्कृष्ट सुख अन्य कहीं पर है ? चिन्तन करते-करते अवधिज्ञान से पूर्व जन्मों में अनुभवित अनुत्तर-विमान तक का सुख-वैभव स्वप्नवत् साक्षात् हो गया और वे संयम के पथ पर चलने को प्रस्तुत हुए।[२]

दिगम्बर ग्रंथ हरिवंशपुराण और पउमचरियं आदि में नीलांजना नाम की नर्तकी से भगवान प्रतिबुद्ध हुए, ऐसा वर्णन मिलता है। वहाँ कहा गया है, कि एक दिन राज्यसभा में नीलांजना नाम की नर्तकी की नृत्य करते-करते ही मृत्यु हो गई। इस दुर्घटना से ऋषभदेव को संसार से वैराग्य हो गया, और वे राज्य का परित्याग कर तपस्या करने वन मे चले गये।[३]

आत्म-साधना के मार्ग पर बढ़ने का प्रस्तुत मानसिक संकल्प जानकर नव लौकान्तिक देव स्वकर्त्तव्य परिपालनार्थ भगवान के चरणों में आये

---

१ (क) उवदिसित्ता पुत्तसयं रज्जसए अभिसिंचइ।
—जम्बूद्वीप० ३६।७७ (अमोलक ऋषिजी)

(ख) कल्पसूत्र पुण्य० १९५।५७

(ग) त्रिषष्टि० १।३।१-१७, पृ० ६८

(घ) श्रीमद्भागवत ५।५।२८।५६३

२ (क) त्रिषष्टि० १।२।९८५-१०३३

(ख) चउप्पन महापुरिस चरियं

३ सोऽथ नीलाञ्जनां दृष्ट्वा नृत्यन्तीमिन्द्रनर्तकीम्।
बोधस्याभिनिबोधस्य निर्विवेदोपयोगतः॥
—हरिवंशपुराण ९।४७

और विनम्र प्रार्थना की, भगवन् ! धर्म-तीर्थ के प्रवर्तन का समय हो चुका है, अतः आप सर्व जीवों के कल्याणार्थ धर्म-तीर्थ को प्रगट करें ।

वस्तुतः तीर्थंकर स्वयं संबुद्ध होते हैं । वे अन्य के प्रतिबोध से जागते नहीं हैं, वे स्वयं ही जागे हुए होते हैं । यह जो ग्रन्थों में वर्णन आया है वह केवल औपचारिक है ।

वार्षिक-दान

अभिनिष्क्रमण के पूर्व श्री ऋषभदेव ने प्रभात की पुण्य-वेला में एक वर्ष तक एक करोड़ आठ लाख स्वर्ण मुद्राएँ प्रतिदिन दान दीं ।[1] इस प्रकार एक वर्ष में तीन अरब अट्ठासी करोड़ और अस्सी लाख स्वर्ण-मुद्राओं का दान दिया ।[2] दान देकर, जन-जन के अन्तर्मानस में दान की भव्य-भावना उद्‌बुद्ध की । पर यह दान उन्होंने उस समय किसे दिया इस सम्बन्ध में कोई स्पष्टीकरण नहीं है ।

महाभिनिष्क्रमण

भारतीय इतिहास में चैत्र कृष्णा अष्टमी का दिन[3] सदा स्मरणीय रहेगा । जिस दिन सम्राट् श्री ऋषभ राज्य-वैभव को ठुकराकर, भोग-विलास को तिलाञ्जलि देकर, परमात्म-तत्त्व को जाग्रत करने के लिये 'सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि' सभी पाप-प्रवृत्तियों का परित्याग करता हूँ, इस भव्य-भावना के साथ विनीता नगरी से निकलकर सिद्धार्थ उद्यान में, अशोक वृक्ष के नीचे, उत्तराषाढ़ा नक्षत्र में, चतुर्थ प्रहर के समय, षष्ठ भक्त के तप से युक्त होकर सर्वप्रथम परिव्राट् बने ।[4] शीर्षस्थ बालों की

---

१ (क) आवश्यकनिर्युक्ति २३९
(ख) त्रिषष्टि० १।३।२३

२ 'तिण्णेव य कोडिसया अट्ठासीई अ होंति कोडीओ ।
असियं च सहस्सा एयं संवच्छरे दिण्णं ।।
—आवश्यकनिर्युक्ति गा० २४२

३ (क) चेत्तबहुलट्ठमीए चउहिं सहस्सेहिं सो उ अवरण्हे ।
सीया सुदंसणाए सिद्धत्थवणम्मि छट्ठेण ।।
—आवश्यकनिर्युक्ति गा० ३३६
(ख) कल्पसूत्र पुण्य० १९५।५७
(ग) त्रिषष्टि० १।३।६५-६७

४ कल्पसूत्र १९५।५७

तरह पापों का भी जड़मूल से परित्याग करना है अतः उन्होंने सिर के बालों का चतुर्मुष्टिक लुञ्चन किया।[1] उस समय भगवान के प्रेम से प्रेरित होकर उग्र वंश, भोग वंश, राजन्य वंश और क्षत्रिय वंश के चार सहस्र साथियों ने भी उनके साथ ही संयम ग्रहण किया।[2] यद्यपि उन चार सहस्र साथियों को भगवान ने प्रव्रज्या प्रदान नहीं की, किन्तु उन्होंने भगवान का अनुसरण कर स्वयं ही लुंचन आदि क्रियाएँ कीं।[3]

साधुचर्या

दीक्षा अंगीकार करने के पश्चात् भगवान परिवार, समाज व देश के कर्त्तव्यों से बहुत ऊपर उठ गये थे। उन्होंने अपने स्वत्व को अखिल विश्व में प्रसारित कर दिया, विश्व-मैत्री की विराट् भावना उनके कण-कण का आधार बन गई। माता का प्रगाढ़ स्नेह, पिता का परम वात्सल्य व पुत्रों की अपार ममता उन्हें पथ से विचलित न कर सकी। वे कंचुकीवत् स्नेह-बन्धनों को छोड़कर अयोध्या से प्रस्थित हुए। कच्छ, महाकच्छ आदि चार हजार साधु-शिष्य भी उन्हीं का अनुगमन कर विचरने लगे, भगवान जहाँ भी कहीं जाते, चार हजार श्रमण उन्हीं के अनुगामी होकर छायावत् अनुसरण करते। भगवान उन श्रमणों को किसी प्रकार का आदेश, निर्देश या संकेत नहीं करते थे। वे अखण्ड मौनवृत्ति धारण कर भूमण्डल पर अप्रतिबद्ध होकर विचरण करते।

---

१ चउ मुट्ठीहिं लोअं करेइ

—जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति सूत्र ३६, पृ० ८०-८१

२ (क) आवश्यकनिर्युक्ति गा० २४७
(ख) कल्पसूत्र १९५।५७
(ग) समवायांग १५
(घ) जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, अमोलक० ३६।८०-८१
(ङ) चतुःसहस्रगणना नृपाः प्राव्राजिषुस्तदा।
गुरोर्मतमजानाना स्वामिभक्त्यैव केवलम्॥
यदस्मै रुचितं भर्त्रे तदस्मभ्यं विशेषतः।
इति प्रसन्नदीक्षास्ते केवलं द्रव्यलिङ्गिनः॥

—महापुराण १७।२१२-२१३, पृ० ३९१

३ चउरो साहस्सीओ, लोयं काऊण अप्पणा चेव।
जं एस जहा काही तं तह अम्हेवि काहामो॥

—आवश्यकनिर्युक्ति गा० ३३७

भिक्षा के लिए परिभ्रमण

भगवान ऋषभदेव ने गृहस्थाश्रम में रहते हुए सामाजिक, राजनैतिक सभी प्रकार के कर्त्तव्यों का सम्यक् प्रकार से जनता-जनार्दन को परिबोध कराया था, अब किसी प्रकार की कोई असि, मषि, कृषि सम्बन्धी समस्या उनके सामने उपस्थित नहीं होती थी, वे पुनः शान्त, सुखी जीवन व्यतीत करने लगे। इतना विकास होते हुए भी वे श्रमण की चर्या से सर्वथा अनभिज्ञ थे, क्योंकि उनके सामने ऋषभदेव से पूर्व किसी ने श्रमण-वृत्ति स्वीकार ही नहीं की थी। ऋषभदेव के दीक्षित हो जाने पर उन्होंने सोचा कि बस अब ये राज्य से पृथक् रहकर आत्म-साधना करेंगे। इसके अतिरिक्त वे सोच भी क्या सकते थे ? अन्न की भिक्षा देना और लेना उनकी कल्पना से परे था।

भगवान श्री ऋषभदेव अम्लानचित्त से, अव्यथित मन से भिक्षा के लिए नगरों व ग्रामों में परिभ्रमण करते। आचार्य जिनसेन के अनुसार भगवान ने छह मास का अनशन तप धारण कर लिया था।[1] पर श्वेताम्बर साहित्य में ऐसा उल्लेख प्राप्त नहीं होता है, वहाँ बेले की तपस्या के बाद भिक्षा-भ्रमण का वर्णन मिलता है।

प्रभु घोर अभिग्रहों को धारण करके अनासक्त भाव से भिक्षा के लिए परिभ्रमण करते। भावुक मानव भगवान को निहारकर भक्ति-भावना से विभोर होकर अपनी रूपवती कन्याओं को, बहुमूल्य वस्त्रों को, अमूल्य आभूषणों को और गज, तुरङ्ग, रथ, सिंहासन आदि वस्तुओं को उपहार स्वरूप भगवान के समक्ष प्रस्तुत करते,[2] और ग्रहण करने की अभ्यर्थना करते। पर, भोजन, पानी को नगण्यतम वस्तु समझकर उसका दान कोई भी नहीं करता था। जब भगवान उन वस्तुओं को ग्रहण किये बिना ही लौट जाते तो नागरिक-जनों को अत्यन्त परिताप होता था वे समझ नहीं पा रहे थे कि आखिर राजा को किस वस्तु की आवश्यकता है ? वे उन्हें अभी तक अपने सिर-छत्र राजा के रूप में ही समझ रहे थे। कई बार लोग उन्हें

---

१ महापुराण १८।१-२

२ (क) आवश्यकनिर्युक्ति गा० ३४१
(ख) आवश्यकहारिभद्रीयावृत्ति, प० १४४
(ग) त्रिषष्टि० १।३।२५१-२५८
(घ) भागवत ५।५।३०।५६४

अभीप्सित वस्तु के लिए पूछते, परन्तु दृढ़प्रतिज्ञ प्रभु कुछ भी नहीं बताते। इस प्रकार कितना ही समय अन्न-पानी के अभाव में व्यतीत हो गया।

यहाँ पर सहज ही यह प्रश्न हो सकता है कि भगवान चार ज्ञान के धारक थे, फिर भिक्षा के लिए क्यों परिभ्रमण करते थे। उत्तर में निवेदन है क्षेत्र-स्पर्शना के कारण ही वे परिभ्रमण करते थे। प्राचीन ग्रन्थों में आचार्यों ने इसके अतिरिक्त कोई स्पष्टीकरण नहीं किया है।

दारुण कष्ट

श्रीमद्भागवतकार ने भगवान श्री ऋषभदेव को श्रमण बनने के पश्चात् अज्ञ व्यक्तियों ने जो दारुण कष्ट प्रदान किये उसका शब्द-चित्र उपस्थित किया है।[1] पर वसा वर्णन जैन साहित्य में नहीं है। जैन साहित्य के परिशीलन से यह भी ज्ञात होता है कि उस युग का मानव इतना क्रूर प्रकृति का नहीं था, जितना भागवतकार ने चित्रित किया है। भागवत का प्रस्तुत वर्णन श्रमण भगवान महावीर के अनार्य देशों में विहरण के समान है।[2]

विवेक के अभाव में

आहार-दान की विधि से जनता अनभिज्ञ थी और भगवान याचनापूर्वक कुछ भी ग्रहण नहीं करते थे अत: कितना ही काल उपवास में व्यतीत हो गया। चार सहस्र अनुयायी भूख और प्यास से व्याकुल होने लगे। यद्यपि बहुत समय तक वे प्रभु की तरह ही मर्यादा का पालन करते रहे, भगवान ने कुछ भी स्वीकार नहीं किया तो उन्होंने भी इसका यथार्थत: अनुसरण किया और उनकी तरह ही क्षुधा-विजेता बने रहने का प्रयत्न भी किया। परन्तु संयम व विवेक के अभाव में अब क्षुधा व पिपासा परीषह असह्य होता जा रहा था, गतानुगतिक प्रवृत्ति शिथिल हो गई। चिरकाल से जिस आशा की वे प्रतीक्षा कर रहे थे कि अब भगवान मौनव्रत त्यागकर पूर्ववत् हमारी सुध-बुध लेंगे, हमारी सुख-सुविधा का ध्यान रखेंगे वह आशा, निराशा में परिवर्तित हो गई। भगवान तो आत्मस्थ थे, वे अपने

---

१ भागवत ५।५।३०।५६४

२ तुलना कीजिये—आचारांग प्रथम श्रुत० अध्याय ६, उ० ३ से
देखिए—लेखक का भगवान महावीर : एक अनुशीलन ग्रन्थ—भगवान महावीर का साधक जीवन

अनुयायिओं के लिए कुछ भी नहीं बोले। अन्त में कच्छ, महाकच्छ आदि मिलकर परस्पर विचार विमर्श करने लगे—'कि भगवान तो भूख-प्यास के विजेता हैं और अखण्ड मौन-वृत्ति को धारण किये हुए हैं, पर हम लोगों में तो इतनी समता नहीं है कि इस प्रकार का दुष्कर व्रत ग्रहण कर भगवान के साथ विचरण करें। यदि पुनः भरत का आश्रय ग्रहण करते हैं, तो भय लगता है, कि वह दण्ड न दे दे। अतः हमारे लिये यही उचित है, कि हम मध्यम मार्ग को स्वीकार कर वन के अन्दर विचरण करें।' ऐसा विचारकर वे कच्छ, महाकच्छ आदि चार सहस्र साधु शासक व शासित से रहित होकर स्वमति अनुसार यथायोग्य क्रिया-काण्ड की आराधना-साधना करने वाले वल्कलधारी तापस आदि हो गये।[१] वस्तुतः विवेक के अभाव में साधक साधना से पथभ्रष्ट हो जाता है।

आचार्य विमलसूरि ने चार सहस्र मुनियों के श्रमण वेष परित्याग का अन्य ही कारण प्रतिपादित किया है। क्षुधा से पीड़ित वे श्रमण जब वृक्षों पर से फल लेने लगे तो आकाशवाणी हुई, कि—'श्रमण-वेष धारण कर इन्हें मत लो।' आकाशवाणी को सुनकर वे स्वमति अनुसार वल्कल, चीवर, कुश एवं पत्तों को वस्त्र के रूप में धारण कर फलाहारी, मूलाहारी आदि विभिन्न तापस हुए।[२]

नमि-विनमि के द्वारा राज्य-याचना

भगवान जब सर्व सावद्य कार्यों से परिनिवृत्त हुए निस्पृहवृत्ति से विचर रहे थे उस समय कच्छ व महाकच्छ के पुत्र नमि व विनमि, जो भगवान की दीक्षा से पूर्व कहीं दूर-देश में गये हुए थे; वे जब वापिस लौट कर आये तो उन्होंने अपने पिता को तापस के वेश में परिभ्रमण करते हुए

---

१ (क) सम्भूयाऽऽलोच्य सर्वेऽपि, गङ्गातीरवनानि ते।
मेजुर्बुभुजिरे स्वैरं कन्दमूलफलादय॥
प्रावर्तन्त ततः कालात् तापसा वनवासिनः।
जटाधराः कन्दफलाद्याहारा इह भूतले॥
—त्रिषष्टि० १।२।१२२-१२३

(ख) आवश्यकचूर्णि १६२

(ग) महापुराण १८।५५-५६, पृ० ४०२

(घ) आवश्यकनिर्युक्ति ३३६

२ पउमचरिय ३।१४२-१४३

देखा, तो अत्यन्त आश्चर्य हुआ। वे सोचने लगे, यह क्या हो गया ? हमारे पिता अनाथ कैसे हो गये ? एक दिन था, जब ये महीन व उत्तम वस्त्रों को धारण करते थे, आज वल्कलधारी क्यों ? एक दिन वह था, जबकि इनके शरीर पर अनेक प्रकार के सुगन्धित तेलों व अन्य द्रव्यों का उबटन होता था, और आज यह बड़ की शाखा के समान लम्बी-लम्बी जटाएँ ? कहाँ तो अश्व, हाथी की सवारी और कहाँ आज का यह पाद-विहार ?' इस प्रकार विचारों में डूबते-उतरते वे अपने पिता के पास आये और साश्चर्य अपनी जिज्ञासाएँ उनके समक्ष प्रस्तुत कीं।[1]

तब कच्छ, महाकच्छ ने ऋषभदेव के अपूर्व त्याग व स्वयं के प्रव्रजित होने की सारी घटना अथ से इति तक कह सुनायी। तब नमि-विनमि बोले— 'पिताजी ने सभी को राज्य दिया, तो हमें क्यों नहीं दिया ? हम भी अन्य भाइयों की तरह राज्य के अधिकारी हैं, अतः जाकर अपना अधिकार प्राप्त करें। यह कहकर वे दोनों जहाँ प्रभु ध्यानस्थ थे, वहाँ आये और कहने लगे—प्रभु ! आपने भरत आदि सभी को राज्य दिया है, तो हमें ही क्यों कोरा छोड़ दिया ? हमें भी राज्यांश दो। आप द्वारा प्रदत्त अल्प-वैभव भी हमारे लिए प्रसाद रूप होगा, हम उसे भी सहर्ष स्वीकार करेंगे।

परन्तु मौनव्रतधारी निःसंग प्रभु ने उनसे बोलना तो दूर, नेत्र खोल-कर देखा तक भी नहीं। यह स्थिति देखकर दोनों भ्राता विचार करने लगे "हमारे से प्रभु का कुछ अपराध हो गया लगता है अतः इनकी सेवा-भक्ति कर इन्हें संतुष्ट करें जिससे प्रसन्न हों, ये हमें कभी न कभी राज्य अवश्य देंगे। ऐसा सोचकर वे दोनों एकचित्त होकर प्रभु की भक्ति करने लगे और प्रभु जहाँ-जहाँ जाते, वहाँ-वहाँ उनके पृष्ठगामी होकर रहते।

एक दिन नागकुमारों का अधिपति धरणेन्द्र प्रभु को नमस्कार करने आया। दोनों ही कुमारों की अटूट-भक्ति देखकर उसने अतिप्रसन्न हो इसका कारण जानना चाहा। नमि-विनमि ने कहा—हम प्रभु के पास राज्य लेने आये हैं हमें पूर्ण विश्वास है, कि स्वामी-भक्ति हमारे मनोरथों को अवश्य पूर्ण करेगी।

धरणेन्द्र ने कहा—प्रभु तो अब स्वय निःसंग व निष्परिग्रही हैं, वे

---

1 त्रिषष्टि० १।२।१२७-१२९

तुम्हें कुछ नहीं देंगे । भौतिक वैभव की कामना हो, तो भरत के पास जाओ, वही तुम्हारे जीवन का कुछ प्रबन्ध करने में समर्थ है ।

धरणेन्द्र के ये वचन सुनकर नमि-विनमि बोले 'क्या आप हमें कल्प वृक्ष का आश्रय छुड़वाकर करीर के आश्रय में भेजना चाहते हैं ? अब अखिल विश्व के नरनाथ को छोड़कर हम कहीं नहीं जायेंगे, वे अकिंचन होते हुए भी हमें मनोभिप्सित वरदान तो देंगे ही ।'

नमि-विनमि के श्रद्धापूरित, हृदयस्पर्शी वचनों को सुनकर धरणेन्द्र का मन अत्यन्त आल्हादित हुआ । प्रसन्नवदन से उसने उनकी सच्ची भक्ति की मुक्त कंठ से सराहना की और कहा—तुम भी भगवान के सेवक हो, और मैं भी प्रभु का सेवक । अतः हमारा सम्बन्ध अति निकट का हो गया है । मैं तुम्हें विद्याधरों का ऐश्वर्य प्रदान करना चाहता हूँ, तुम उसे प्रभु-प्रदत्त समझकर स्वीकार करो । वैताढ्य पर्वत पर जाओ, वहाँ दोनों ओर नगर बसाकर सुखपूर्वक निष्कंटक राज्य का उपभोग करो । धरणेन्द्र ने उन दोनों को गौरी, प्रज्ञप्ति आदि अड़तालीस हजार[१] विद्याएँ भी सिखाईं, जो स्मरण-मात्र से अभीष्ट सिद्धि करने में समर्थ थीं ।

नमि विनमि ने प्रभु को प्रणाम किया और धरणेन्द्र के साथ अयोध्या आये । वहाँ भरत आदि समस्त पारिवारिक जनों से मिलकर वैताढ्य पर्वत की ओर चल पड़े ।

नमि ने धरणेन्द्र की सहायता से वैताढ्यगिरि के दक्षिण की तरफ ५० नगर बसाए ।[२]

विनमि ने वैताढ्यगिरि के उत्तर की ओर साठ नगर बसाए ।[३]

विद्या-दान के साथ-साथ धरणेन्द्र ने कुछ नियम भी प्रस्तुत किये—

(क) जो विद्याधर किसी पर-स्त्री के साथ बलात्कार करेगा उसकी विद्या नष्ट हो जाएगी ।

(ख) जो विद्याधर अहं के आवेग में जिनेश्वर, चरम शरीरी व ध्यानस्थ

---

१ इत्युक्त्वा गौरी-प्रज्ञप्ति-प्रमुखाः पाठसिद्धिदा. ।
सोऽष्टचत्वारिंशत् सहस्राणि विद्यास्तयोर्ददौ ॥

—पद्मानन्द महाकाव्यम् १३।१३२

२ देखिये परिशिष्ट पृ० ३७

३ देखिये परिशिष्ट पृ० ३८

मुनि का अपमान करेगा या अपना विमान उनके ऊपर से लेकर जायेगा उसकी विद्या हस्त-स्थित जल कणों के समान नष्ट प्रायः हो जाएगी।

(ग) कोई भी विद्याधर किसी पति-पत्नी की हिंसा नहीं करे।[1]

अपनी-अपनी विद्याओं के नाम से विद्याधरों की सोलह जातियां हुईं।[2] इनमें से आठ जातियों के विद्याधर नमि के राज्य में रहे और आठ जातियों के विद्याधर विनमि के राज्य में।

इस प्रकार अक्षय कोष के स्वामी वे दोनों विद्याधर त्रय पुरुषार्थों से युक्त होकर राज्य का परिपालन करने लगे।[3] और तभी से विद्याधरों की परम्परा का प्रारम्भ हुआ।

विशिष्ट लाभ

भगवान ऋषभदेव को प्रव्रजित हुए एक वर्ष पूर्ण होने जा रहा था, अन्न व पानी के अभाव में उनका शरीर कृश हो गया, रक्त सूख गया, मांस-पेशियाँ शिथिल हो गईं, तो भी आत्म-बल पराजित नहीं हुआ, उनकी साधना का वेग अनवरत बढ़ता जा रहा था; बहली और अडंब (? अंबड़) आदि ग्रामानुग्राम विहार करते हुए भगवान गजपुर (हस्तिनापुर) नगर में पधारे। उसी रात्रि को अर्द्धनिद्रित अवस्था में कुरुजनपदीय गजपुर के अधिपति बाहुबली के पौत्र एवं सोमप्रभ राजा के पुत्र श्रेयांस ने स्वप्न देखा कि सुमेरु पर्वत श्यामवर्ण का हो गया है। उसे मैंने अमृत-कलश से अभिषिक्त कर पुनः चमकाया।[4] उसी रात्रि को नगरश्रेष्ठी सुबुद्धि ने स्वप्न देखा, कि सूर्य की हजार किरणें स्व-स्थान से चलित हो रहीं थीं, कि श्रेयांस ने उन रश्मियों को पुनः सूर्य में संस्थापित कर दिया। राजा सोमप्रभ ने भी उसी दिन की पश्चिम रात्रि में स्वप्न देखा कि एक महान् पुरुष

---

१ (क) त्रिषष्टि० पर्व १।३।२०६-२१८
(ख) पद्मानन्द महाकाव्य १३।१६०-१६३

२ देखिए परिशिष्ट पृ० ३३

३ (क) त्रिषष्टि० १।३
(ख) आवश्यकचूर्णि प्र० भा०, पृ० १६१-१६२
(ग) चउप्पन्न महापुरुषचरिय

४ (क) आवश्यकचूर्णि : जिनसेन, पृ० १६२-१६३
(ख) आवश्यकनिर्युक्ति मलयगिरि २१७
(ग) त्रिषष्टि० १।३।२४४-२४५

शत्रुओं से युद्ध कर रहा है, श्रेयांस ने उसे सहायता प्रदान की, जिससे शत्रु का बल नष्ट हो गया।[1] प्रातः होने पर सभी स्वप्न के सम्बन्ध में चिन्तन-मनन करने लगे। चिन्तन का नवनीत निकला कि अवश्य ही श्रेयांस को विशिष्ट लाभ होने वाला है।[2]

जिनसेनाचार्य ने श्रेयांस के सात स्वप्नों का उल्लेख किया है—

(१) सुवर्णमय विशाल सुमेरु पर्वत (२) शाखाओं के अग्रभाग पर लटकते हुए आभूषणों से युक्त कल्पवृक्ष (३) भयानक सिंह (४) वृषभ (५) सूर्य, चन्द्र (६) समुद्र, और (७) अष्टमंगलद्रव्य के धारक व्यन्तर देवों की मूर्तियाँ।

राजा ने उक्त स्वप्नों का फलादेश अपने पुरोहित सोमप्रभा से पूछा। पुरोहित ने फल प्रतिपादित करते हुए बताया कि उन्नत सुमेरु पर्वत पर जिसका जन्माभिषेक हुआ वह देव आज यहाँ आयेगा। अन्य स्वप्न भी ऐश्वर्य व अभ्युदय के सूचक हैं।[3]

अक्षय तृतीया

प्रातःकाल के समय श्रेयांस अपने आवास में बैठा स्वप्न-विषयक विशेष चिन्तन-मनन कर रहा था, उसे अत्यन्त प्रसन्नता की अनुभूति हो रही थी, कि उक्त तीनों स्वप्नों की आधारशिला मैं हूँ, मेरे हाथ से कोई महान् कार्य सम्पन्न होने वाला है। इतनी सी देर में उसने दूर से आते हुए भगवान ऋषभदेव को निहारा, वह भक्ति-भावना से ओत-प्रोत हो गया। भगवान को देखकर वह विशिष्ट ऊहा-पोह करने लगा, तो जाति-स्मरण

---

१ (क) आवश्यकहारिभद्रीयावृत्ति, पृ० १४५।१
(ख) आवश्यकमलयगिरि, पृ० २१७-२१८
(ग) त्रिषष्टि० १।३।२४६-२४७
नोट—आवश्यकचूर्णि में जो स्वप्न नगरश्रेष्ठी का दिया है वह आवश्यक हारिभद्रीयावृत्ति, आवश्यकमलयगिरिवृत्ति और त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र में राजा सोमप्रभ का दिया है और सोमप्रभ का स्वप्न नगरश्रेष्ठी का दिया है। —लेखक
(घ) आवश्यकचूर्णि १३३

२ कुमारस्स महतो कोऽवि लाभो भविस्सइ त्ति
—आवश्यकमलयगिरिवृत्ति २१८।१

३ आदिपुराण : जिनसेन, २०।३४-३७

ज्ञान उद्भूत हुआ। उसके आलोक में उसे पूर्वजन्म की स्मृति हो आई।[1] भगवान ऋषभदेव के साथ पूर्वभव के सम्बन्धों को उसने विशेष रूप से जाना, और यह भी अनुभव किया कि भगवान एक वर्ष से निराहार हैं और एक स्थान से दूसरे स्थान पर विचर रहे हैं, अभी तक कोई भी यथाकल्पनीय वस्तु उन्हें भिक्षा में नहीं मिल सकी और भगवान याचना द्वारा कुछ ग्रहण नहीं करते, ऐसा सोच वह अपने आवास से नीचे उतरा। प्रभु को वन्दन किया और प्रेम-पूरित करों से ताजा आये हुए इक्षु-रस के कलशों को ग्रहण कर भगवान के कर-कमलों में रस प्रदान किया[2] भगवान अछिद्र-पाणि थे अतः रस की एक भी बूंद नीचे न गिरने पाई। भगवान ने वर्षी तप का पारणा किया। 'अहोदानं, अहोदानं' की घोषणा से गगन-मण्डल परिपूरित हो गया। पञ्चविध सुवृष्टि हुई। सर्वत्र वातावरण स्वच्छ, रम्य और सुखद प्रतीत होने लगा।

इस प्रकार एक संवत्सर के पश्चात् भिक्षा प्राप्त हुई।[3] और सर्व-प्रथम इक्षुरस का पान करने के कारण वे 'काश्यप' के नाम से भी विश्रुत हुए।[4]

आचार्य जिनसेन के शब्दों में काश्य 'तेज' को कहते हैं। भगवान श्री ऋषभदेव उस तेज के रक्षक थे अतः काश्यप कहलाये।[5]

---

१ (क) आवश्यकमलयगिरिवृत्ति २१८
  (ख) महापुराण : जिनसेन ७८।२०।४५२

२ (क) गयपुर सेज्जंस खोयरसदाण वसुहार पीढ गुरुपूया।

—आवश्यकनिर्युक्ति गा० ३४५

  (ख) समवायांग
  (ग) त्रिषष्टि० १।३।२६१-२६५
  (घ) महापुराण जिन० १००।२०।४५४

३ एक वर्ष तक भगवान को आहार-पानी का योग प्राप्त न होने का कारण पूर्वभव में प्रदत्त अन्तराय माना है।

४ (क) दशवैकालिक—अगस्त्यसिंहचूर्णि
  (ख) दशवैकालिक—जिनदासचूर्णि, पृ० १३२
  (ग) धनञ्जय नाममाला ११४ पृ० ५७

५ काश्यमित्युच्यते तेजः काश्यपस्तस्य पालनात्।

—महापुराण २६६।१६।३७०

प्रस्तुत अवसर्पिणी काल में सर्वप्रथम दान श्रेयांस ने दिया,[१] वह दिन वैशाख शुक्ला तृतीया का था। इक्षुरस का दान देने से वह तृतीया 'इक्षु तृतीया' या 'अक्षय तृतीया' पर्व के रूप में प्रसिद्ध हुई।[२] दान से वह तिथि भी अक्षय तिथि बन गई।

---

१ एएसि ण चउव्वीसाए तित्थगराण चउव्वीस पढमभिक्खादायारो होत्था तं जहा—सिज्जंस······।

—समवायांग

२ (क) राधशुक्लतृतीयायां दानमासीत् तदक्षयम्।
पर्वाक्षयतृतीयेति, ततोऽद्यापि प्रवर्तते॥
श्रेयांसोपज्ञमवनौ दानधर्मः प्रवृत्तवान्।
स्वाम्युपज्ञमिवाऽशेष व्यवहार नयक्रमः॥

—त्रिषष्टि० १।३।३०१-३०२

(ख) कल्पलता सम०, पृ० २०६।१

(ग) कल्पद्रुमकलिका, पृ० १४६

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश में श्रेयांस के गणधर पद प्राप्ति का उल्लेख है।

—लेखक

चतुर्थ खण्ड

तीर्थंकर जीवन

तीर्थंकर जीवन

तीर्थंकर जीवन

अरिहन्त के पद पर

एक हजार वर्ष तक श्री ऋषभदेव शरीर से ममत्व-रहित होकर, वासनाओं का परित्याग कर, आत्म-आराधना, संयम-आराधना और मनो-मंथन करते रहे। उनका विहार-स्थल अधिकांशतः गिरि-कन्दराएँ, शून्य-आवास व एकान्त-शान्त नीरव प्रदेश रहा। वर्षावास के अतिरिक्त अनवरत विहरणशील उनका जीवन था, कहीं पर भी वे अधिक नहीं ठहरते थे। सतत साधना में संलग्न रहकर, देह की विद्यमानता में ही देहातीत अवस्था उनकी सहज साधना बन चुकी थी।

अन्त में क्रमशः विहार करते हुए भगवान अयोध्या महानगरी के पुरिमताल नामक उपनगर में पधारे। वहाँ पर नन्दनवन सदृश रमणीय शकटमुख उद्यान में वटवृक्ष के नीचे, अष्टम तप की साधना करते हुए ध्यान-मुद्रा में अवस्थित थे। फाल्गुन कृष्णा एकादशी का दिवस था, पूर्वाह्न का समय था, आत्म-मंथन चरम सीमा पर पहुँचा। आत्मा पर से घनघाति कर्मों का आवरण दूर हुआ। उत्तराषाढ़ा नक्षत्र के योग में, प्राची दिशा में उदित सूर्यवत् भगवान को केवलज्ञान और केवलदर्शन का अपूर्व आलोक प्राप्त हुआ।[1] देव-देवेन्द्रों ने केवलज्ञान का महोत्सव किया। भगवान भाव अरि-हन्त बन बारह गुणों से युक्त हुए।[2]

जैनागमों में जिसे केवलज्ञान कहा है उसे ही बौद्ध ग्रन्थों में प्रज्ञा कहा है, और सांख्य-योग में विवेक-ख्याति कहा है।[3]

---

१ (क) कल्पसूत्र १९६, पृ० ५८ पुण्य०
(ख) जम्बूद्वीप० ४०-४१।८४ अमो०
(ग) आवश्यकनिर्युक्ति ३३८-३४०
(घ) त्रिषष्टि० १।३।३९६-३९७
(ङ) समवायांग १५७, गा० ३३-५
(च) लोकप्रकाश ३२।५४७
(छ) महापुराण : जिनसेन, २०।२६८।४७२

२ देखिये परिशिष्ट

३ विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः। —योगसूत्र २।२६

भगवान को केवलज्ञान की उपलब्धि वटवृक्ष के नीचे हुई थी, अतः वट-वृक्ष आज भी आदर की दृष्टि से देखा जाता है।

माता मरुदेवी की चिन्ता

भगवान ऋषभदेव सर्व सम्बन्धों का परित्याग कर आत्मार्थी योगी बन चुके थे। वे निरंजन, निःसंग और निर्लेप दशा में अवस्थित थे, परन्तु महामाता मरुदेवी इन सबसे अनभिज्ञ थीं। वह अनेकों बार अपने लाड़ले पुत्र को याद कर अश्रु-धारा बहाया करती थी और कभी-कभी अपने पौत्र भरत को भी अनुचित व कठोर शब्दों में तिरस्कृत कर देती थी। ऋषभदेव की पूर्व स्थिति के साथ वर्तमान स्थिति की तुलना कर वह व्यथित हो उठती थी, वह सोचा करती थी, 'हाय! मेरा लाड़ला बेटा जंगलों में कितने दुःख सहता होगा? कभी वह दिन था जब उनके ऊपर देवांगनाएँ चन्द्रमा की चाँदनी के समान उज्ज्वल, निर्मल छत्र रखती थी, अब वह दंश-मशक आदि की पीड़ाएँ सहन करता होगा। कभी वह भी स्थिति थी, जब मैं सैंकड़ों मनुहारों से उसे स्वर्णथाल में स्वयं भोजन कराती थी, अब वह क्षुधा और पिपासा से छटपटाता हुआ न मालुम कहाँ घूमता होगा?' उसके वन-विहार की कल्पना मात्र से माता के रोमाञ्च खड़े हो जाते थे। उसे लगता था भरत को अपने पिता का और मेरा तनिक भी ख्याल नहीं रहा, वह राज्य का अधिकारी बन उसी में आसक्त हो गया है, पर मैं तो तारे गिन-गिनकर रात व्यतीत करती हूँ, उसकी आगमन की आशा में मैं वृद्ध हो गई, काले केश सफेद हो गये, रो-रोकर आँखों में जाले पड़ गये, लेकिन वह भी ऐसा निष्ठुर निकला कि अपना कुछ समाचार तक नहीं दिया, मेरी सुध-बुध भी नहीं ली।

महामाता मरुदेवी ऐसा सोच-सोचकर व्यथित हो ही रही थी, कि भरत, नमस्कार करने के लिए माता के पास पहुँचे। भरत को देखते ही मरुदेवी ने ललकार कर कहा—'भरत! तू राज्य के नशे में चूर हुआ किसी अन्य का ध्यान भी नहीं करता। तूने कभी खबर तक नहीं ली कि मेरे पिता क्या खाते होंगे? उनके रहने की क्या व्यवस्था होगी? वे कहाँ सोते होंगे? मैं रो-रोकर रातें काट रही हूँ, पर इस वृद्धा की बातों को कौन सुने?' महामाता भरत को फटकार रही थीं और अधिकाधिक अश्रु उनकी आँखों से प्रवाहित हो रहे थे, उनका समूचा शरीर काँप रहा था, हृदय की धड़कन बढ़ती जा रही थी। ऐसा प्रतिभासित हो रहा था मानों उनके ऊपर किसी

ने वज्रापात कर दिया हो। माता की पुत्र-विरह व्याकुलता से भरत का दिल भी रो पड़ा, वह बोला—महामाता! मेरा अपराध क्षम्य हो। पर, मेरे हृदय का चित्र जैसा तुमने चित्रित किया है, वैसा रंच मात्र भी नहीं है। मैं समय-समय पिता की कुशल-क्षेम पुछवाता रहता हूँ। मेरा तन इस नगरी में भले हो, पर मन पिता के चरणों में पड़ा है। अभी भी चारों दिशाओं में सुभट भिजवाये हुए हैं। वे पिताश्री का कुछ सन्देश लाते ही होंगे।[1] ज्यों ही सन्देश आयेगा मैं आपश्री के चरणों में शीघ्र ही निवेदन करूंगा। मुझे ऐसा लगता है कि पिताश्री का शुभ समाचार शीघ्र ही आयेगा।

सम्राट् भरत का विवेक

सम्राट् भरत महामाता के हृदयद्रावक वाक्बाणों से संतप्त हुए उन्मन से खेद और विषाद वदन के साथ नीचे उतरे और सीधे सभा-भवन की ओर कदम बढ़ाये। सभा-भवन में पहुँचकर वे सुभटों के सन्देश की राह देख ही रहे थे, कि तभी एक साथ 'यमक' और 'शमक' नाम के दो दूतों ने प्रवेश किया। वे दोनों ही आल्हादित वदन से अपने स्वामी को शुभ समाचार देने आये थे। प्रथम यमक ने कहा—महाराज! भगवान को हजार वर्ष की निरन्तर साधना के पश्चात् केवलज्ञान की उपलब्धि हुई है, अभी वे पुरिमताल नगर के बाहर शकटानन उद्यान में विराजमान हैं।

तभी शमक ने अपना हर्ष-पूरित संवाद सुनाते हुए कहा—स्वामिन! आयुधशाला में चक्ररत्न उत्पन्न हुआ है, वह आपके दिग्विजय का सूचक है आप चलकर उसकी पूजा करें।[2]

आचार्य श्री जिनसेन ने उपर्युक्त दो सूचनाओं के अतिरिक्त तृतीय, पुत्र की सूचना का भी उल्लेख किया है।[3]

ये सारी सूचनाएँ एक साथ मिलने से भरत एक क्षण असमंजस में

---

१ त्रिषष्टि० १।३।४८८-५१०

२ (क) आवश्यकनिर्युक्ति ३४२
(ख) आवश्यकचूर्णि : जिनदास १८१
(ग) त्रिषष्टि० १।३।५११-५१३
(घ) चउप्पन्नमहापुरिसचरियं

३ श्रीमान् भरतराजर्षिः बुबुधे युगपत् त्रयम्।
गुरोः कैवल्यसंभूतिं सूतिञ्च सुतचक्रयोः॥ —महापुराण २४।२।५७३

पड़ गये।[1] क्या प्रथम चक्ररत्न की अर्चना करनी चाहिए या पुत्रोत्सव करना चाहिये अथवा प्रभु की उपासना करनी चाहिये? द्वितीय क्षण उन्होंने चिन्तन की चाँदनी में सोचा—इनमें से भगवान को केवलज्ञान उत्पन्न होना धर्म का फल है, पुत्र होना काम का फल है, और देदीप्यमान चक्ररत्न का उत्पन्न होना अर्थ का फल है।[2] एतदर्थ मुझे प्रथम चक्ररत्न या पुत्ररत्न की नहीं, अपितु भगवान की पर्युपासना करनी चाहिए। क्योंकि वह सभी कल्याणों का मुख्य स्रोत हैं, महान् से महान् फल देने वाला है।[3]

चक्ररत्न या पुत्ररत्न तो इस लोक के जीवन को ही सुख प्रदान करने वाले हैं, किन्तु इस लोक और परलोक दोनों में ही जीवन को सुखी बनाने वाला भगवान का दर्शन ही है।[4] अतः मुझे सर्वप्रथम भगवान श्री ऋषभदेव के दर्शन व चरण-स्पर्श करना चाहिए।[5]

माँ मरुदेवी की मुक्ति

सम्राट् भरत भगवान के दर्शन हेतु सपरिजन प्रस्थित हुए। माँ मरुदेवी भी, जो अपने लाड़ले लाल के दर्शन-हेतु चिरकाल से छटपटा रही थी, प्यारे पुत्र के वियोग से व्यथित थी, उसके दारुण कष्ट की कल्पना करके वह कलप रही थी, प्रतिपल-प्रतिक्षण लाड़ले लाल की स्मृति से उसके नेत्रों में आंसू बह रहे थे जब उसने सुना कि उसका प्यारा लाल

---

१ (क) उत्पन्नकेवलस्तात, इतश्चक्रमितोऽभवत् ।
आदौ करोमि कस्याऽर्चामिति दध्यौ क्षणं नृप; ॥

—त्रिषष्टि० १।३।५१४

(ख) महापुराण २४।२।५७३

२ (ख) तत्र धर्मफल तीर्थं, पुत्र: स्यात् कामजं फलम् ।
अर्थानुबन्धिनोऽर्थस्य फलञ्चक्रं प्रभास्वरम् ॥

—महापुराण २४।६।५७३

(ख) क्व विश्वाभयदस्तातः ? क्व चक्रं प्राणिघातकम् ।
विमृश्येति स्वामिपूजाहेतोः स्वानादिदेश सः ॥

—त्रिषष्टि० १।३।५१५

३ कार्येषु प्राग्विधेय तद्धर्म्यं श्रेयोनुबन्धि यत् ।
महाफलञ्च तद्देवसेवा प्राथमकल्पिकी ॥

—महापुराण जिन० २४।८।५७३

४ आवश्यकनिर्युक्ति ३४३

५ निश्चिचायेति राजेन्द्रो गुरुपूजनमादितः । —महापुराण २४।९।५७३

विनीता के उद्यान में आया है, तो वह भी भरत के साथ हस्ती पर आरूढ़ होकर चल पड़ी। पुत्र-प्रेम से उसकी आँखें छलछला आई। भरत के द्वारा तीर्थंकरों की दिव्य-विभूति का शब्द-चित्र प्रस्तुत करने पर भी उसे सन्तोष नहीं हो रहा था।[१] शनैः-शनैः वे समवसरण के सन्निकट पहुँचीं, तो महामाता के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा—अरे ! मेरे लाल की इतनी दिव्य-विभूति ? मैं तो कल्पना कर रही थी, कि वह अत्यन्त दुःखी होगा। जाते ही मैं उससे उसके सुख-दुःख की बातें करूँगी। मेरे पहुँचने पर वह मेरा स्वागत करेगा, मेरे चरण-स्पर्श करेगा ? पर, यह तो मेरी ओर पलक उठाकर भी नहीं निहार रहा है। मेरी सारी कल्पनाएँ व्यर्थ थीं। यह तो कितना निःस्पृह है, मैं इसकी कल्पना भी नहीं कर पा रही, आखिर, यह सब क्यों और कैसे हो रहा है ? क्या इसके मन में माँ की ममता नहीं, पुत्र के प्रति स्नेह नहीं ? चिन्तन का प्रवाह बदला। आर्तध्यान से शुक्लध्यान में लीन हुई। ध्यान का उत्कर्ष बढ़ा, मोह का बन्धन सर्वांशतः टूटा। वह ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय को नष्ट कर केवलज्ञान, केवलदर्शन की धारिका बन गई, और उसी क्षण शेष कर्मों को भी नष्ट कर हस्ती पर आरूढ़ दशा में ही सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गईं।[२]

कितने ही आचार्यों का यह अभिमत है, कि भगवान के शब्द कर्ण-कुहरों में गिरने से उन्हें आत्म-ज्ञान हुआ और वे मुक्त हो गईं।[३]

प्रस्तुत अवसर्पिणी में सर्वप्रथम केवलज्ञान श्री ऋषभदेव को हुआ और मोक्ष मरुदेवी माता को।[४]

आचार्य जिनसेन ने 'स्त्रीमुक्ति' न मानने के कारण ही प्रस्तुत घटना का उल्लेख नहीं किया है।

---

१ (क) आवश्यकचूर्णि, पृ० १८१
(ख) आवश्यकमलयगिरिवृत्ति, पृ० २२९

२ (क) त्रिषष्टि० १।३।५२८-५३०
(ख) आवश्यकचूर्णि १८१

३ अन्ने भणंति—भगवओ धम्मकहासद्दं सुणेंतीए तक्कालं च तीए खुट्टमाउयं ततो सिद्धा। —आवश्यकमलयगिरिवृत्ति २२९

४ (क) आवश्यकनियुक्ति
(ख) आवश्यकचूर्णि १८१
(ग) त्रिषष्टि० १।३।५३५

धर्मचक्रवर्ती

जिन बनने के पश्चात् भगवान श्री ऋषभदेव स्वयं कृतकृत्य हो चुके थे। वे चाहते तो एकान्त शान्त स्थान में अपना शेष जीवन व्यतीत करते, पर वे महापुरुष थे। उन्होंने समस्त प्राणियों की रक्षा रूप दया के पवित्र उद्देश्य से प्रवचन किया।[१] एतदर्थ ही भगवान श्री महावीर ने अपने अन्तिम प्रवचन में श्री ऋषभदेव को धर्म का मुख कहा है।[२] और ब्रह्माण्ड पुराण में भी श्री ऋषभदेव को दस प्रकार के धर्म का प्रवर्तक माना है।[३] भागवतकार ने उनका अवतार ही मोक्षधर्म का उपदेश देने के लिए माना है।[४]

संघ-स्थापना

भारतीय साहित्य में फाल्गुन कृष्णा एकादशी का दिन स्वर्णाक्षरों में अङ्कित है, जिस दिन सर्वप्रथम भगवान का आध्यात्मिक प्रवचन भावुक भक्तों को श्रवण करने को प्राप्त हुआ[५] भगवान ने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की गम्भीर मीमांसा करते हुए मानव जीवन के लक्ष्य पर प्रकाश डालते हुए कहा—"जीवन का लक्ष्य भोग नहीं, त्याग है, राग नही, वैराग्य है, वासना नही साधना है।" इस प्रकार भगवान के अध्यात्म रस से छलछलाते हुए प्रवचन को श्रवण कर सम्राट् भरत के पाँच-सौ पुत्र व सात सौ पौत्रों ने तथा 'ब्राह्मी' आदि ने प्रव्रज्या ग्रहण की।[६]

---

१ 'सव्वजग जीवरक्खणदयट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं।'
—प्रश्नव्याकरण, संवरद्वार

२ 'धम्माणं कासवो मुहं।' —उत्तराध्ययन १६।२५

३ इह हि इक्ष्वाकुकुलवंशोद्भवेन नाभिसुतेन मरुदेव्या नन्दनेन महादेवेन ऋषभेण दश प्रकारो धर्मः स्वयमेव जीर्णः। —ब्रह्माण्डपुराण

४ तमाहुर्वासुदेवांशं मोक्षधर्मविवक्षया। —भागवत ११।२।१६।७११

५ (क) आवश्यकनिर्युक्ति ३४०
(ख) आवश्यकचूर्णि १=२

६ (क) सह मरुदेवीइ निग्गओ, कहणं पव्वज्ज उसभसेणस्स।
बभीमरीइदिक्खा सुन्दरिओरोह सुअदिक्खा॥
पच य पुत्तसयाइं भरहस्स य सत्त नत्तुअसयाइं।
सयराहं पव्वइआ तम्मि कुमारा समोसरणे॥
—आवश्यकनिर्युक्ति ३४४-३४५

(ख) महापुराण २४।१७५।५६१

सम्राट् भरत आदि ने श्रावक व्रत ग्रहण किये और सुन्दरी ने भी।[1]

महापुराणकार ने भरत के स्थान पर श्रावक का नाम 'श्रुतकीर्ति' दिया है और सुन्दरी के स्थान पर श्राविका का नाम 'प्रियव्रता' दिया है।[2] पर श्वेताम्बर ग्रन्थों में ये नाम कहीं पर भी नहीं आये हैं। इस प्रकार श्रमण, श्रमणी, श्रावक, श्राविका रूप चतुर्विध तीर्थ की संस्थापना कर वे सर्वप्रथम तीर्थंकर बने।[3]

श्रमणों के लिए प्रभु ने पाँच महाव्रतों[4] का और गृहस्थों के लिए द्वादश व्रतों[5] का निरूपण किया। मर्यादित विरति अणुव्रत है और पूर्ण विरति महाव्रत है।[6]

भगवान के प्रथम गणधर ऋषभसेन हुए।[7] श्वेताम्बर ग्रन्थों के अनु-

---

१ (क) 'भरहो सावओ, सुन्दरीए ण दिन्नं पव्वइउं, मम इत्थिरयण एसत्ति, सा साविगा, एम चउव्विहो समणसंघो।' —आवश्यकचूर्णि १८२

(ख) भरहो सावगो जाओ, सुन्दरी पव्वयन्ती भरहेण इत्थीरयणं भविस्सइत्ति निरुद्धा साविया जाया, एस चउव्विहो समणसंघो।' —आवश्यकमलयगिरि २२९

२ महापुराण जिनसेन २४।१७७-१७८।५९२

३ देखिये परिशिष्ट

४ (क) अहिंससच्चं च अतेणगं च, ततो य बम्भं च अपरिग्गहं च।
पडिवज्जिया पंच महव्वयाइ, चरिज्ज धम्म जिणदेसियं विदु॥ —उत्तराध्ययन २१।२२

(ख) आवश्यकनिर्युक्ति ३४०

५ (क) देखिये उपासकदशांग में द्वादश व्रतो का निरूपण

(ख) तत्त्वार्थ सूत्र अ० ७

६ तत्त्वार्थ भाष्य ७।२

७ (क) उसभस्स णं अरहओ कोसलियस्स उसभसेणपामोक्खाओ चउरासीइं समणसाहस्सीओ उक्कोसिया समणसंपया होत्था। —कल्पसूत्र १९७।५८ पुण्यविजयजी

(ख) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति

(ग) समवायांग १५७।३९-४१

(घ) त्रिषष्टि० १।३

(ङ) 'तेषु ऋषभसेनाद्याश्चतुरशीतिर्गणधराः स्थापिताः। —कल्पार्थबोधिनी १५१

(च) कल्पसुबोधिका विनय० ५१२

सार वे सम्राट् भरत के पुत्र थे।[१] और दिगम्बर ग्रन्थों के अनुसार वे भगवान श्री ऋषभदेव के पुत्र थे।[२] श्री समयसुन्दरजी ने कल्पलता[३] में और लक्ष्मीवल्लभजी ने कल्पद्रुमकलिका[४] में ऋषभसेन के स्थान पर पुण्डरीक नाम दिया है किन्तु जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, समवायांग, कल्पसूत्र, आवश्यक मलयगिरि वृत्ति, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र प्रभृति ग्रंथों में प्रथम गणधर का नाम पुण्डरीक नहीं, ऋषभसेन ही दिया है।[५] यहाँ तक कि समयसुन्दर जी व लक्ष्मीवल्लभ जी ने भी कल्पसूत्र के मूल में ऋषभसेन नाम ही रक्खा है। हमारी दृष्टि से भगवान श्री ऋषभदेव के चौरासी गणधर थे उनमें से एक गणधर का नाम पुण्डरीक था, जो भगवान के परिनिर्वाण के पश्चात् भी संघ का कुशल नेतृत्व करते रहे थे। सम्भव है, इसी कारण समयसुन्दरजी व लक्ष्मीवल्लभजी को भ्रम हो गया और उन्होंने टीकाओं में ऋषभसेन के स्थान पर पुण्डरीक नाम दिया, जो अनागमिक है।

उत्तराधिकारी

हाँ, तो प्रथम गणधर ऋषभसेन को ही भगवान ने आत्मविद्या का परिज्ञान कराया। वैदिक परम्परा से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है, कि आत्म-विद्या क्षत्रियों के अधीन रही है। पुराणों की दृष्टि से भी क्षत्रियों के पूर्वज भगवान श्री ऋषभदेव ही हैं।[६] वे मोक्षमार्ग के प्रवर्तक अवतार हैं।[७] जैन-साहित्य में जिस ऋषभसेन को ज्येष्ठ गणधर कहा है, सम्भव है, वैदिक साहित्य में उसे ही मानसपुत्र और ज्येष्ठपुत्र अथर्वन कहा हो। उन्हें ही

---

१ आवश्यकमलयगिरिवृत्ति २२६

२ महापुराण २४।१७१-१७२।५६१

३ तेषां मध्यात् पुण्डरीकादयः चतुरशीति गणधरा जाताः। —कल्पलता २०७

४ तत्र पुण्डरीकः प्रथमो गणभृत् स्थापित.। —कल्पद्रुमकलिका १५१

५ देखिये पृ० १७६ पर ७वाँ टिप्पण

६ (क) ऋषभं पार्थिव-श्रेष्ठं, सर्व-क्षत्रस्य पूर्वजम्।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे, वीरः पुत्र-शताग्रजः॥
—ब्रह्माण्ड पुराण, पूर्वार्ध अनुषंगपाद १४।६०

(ख) वायुमहापुराण, पूर्वार्ध ३३।५०

७ श्रीमद्भागवत ११।२।१६ गीता प्रे० गो० प्र० सं०

भगवान ने समस्त विद्याओं में प्रधान ब्रह्म-विद्या देकर लोक में अपना उत्तराधिकारी बनाया है।[1]

पुनः दीक्षाएं

भगवान के केवलज्ञान की तथा तीर्थ-प्रवर्तन की सूचना प्राप्त होते ही, भगवान के साथ जिन चार सहस्र व्यक्तियों ने प्रव्रज्या ग्रहण की थी और जो क्षुधा-पिपासा से पीड़ित होकर वल्कलधारी, वनविहारी तापस आदि हो गये थे, उन तापसों में से कच्छ, महाकच्छ को छोड़कर सभी भगवान के पास आते हैं, और धर्मदेशना सुनकर, विवेकपूर्वक आर्हती-प्रव्रज्या ग्रहण करते हैं।[2]

दिगम्बर ग्रन्थों[3] में भरत के नौ सौ तेवीस राजकुमारों के दीक्षित होने का उल्लेख है। वहाँ कहा गया है, कि "किसी समय चक्रवर्ती भरत के साथ विवर्द्धन कुमार आदि नौ सौ तेवीस राजकुमार भगवान के समवसरण में आये। वे अनादि मिथ्यादृष्टि थे। पूर्व में कभी भगवान के दर्शन भी नहीं किये थे, एवं अनादिकाल से स्थावरकाय में ही जन्म-मरण ग्रहण करते रहे। समवसरण की शोभा को निहार कर उन्होंने संयम ग्रहण कर लिया।

श्वेताम्बर ग्रन्थों में यह उल्लेख नहीं है। यह स्मरण रखना चाहिए कि प्रस्तुत घटना प्रथम समवसरण की नहीं पर अन्य किसी समवसरण की हो सकती है।

सम्राट भरत की दिग्विजय

कुलकर व्यवस्था के साथ ही साथ यौगलिक व्यवस्था मन्द-मन्दतर

---

१ (क) ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव, विश्वस्यकर्ता, भुवनस्य गोप्ता।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह॥
—मुण्डकोपनिषद् १।१

(ख) स्वर्ततिनयाय गातं विदद। —ऋग्वेद १।६९।४

२ (क) ते च कच्छमहाकच्छवर्जं, राजन्यतापसाः।
आगत्य स्वामिनः पार्श्वे, दीक्षामाददिरे मुदा॥
—त्रिषष्टि० १।३।६५४।८९

(ख) आवश्यकनिर्युक्ति मलयगिरिवृत्ति २३०।१

(ग) कल्पार्थ-बोधिनी १५१

३ हरिवंशपुराण १२।३।५

होती गई। भगवान ऋषभदेव के समय वह विच्छिन्न प्राय: हो गई। जब से कर्मभूमि का आविर्भाव हुआ ग्राम, नगर, पर्वत, कूआँ, बावड़ी तथा उद्यान आदि का निर्माण मनुष्य क्रमश: अपनी सुख-सुविधाओं के लिए कर चुका था। भरत के समय में और भी विकास हुआ। प्रत्येक राज्य पृथक्-पृथक् हो गये और प्रत्येक की सीमाएँ निर्धारित हो गई। अत: शत्रुओं से बचने के लिए अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण भी हो चुका था।

भरत उत्तराधिकारी होने से उसके पास अयोध्या का सबसे बड़ा राज्य था, अन्य अट्ठाणवें भाइयों के पास छोटे-छोटे राज्य थे। अत: भरत के मन का अहंभाव जागृत होना स्वाभाविक था, और जब से आयुधशाला में चक्ररत्न की उत्पत्ति हुई, तब से तो उसका अहं विशेष उद्दीप्त हो गया था। अखिल भारत पर एकच्छत्र शासन जमाने की कल्पना कर वे फूले नहीं समा रहे थे। भगवान ऋषभदेव का धर्मोपदेश श्रवण कर, समवसरण से उन्होंने सीधा ही आयुधशाला में प्रवेश किया, और चक्ररत्न को देखते ही नमस्कार किया, क्योंकि क्षत्रिय शस्त्र को देव-तुल्य समझते हैं।[१] तत्पश्चात् उसकी अनेकविध अर्चना की और अष्टदिवसीय महोत्सव मनाया।

भरत ने दिग्विजय के उद्देश्य से अपनी सेना सुसज्जित की और स्वयं रत्नकुंजर हस्ती पर आरूढ़ हो चक्र के पीछे पूर्व दिशा की ओर प्रयाण किया।[२] दण्डरत्न, सुषेण नामक सेनापति रत्न, पुरोहितरत्न, गृहपती रत्न, वर्धकीरत्न, चर्मरत्न, छत्ररत्न, खड्गरत्न, मणि और काकिणी ये दस रत्न कुछ सम्राट् भरत के साथ, कुछ आगे और कुछ पीछे चलते हुए ऐसे प्रतीत हो रहे थे मानों कल्लोलें करती हुई गंगानदी अति उमग व उत्साह से अपने लक्ष्य की ओर बढ़ रही है।

चक्र, प्रथम दिवस एक योजन चलकर रुक गया। सेना ने भी वहीं पड़ाव डाला। चक्र के प्रयाण के अनुमान से ही योजन का नाप चला, इससे पूर्व क्षेत्र का कोई मान प्रचलित न था।[३] इसके पश्चात् चक्रवर्ती भरत प्रतिदिन एक-एक योजन आगे प्रयाण करते हुए पूर्व दिशा में मागधतीर्थ के सम्राट् कुमार देव को, दक्षिण दिशा के सम्राट् वरदामपति को, पश्चिम

---

१ 'मन्यन्ते क्षत्रिया ह्यस्त्रं प्रत्यक्षमधिदैवतम्। —त्रिषष्टि० १।४।१

२ त्रिषष्टि० १।४।३१ ३ त्रिषष्टि० १।४।५६-५७

में प्रभासतीर्थ के सम्राट प्रभासदेव को तथा सिन्धुनदी के तटवर्ती अनेक राजा-महाराजाओं को अपने अनुचर बनाते हुए सम्पूर्ण दक्षिण भरतक्षेत्र पर विजय वैजयन्ती फहराकर विजयार्ध पर्वत की तमिस्रा गुफा को पारकर उन्मग्ना और निमग्ना नदियों को पुल के द्वारा लांघकर भरत विराट् सेना के साथ सिन्धु-सरिता के सन्निकट पहुँचे।

चक्रवर्ती की विशाल सेना से पशु-पक्षी और मानव भय से कांप उठे। उस प्रदेश का किरात राजा अपनी सेना लेकर युद्ध के मैदान में आ पहुँचा। किरात-राज और योद्धाओं में भयंकर युद्ध हुआ। किरात-राज के वीर योद्धाओं के भीषण प्रहारों से चक्रवर्ती भरत की सेना विचलित हो गई। अपनी सेना को हारते हुए देखकर चक्रवर्ती का सेनापति सुषेण युद्ध के मैदान में आया। घमासान युद्ध हुआ। किरातों की सेना के पैर उखड़ गये और उनके सैनिक इधर-उधर भागने लगे। किरात-राज चिन्तित हो उठा। उसने मन्त्रियों से परामर्श किया। मन्त्रियों ने कहा—राजन्! वैताढ्यगिरि पर्वत की गुफा को लांघकर आने वाला यह राजा साधारण नहीं है। यह विशिष्ट दिव्य शक्ति प्राप्त व्यक्ति है अतः ऐसे महान् शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिए आपको देवताओं की सहायता लेनी चाहिए। बिना उनकी सहायता के इस शत्रु को जीतना सम्भव नहीं है, अतः इस विकट वेला में आप अपने कुल देवता मेघमुख नागकुमार की आराधना करें। उसकी सहायता से ही आप इस आपत्ति से मुक्त हो सकते हैं।

किरात-राज को मन्त्रियों का यह परामर्श उचित लगा। वह उसी समय महानदी सिन्धु के किनारे पहुँचा और आसन दृढ़ करके बैठ गया। कुलदेवता मेघमुख नागकुमार का ध्यान करके अष्टम तप किया। अष्टम तप साधना के प्रभाव से नागकुमार का आसन प्रकम्पित हुआ और उसने प्रकट होकर पूछा—बताओ तुम्हारे अन्तर्मानस में क्या इच्छा है? उसने करबद्ध प्रार्थना की—"आप मेरे कुलदेवता हैं, आप प्रसन्न हैं तो कृपया आप यह कीजिए कि जो शत्रु चढ़ आया है आप ऐसा उपाय करें जिससे वह पुनः चला जाय।"

नागकुमार ने कहा—हे किरातराज! यह भरत नाम का चक्रवर्ती सम्राट है। यह देव, दानव और मानवों के द्वारा अजेय है। मंत्र-तंत्र, अस्त्र-शस्त्र, विद्या किसी का भी इस पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। किन्तु तुम्हारे अत्याग्रह के कारण मैं उपद्रव अवश्य करूंगा।

यह कहकर मेघमुख नागकुमार देव अदृश्य हो गया। देखते ही देखते आकाश में प्रलयकाल के सदृश काले-काले मेघ उमड़-घुमड़कर छाने लगे। सूर्य छिप गया। तेज और मूसलाधार वर्षा प्रारम्भ हो गई। बिजलियाँ कड़क के साथ चमकने लगीं। चक्रवर्ती की विशाल सेना उस पानी से घिर गई। चक्रवर्ती भरत ने चर्मरत्न को स्पर्श किया। स्पर्श पाते ही वह चर्म रत्न बारह योजन के क्षेत्र में फैल गया, जिस पर सम्पूर्ण सेना आ गई। चक्रवर्ती के आदेश से उतने ही विस्तार में छत्ररत्न फैल गया। मणि-रत्न ने अन्धकार को नष्ट कर दिया और प्रकाश जगमगाने लगा। और गृहिरत्न के दिव्य प्रभाव से समस्त सेना को भोजन आदि सामग्री प्राप्त होने लगी।

वे मेघ निरन्तर सात दिन तक रात-दिन बरसते रहे। जब वर्षा में कोई कमी नहीं आई तब भरत चक्रवर्ती ने सोचा, यह कौन पापी है जो मेरे पर उपसर्ग कर रहा है।

चक्रवर्ती के अन्तरमानस के विचारों को जानकर जो चक्रवर्ती की सेना में रहने वाले देव थे उन्होंने नागकुमारों से जाकर कहा कि तुम यह क्या कर रहे हो? क्या तुम चक्रवर्ती सम्राट् के सामर्थ्य को नहीं जानते हो? चक्रवर्ती पर उपसर्ग करने का अर्थ है अपने आपको संकट में डालना।

देवों के तेज के सामने नागकुमार देव ठहर नहीं सके। वे वहाँ से भाग खड़े हुए। जल वृष्टि रुक गई। आकाश स्फटिक की तरह साफ हो गया। सूर्य की किरणें चमकने लगी। चक्रवर्ती की सेना निकलकर बाहर आई।

नागकुमार देव जब भग गये तब किरातराज भयभीत हो गया। अपनी रक्षा का कोई भी उपाय न देखकर वह बहुमूल्य उपहार लेकर भरत की सेवा मे उपस्थित हुआ और बोला—मैं आपके दिव्य तेज से अनभिज्ञ था। आप मेरे अपराधों को क्षमा करें और इस मेरे तुच्छ उपहार को ग्रहण करें।

भरत राजर्षि थे। उन्होंने कहा—किरातराज ! तुम्हें भयभीत बनने की आवश्यकता नहीं है। तुमने अपने देश व जाति की रक्षा के लिए जो कुछ भी किया है, वह उचित है। अब तुम मेरे अधीन रहकर निष्कंटक राज्य करो।[1]

---

१ (क) त्रिषष्टि० १।४ (ख) आदिपुराण, पर्व ३२

वहाँ से प्रस्थान करने के बाद सिन्धु के उत्तर निष्कुट पर विजय-वैजयन्ती फहराते हुए भरत, ऋषभकूट पर्वत पर आये, उस पर कांकिणी रत्न से पर्वत के पूर्व शिखर पर 'अवसर्पिणी काल के तृतीय आरे के अन्तिम भाग में, मैं भरत नामका प्रथम चक्रवर्ती हुआ हूँ," यों चंद्रबिम्ब की तरह अपना नाम अंकित कर दिया। किन्तु ऋषभकूट पर्वत पर उन्हें अपना नाम लिखने के लिए जगह नहीं मिली। वहाँ पर पूर्व के हजारों चक्रवर्तियों के नाम अंकित थे अत: एक नाम मिटाकर उन्होंने अपना नाम लिखा, पर वे इस कल्पना से ही सिहर उठे कि भविष्य में भी कोई चक्रवर्ती मेरे नाम को मिटाकर अपना नाम लिखेगा। उनका अभिमान वर्फ की डली की तरह गल गया।

यहाँ से पुन: अयोध्या की ओर लौटते हुए नमि-विनमि के राज्य की ओर भी प्रयाण किया। बारह वर्ष तक दोनों ओर घमासान युद्ध हुआ और अन्तत: नमि-विनमि को पराजित होकर भरत की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। नमि राजा ने महामूल्यवान रत्न उपहार स्वरूप प्रदान किये। और विनमि विद्याधर ने 'सुभद्रा' नामकी कन्या भेंट की। जो भरत चक्रवर्ती की 'स्त्रीरत्न' बनी।[1]

नमि-विनमि अपने पुत्रों को राज्य पर स्थापित कर भगवान ऋषभ देव के चरणों में प्रव्रजित हो गये।[2]

इधर भरत की सेना खण्डप्रपाता गुफा से होती हुई गंगा के पश्चिम तट पर आई। वहाँ भरत को नौ निधियाँ प्राप्त हुईं।[3]

इस प्रकार षट्खंड पृथ्वी पर विजय प्राप्त कर, अनेकविध अमूल्य उपहारों से अर्चित सम्राट् भरत साठ हजार वर्षों के बाद, चक्र के मार्ग का अनुसरण करते हुए पुन: अयोध्या लौटे। नागरिकों में अपूर्व उल्लास व प्रसन्नता छा गई। देव-देवेन्द्रों ने और सभी अधीन राजाओं ने मिलकर भरत का महाराज्याभिषेक किया, और अवसर्पिणी काल का प्रथम चक्रवर्ती घोषित किया। बारह वर्ष तक विजय-महोत्सव चलता रहा।[4]

---

१ त्रिषष्टि० १।४।५३४
२ त्रिषष्टि० १।४।५३६
३ देखिये परिशिष्ट ७ पृ० ४५
४ (क) त्रिषष्टि० १।४।१-७२७
(ख) हरिवंशपुराण सर्ग ११ श्लोक १ से ५६
(ग) आवश्यकचूर्णि १८३-२०६
(घ) चउप्पन महापुरिसचरियं ४४-४३

सम्राट् भरत की ऋद्धि

चक्रवर्ती के उत्तरोत्तर तीन सौ साठ रसोइया थे, जो प्रतिदिन मनोज्ञ भोजन बनाते थे। एक हजार चाँवलों का एक कवल होता था, तदनुसार बत्तीस कवल प्रमाण चक्रवर्ती का आहार था, सुभद्रा नामक स्त्री-रत्न का आहार एक कवल प्रमाण था। और एक कवल प्रमाण आहार अन्य समस्त लोगों की तृप्ति के लिये पर्याप्त था। भरत चक्रवर्ती के निन्यानवें सहस्र चित्रकार थे, बत्तीस सहस्र मुकुटबद्ध राजा थे, उतने ही देश थे। और देवाङ्गनाओं से भी श्रेष्ठ छियानवें सहस्र रानियाँ थीं। एक करोड़ हल थे, तीन करोड़ कामधेनु गायें थीं, वायुवत् वेगवान् अठारह करोड़ अश्व थे। उत्तम और बलिष्ठ चौरासी लक्ष हस्ती और इतने ही उत्तम रथ थे। अर्ककीर्ति और विवर्धन आदि पाँच सौ चरमशरीरी व आज्ञाकारी पुत्र थे। भोजन, भाजन, शय्या, सेना वाहन, आसन, निधि, रत्न, नगर और नाट्य ये दस प्रकार के भोग थे। सोलह सहस्र गणबद्ध देव थे। चौदहरत्न व नवनिधि के स्वामी होने पर भी वे भोगों से अलिप्त थे।[१]

सुन्दरी का संयम

भगवान श्री ऋषभ के प्रथम प्रवचन को श्रवण कर ही सुन्दरी संयम ग्रहण करना चाहती थी। उसने यह भव्य-भावना अभिव्यक्त भी की थी, किन्तु सम्राट् भरत के द्वारा आज्ञा प्राप्त न होने से वह श्राविका बनी।[२] परन्तु उसके अन्तर्मानस में वैराग्य का पयोधि उछालें मार रहा था, वह तन से गृहस्थाश्रम में थी, किन्तु उसका मन संयम में रम रहा था। षट्खंड पर विजय वैजयन्ती फहराकर और सम्पूर्ण भारत वर्ष को एक अखण्ड शासन प्रदान कर जब सम्राट् भरत दीर्घकाल के पश्चात् 'विनीता' लौटे तब सुन्दरी के कृश तनु को देखकर वे चकित रह गये।[३]

---

१ हरिवंशपुराण ११।१२४-१३२।

२ (क) आवश्यकमलयगिरिवृत्ति २२९।
(ख) त्रिषष्टि० १।३।६५१।
(ग) कल्पसुबोधिका टीका ५१२, साराभाई।
(घ) कल्पलता—समयसुन्दर पृ० २०७।
(ङ) कल्पद्रुमकलिका, पृ० १५१।

३ (क) आवश्यकचूर्णि, पृ०२०९।
(ख) आवश्यकमलयगिरिवृत्ति, पृ० २३१।१।
(ग) त्रिषष्टि० १।४।७३०-७३४।

अनुचरों को फटकारते हुए उन्होंने कहा—ज्ञात होता है, कि मेरे जाने के पश्चात् तुम लोगों ने सुन्दरी की कोई सुध-बुध नहीं ली है। क्या मेरे भोजनालय में भोजन की कमी है, क्या वैद्य और औषधियों का अभाव है।[1]

अनुचरों ने नम्र-निवेदन करते हुए कहा—नाथ ! न भोजन की कमी है और न चिकित्सकों का ही अभाव है, किन्तु जिस दिन से आपने सुन्दरी को संयम लेने का निषेध किया उसी दिन से ये निरन्तर आचाम्लव्रत कर रही हैं। हमारे द्वारा अनेक बार अभ्यर्थना करने पर भी ये प्रतिज्ञा से विचलित नहीं हुई हैं।[2]

सम्राट् भरत ने सुन्दरी से पूछा—सुन्दरी ! तुम संयम लेना चाहती हो या गृहस्थाश्रम में रहना चाहती हो ? सुन्दरी ने संयम की भावना अभिव्यक्त की। सम्राट् भरत की आज्ञा से सुन्दरी ने श्री ऋषभदेव की आज्ञानुवर्तिनी ब्राह्मी के पास दीक्षा ली।[3]

प्रस्तुत प्रसंग पर सहज ही ऋग्वेद के यमी सूक्त की स्मृति हो आती है। ऋग्वेद में यमी अपने सगे भाई यम को अपने साथ विवाह करने के लिये प्रार्थना करती है। जब भाई यम इस प्रस्ताव को अस्वीकृत कर देता है, वह किसी अन्य पुरुष को चुनने के लिए उससे कहता है, तो यमी चण्डी का रूप धारण कर भाई यम को नपुंसक तक कहकर उसका घोर तिरस्कार करती है। सुन्दरी के कथानक में इससे एकदम विपरीत बात है। भरत सुन्दरी के साथ विवाह करना चाहता है, तो सुन्दरी, भरत की मांग को पसन्द नहीं करती। भरत इस पर कुपित नहीं होता वरन् उन दोनों का आपस में सौमनस्य बढ़ता है। इस प्रकार ऋग्वेद के यमी-सूक्त

---

१ 'किं मम णत्थि ज एसा एरिसी रूवेणं जाता ? वेज्जा का नत्थि ?

—आवश्यकचूर्णि, पृ० २०९

२ किन्तु देवो यदाद्यगाद् दिग्जयाय तदाद्यसौ।
आचामाम्लानि कुरुते, प्राणत्राणाय केवलम् ॥
तथा यदेव देवेन, प्रव्रजन्ती न्यषिध्यत।
ततः प्रभृत्यसौ तस्थौ भावतः संयतैव हि ॥ —त्रिषष्टि० १।४।७४५-७४६

—आवश्यकचूर्णि, पृ० २०९

३ (क) आवश्यकचूर्णि, पृ० २०९।
(ख) आवश्यकमलयगिरिवृत्ति, पृ० २३१।१।

में दिये गये प्रसंग की अपेक्षा जैन-परम्परा में दिया गया प्रसंग विशेष सात्विक है।[1]

आचार्य जिनसेन के अभिमतानुसार सुन्दरी ने प्रथम प्रवचन को श्रवण कर ब्राह्मी के साथ ही दीक्षा ग्रहण की थी।[2]

आद्य परिव्राजक मरीचि

जैन-परम्परा की दृष्टि से तापस-परम्परा का आद्यनायक मरीचि था। मरीचि से त्रिदण्डी तापसों का प्रादुर्भाव हुआ, कालान्तर में वही परम्परा शनैः-शनैः आगे बढ़ती हुई तीन सौ त्रेसठ शाखा तक की संख्या में पहुँच गई।

मरीचि भरत का पुत्र था। भगवान ऋषभदेव का कैवल्य महोत्सव देखकर वह भी अपने पांच सौ भाइयों के साथ प्रव्रजित हो गया था,[3] तप-संयम की विशुद्ध आराधना-साधना करते हुए उसने एकादश अंगों का अध्ययन किया। एक बार वह भीष्म-ग्रीष्म के आतप से परिक्लान्त हो गया। सारा शरीर स्वेद से नहा गया। प्यास के मारे उसके प्राण निकलने को हो गये। पसीने से व मलिन परिधानों से शरीर में से दुर्गन्ध निकलने लगी। गर्मी आदि के परिषहों से पराभूत हुआ वह साधना के कठोर कंटकाकीर्ण महामार्ग से विचलित हो गया। उसके अन्तर्मानस में ये विचार-लहरियाँ तरंगित होने लगीं कि "मेरूपर्वत सदृश यह संयम का महान भार सहन करने में मैं एक मुहूर्त भर के लिए भी असमर्थ हूँ। तो क्या मुझे पुनः गृहस्थाश्रम स्वीकार करना चाहिए? नहीं, कदापि नहीं! मैं ऋषभदेव का पौत्र और चक्रवर्ती सम्राट् भरत का पुत्र होकर ऐसा हीन काम कभी नहीं करूँगा, पर महाव्रतों का पालन भी मेरे लिए अशक्य है, मैं संयम का परिपालन भी विशुद्ध रूप से नही कर सकता। दोनों ओर के कदम मेरे लिए एक विकट समस्या बन गई है, अब न मैं इधर का रहा और न उधर का। फिर मेरे लिए कौनसा मार्ग अपनाना श्रेयस्कर है?" इन्हीं विचारों में

१ दर्शन अने चिन्तन: भगवान ऋषभदेव अने तेमनो परिवार, पृ० २३६-२३७, प० सुखलाल जी।

२ सुन्दरी चात्रनिर्वेदा तां ब्राह्मीमन्वदीक्षित। —महापुराण २४।१७७।५९२

३ (क) तत्र भरतस्य मरीचिप्रमुखाः पञ्चशतपुत्राः।
सप्तशतपौत्राश्च प्रतिबुद्धाः दीक्षां जगृहुः॥ —कल्पलता, पृ० २०७

(ख) कल्पद्रुमकलिका, पृ० १५१

खोया मरीचि द्वितीय क्षण पुन: जागृत हुआ उसमें एक नई चेतना जागृत हो गई, उसे अपनी समस्या का सरल समाधान जो मिल गया था, उसका चेहरा चमक उठा—'मुझे नवीन वेषभूषा का निर्माण कर मध्यम मार्ग स्वीकार कर लेना चाहिये।'

श्रमण संस्कृति के श्रमण त्रिदण्ड मन, वचन, काय के अशुभ व्यापारों से रहित होते हैं, इन्द्रिय विजेता होते हैं, पर मैं तो त्रिदण्ड से युक्त हूँ, और अजितेन्द्रिय हूँ, अतः इसके प्रतीक रूप त्रिदण्ड को धारण करूँगा।

श्रमण द्रव्य और भाव से मुण्डित होते हैं, सर्वप्राणातिपात-विरमण महाव्रत के धारक होते हैं, पर मैं शिखासहित क्षुरमुण्डन करवाऊँगा और स्थूलप्राणातिपात का विरमण करूंगा।

श्रमण अकिञ्चन तथा शील की सौरभ से सुरभित होते हैं, पर मैं परिग्रहधारी रहूँगा और शील की सौरभ के अभाव में चन्दनादि की सुगन्धी से सुगन्धित रहूँगा।

श्रमण निर्मोह होते हैं, पर मैं मोह-ममता के मरुस्थल में घूम रहा हूँ, उसके प्रतीक रूप में छत्र धारण करूंगा। श्रमण नंगे पैर होते हैं पर मैं उपानद् रक्खूंगा।

श्रमण जो स्थविरकल्पी हैं वे श्वेतवस्त्र के धारक हैं और जिनकल्पी निर्वस्त्र होते हैं, पर मैं कषाय से कलुषित हूँ, अतः काषाय वस्त्र धारण करूँगा।

श्रमण पापभीरू और जीवों की घात करने वाले आरम्भादि से मुक्त होते हैं। वे सचित्त जल का प्रयोग नहीं करते हैं। पर मैं वैसा नहीं हूँ, अतः स्नान तथा पीने के लिए परिमित जल ग्रहण करूंगा।[1]

इस प्रकार उसने अपनी कल्पना से परिकल्पित परिव्राजक-परिधान का निर्माण किया, और भगवान के साथ ही ग्राम, नगर आदि में विचरने लगा। भगवान के श्रमणों से मरीचि की पृथक् वेश-भूषा को निहारकर जन-जन के अन्तर्मानस में कुतूहल उत्पन्न होता। लोग जिज्ञासु बनकर

---

१ (क) आवश्यकभाष्य ३६, ३७
(ख) आवश्यकनिर्युक्तिमलयगिरि ३५०-३५८ २३३।१
(ग) आवश्यकनिर्युक्ति गा० ३५२-३५८
(घ) त्रिषष्टि० १।६।१६-२२।१५०

उसके पास पहुँचते। मरीचि अपनी प्रकृष्ट प्रतिभा की तेजस्विता से प्रतिबोध देकर उन्हें भगवान के शिष्य बनाता।[१]

एक समय सम्राट् भरत ने भगवान् श्री ऋषभदेव के समक्ष जिज्ञासा प्रस्तुत की—प्रभो! क्या इस परिषद् में ऐसा कोई व्यक्ति है जो आपके सदृश ही भरतक्षेत्र में तीर्थङ्कर बनेगा।[२]

जिज्ञासा का समाधान करते हुए भगवान ने कहा—स्वाध्याय, ध्यान से आत्मा को ध्याता हुआ तुम्हारा पुत्र मरीचि परिव्राजक 'वीर' नामक अन्तिम तीर्थङ्कर बनेगा। उससे पूर्व वह पोतनपुर का अधिपति त्रिपृष्ठ वासुदेव होगा, तथा विदेहक्षेत्र की मूका नगरी में 'प्रियमित्र' नामक चक्रवर्ती होगा। इस प्रकार तीन विशिष्ट उपाधियों को वह अकेला ही प्राप्त करेगा।[३]

भगवान श्रीऋषभदेव की भविष्यवाणी को श्रवण कर सम्राट् भरत भगवान को वन्दन कर मरीचि परिव्राजक के पास पहुँचे और भगवान की भविष्यवाणी को सुनाते हुए उससे कहा—हे मरीचि परिव्राजक! तुम अन्तिम तीर्थङ्कर बनोगे, अतः मैं तुम्हारा अभिनन्दन करता हूँ।[४] तुम वासुदेव व चक्रवर्ती भी बनोगे।

यह सुनकर मरीचि के हृत्तंत्री के तार झनझना उठे—'मैं वासुदेव, चक्रवर्ती और तीर्थङ्कर बनूंगा।[५] मेरे पिता चक्रवर्ती हैं, मेरे पितामह तीर्थङ्कर हैं और मैं अकेला ही तीन पदवियों को धारण करूंगा! मेरा कुल कितना उत्तम है?[६]

---

१ धम्मकहाअक्खित्ते उवट्ठिए देइ भगवओ सीसे। —आवश्यकनिर्युक्ति ३६०

२ (क) 'भगव! किमेत्थ कोऽवि हु पाविस्सइ तित्थयरलाभं?

—महावीरचरियं, गुण० १२४।२।१८

(ख) आवश्यकमूलभाष्य ४४।२४३

(ग) आवश्यकनिर्युक्ति गा० ३६७

३ (क) आवश्यकनिर्युक्ति ४२२-४२७ पृ० २४४

(ख) महावीरचरियं १२६-१२८ पृ० १८।१

(ग) त्रिषष्टि० १।६।३७२-३७८ पृ० १६२

४ (क) आवश्यकनिर्युक्ति ४२८।२४४

(ख) महावीरचरियं १२६-१३६।१६

५ आवश्यक निर्युक्ति ४३२।२४५

६ (क) आवयकनिर्युक्ति ४३२।२४५

(ख) त्रिषष्टि० १।६।३८६-३८७

मरीचि और सांख्य

एक दिन मरीचि का स्वास्थ्य बिगड़ गया सेवा करने वाले के अभाव में मरीचि के मानस में ये विचार उद्‌बुद्ध हुए कि 'मैंने अनेकों को उपदेश देकर भगवान के शिष्य बनाये, पर आज मैं स्वय, सेवा करने वाले से वंचित हूँ। अब स्वस्थ होने पर मैं स्वयं अपना शिष्य बनाऊंगा' संयोग की बात थी, एक बार कपिल राजकुमार धर्म की जिज्ञासा से उसके पास आया। उसने आर्हती दीक्षा की प्रेरणा दी। कपिल ने प्रश्न किया "आप स्वयं आर्हतधर्म का पालन क्यों नहीं करते ?" उत्तर में मरीचि ने कहा— "मैं उसे पालन करने में समर्थ नहीं हूँ।" कपिल ने पुनः प्रश्न किया—'क्या आप जिस मार्ग का अनुसरण कर रहे हैं, उसमें धर्म नहीं है ?" इस प्रश्न ने मरीचि के मानस में तूफान पैदा कर दिया। उसने उत्सूत्र प्ररूपणा करते हुए कहा—'यहाँ पर भी वही है जो जिनधर्म में है।[1] इस मिथ्यात्वपूर्ण वचन से उसने संसार को बढ़ाया। कपिल को प्रव्रजित कर उसने अपना सहयोगी बनाया और उसे पच्चीस तत्त्वों का उपदेश देकर अलग मत की संस्थापना की। आगे चलकर कपिल का शिष्य आसुरी और आसुरी का शिष्य सांख्य बना। कपिल और सांख्य ने मरीचि द्वारा उपदिष्ट पच्चीस तत्त्वों की विशेष व्याख्या की जो एक स्वतन्त्र दर्शन के रूप में विश्रुत हुआ। व्याख्याकार होने से वह दर्शन कापिलदर्शन और सांख्यदर्शन के नाम से प्रसिद्ध हो गया।[2] आचार्य शीलाङ्क ने चउप्पनमहापुरिसचरियं में भगवान महावीर के पूर्वभवों का उल्लेख किया है—उसमें यह ध्वनित होता है कपिल का जीव ही त्रिपृष्ट वासुदेव के भव में उनका सारथी बना, जिसने सिंह को आश्वासन दिया था और वही महावीर के समय गणधर गौतम बने। आगमप्रभाकर पुण्यविजयजी महाराज का भी यह मन्तव्य था।[3]

दिगम्बराचार्य जिनसेन और आचार्य सकलकीर्ति के मन्तव्यानुसार जिन चार सहस्र राजाओं ने भगवान के साथ दीक्षा ग्रहण की थी, उनके

---

१ (क) मरीचिमाययौ भूयः स इत्यूचे च किं तव ?
योऽपि सोऽपि न धर्मोऽस्ति, निर्धर्मं किं व्रतं भवेत् ? —त्रिषष्टि० १।६।४८

(ख) आवश्यकनिर्युक्ति मलयगिरि वृत्ति २४७।१

(ग) महावीर चरियं गुण० प० २२

२ चउप्पन महापुरिसचरियं पृ० ९७-९९

३ गुरु गौतमस्वामी : लेखक—रतिलाल दीपचन्द देसाई पृ० १८३

साथ ही मरीचि ने भी दीक्षा ली थी।[1] और वह भी उन राजाओं के समान ही क्षुधा-पिपासा से व्याकुल होकर परिव्राजक हो गया था। मरीचि के अतिरिक्त सभी परिव्राजकों के आराध्यदेव श्री ऋषभदेव ही थे।[2] भगवान को केवलज्ञान होने पर मरीचि को छोड़कर अन्य सभी भ्रष्ट हुए साधक पुनः तत्त्वों का यथार्थ स्वरूप समझकर दीक्षित बने।[3]

जैन साहित्य की दृष्टि से मरीचि 'आदि परिव्राजक' था।[4] कपिल जैसे शिष्य को पाकर उसका उत्साह बढ़ गया था अतः उसने तथा उसके शिष्य कपिल ने योगशास्त्र और सांख्य शास्त्र का प्रवर्तन किया।[5]

मरीचि और कपिल का वर्णन जैसा जैन साहित्य में उट्टङ्कित है वैसा भागवत आदि वैदिक साहित्य में नहीं। जहां जैन-साहित्य में मरीचि को भरत का पुत्र माना है, वहाँ भागवतकार ने भरत की वंश-परम्परा का वर्णन करते हुए उसे अनेक पीढ़ियों के पश्चात् 'सम्राट्' का पुत्र बताया है तथा उसकी माँ का नाम 'उत्कला' दिया है।[6]

---

१ (क) उत्तरपुराण ७२।५४।४४६

(ख) महावीरपुराण आचार्यसकलकीर्ति पृ० ६

२ (क) मरीचिश्च गुरोर्नप्ता, परिव्राड्भूयमास्थितः।
मिथ्यात्ववृद्धिमकरोद् अपसिद्धान्तभाषितैः॥

—महापुराण जिन० १८।६१।४०३

(ख) न देवतानन्तर तेषाम् आसीन्मुक्त्वा स्वयंभुवम्।

—महापुराण १८।६१।४०२

३ मरीचिवर्ज्याः सर्वेपि तापसास्तपसि स्थिताः।
भट्टारकान्ते सम्बुद्ध्य महाप्राव्राज्यमास्थिताः॥

—महा० जिन० २४।१८२।५९२

४ (क) अदीक्षयत् स कपिलं, स्वसहायं चकार च।
परिव्राजकपाखण्ड, ततः प्रभृति चाऽभवत॥ —त्रिषष्टि० १।६।५२

५ (क) स प्राग्जन्मावधेर्ज्ञात्वा, मोहादभ्येत्य भूतले।
स्वयं कृत सांख्यमतमासूयर्यादीनबोधयत्॥
तदाम्नायादत्र सांख्यं प्रावर्तत च दर्शनम्।
सुखसाध्ये ह्यनुष्ठाने प्रायो लोकः प्रवर्तते॥

—त्रिषष्टि० १०।१।७३-७४

(ख) महापुराण १८।६२।४०३

६ 'ततः उत्कलायां मरीचिर्मरीचेर्बिन्दु....।' —भागवत ५।१५।१५।६०६

जैन साहित्य में कपिल को राजपुत्र बताया है और वैदिक साहित्य में उसे कर्दम ऋषि का पुत्र बताया है। साथ ही उन्हें विष्णु का पाँचवाँ अवतार भी माना है।[१]

जब कपिल कर्दम ऋषि के यहाँ जन्म ग्रहण करता है, तब ब्रह्माजी मरीचि आदि मुनियों के साथ कर्दम के आश्रम में पहुँचते हैं और यह प्रेरणा देते हैं, कि वे अपनी कन्याएँ मरीचि आदि मुनियों को समर्पित करें। 'ब्रह्मा' की प्रेरणा से कर्दम ऋषि ने 'कला' नामक कन्या का मरीचि के साथ पाणिग्रहण करवाया।[२] इस प्रकार स्पष्ट है, कि मरीचि कपिल के बहनोई थे। पर प्रश्न है कि भागवतकार ने एक ओर ऋषभ को आठवाँ अवतार माना है और कपिल को पाँचवाँ अवतार। तथा कपिल व मरीचि का समय एक ही बताया है। श्रीमद् भागवत की दृष्टि से मरीचि भरत की अनेक पीढ़ियों के बाद आते हैं, तो पूर्व में होने वाले को आठवाँ अवतार और पश्चात् होने वाले को पाँचवाँ अवतार कैसे माना गया?

हमारी दृष्टि से भागवत में अवतारों का जो निरूपण किया गया है, वह न तो क्रमबद्ध है और न संगत ही है।

जैन साहित्य में मरीचि परिव्राजक के आचारशैथिल्य का वर्णन तो है, पर भागवत की तरह उनके विवाह का उल्लेख नहीं है।

वैदिक साहित्य के परिशीलन से यह भी ज्ञात होता है, कि मरीचि श्री ऋषभ के अनुयायी थे। ऋग्वेद[3] में काश्यपगोत्री मरीचिपुत्र ने अग्निदेव के प्रतीक के रूप में जो ऋषभदेव की स्तुति की है वह हमारे मन्तव्यानुसार वही मरीचि हैं जिनका प्रस्तुत इतिवृत्त से सम्बन्ध है।

राजा आर्हत्

श्रीमद्भागवत पुराण में राजा अर्हत् को पाखण्ड मत का प्रचार करने वाला बताया है, जबकि जैन-दर्शन में भरत के पुत्र मरीचि से त्रिदण्डी तापसों का आरम्भ और धीरे-धीरे नाना मतवादों की उत्पत्ति होकर क्रमशः तीन सौ त्रेसठ मतों की उत्पत्ति का मूल कारण बताया है।

---

१ पंचमः कपिलो नाम सिद्धेशः कालविप्लुतम्।
प्रोवाचासुरये सांख्य तत्त्वग्रामविनिर्णयम्॥ —भागवत १।१०।५६

२ श्रीमद्भागवत ३।२४।६-२२।३१५-३१७

३ ऋग्वेद १।६

नाम में भिन्नता होने पर भी श्रीमद्भागवत पुराण में राजा अर्हत् और जैन-धर्म में मरीचि का वर्णन साम्यता लिये हुए है। भागवत पुराण में राजा आर्हत् का निम्न प्रकार से उल्लेख प्राप्त होता है—

जिस समय कलियुग में अधर्म की वृद्धि होगी, उस समय कोङ्क, वेङ्क, और कुटक देश का मन्दमति राजा अर्हत् वहाँ के लोगों से ऋषभदेव जी के आश्रमातीत आचरण के वृत्तान्त को सुनकर तथा स्वयं उसे ग्रहण कर लोगों के पूर्वसञ्चित पापफलरूप होनहार के वशीभूत हो भयरहित स्वधर्म का परित्याग कर अपनी बुद्धि से अनुचित एवं पाखण्डपूर्ण कुमार्ग का प्रचार करेगा।[१] उससे कलियुग में देवमाया से मोहित अनेकों अधम मनुष्य अपने शास्त्रविहित शौच और आचार को छोड़ बैठेंगे। अधर्मबहुल कलियुग के प्रभाव से बुद्धिहीन हो जाने के कारण वे स्नान न करना, आचमन न करना, अशुद्ध रहना, केश नुचवाना आदि ईश्वर का तिरस्कार करने वाले पाखण्ड धर्मों को मनमाने ढंग से स्वीकार करेंगे और प्रायः वेद, ब्राह्मण एवं भगवान यज्ञपुरुष की निन्दा करने लगेंगे। वे अपनी इस नवीन अवैदिक स्वेच्छाकृत प्रवृत्ति में अन्धपरम्परा से विश्वास करके मतवाले रहने के कारण स्वयं ही घोर नरक में गिरेंगे।[२]

भागवत पुराणकार ने पञ्चम स्कन्ध के पन्द्रहवें अध्याय में भरत के पुत्र सुमति को वेदविरुद्ध कल्पना करने वाला बताया है, और इसी स्कन्ध के षष्ठ अध्याय में राजा अर्हत् को।[३] वहाँ यह स्पष्ट उल्लेख नहीं है, कि उक्त राजा अर्हत् कौन था। यदि भरत पुत्र सुमति को ही राजा अर्हत् के नाम से अभिहित किया हो, तो जैन-धर्म में उल्लिखित मरीचि के साथ और भी समानता प्रतीत होती है।

क्योंकि भागवतकार ने भरत पुत्र सुमति को पाखण्ड धर्म का प्रवर्तक

---

१ यस्य किलानुचरितमुपाकर्ण्य कोङ्कवेङ्ककुटकानां राजार्हन्नामोपशिक्ष्य कलावधर्म उत्कृष्यमाणे भवितव्येन विमोहितः स्वधर्मपथमकुतोभयमपहाय कुपथपाखण्डमसमञ्जसं निजमनीषया मन्दः सम्प्रवर्तयिष्यते।

—श्रीमद्भागवत पुराण ५।६।९

२ वही ५।६।१०-११।

३ भरतस्यात्मजः सुमतिर्नामाभिहितोयमु ह वाव केचित्पाखण्डिन ऋषभपदवीमनुवर्तमानं चानार्या अवेदसमाम्नातां देवतां स्वमनीषया पापीयसा कलौ कल्पयिष्यन्ति।
—श्रीमद्भागवत पुराण ५।१५।१

बताया है और इधर जैन-दर्शनकारों ने भरत-पुत्र मरीचि को। सुमति ने वेदविरुद्ध धर्म का प्रचार किया था और मरीचि ने जैन-धर्म विरुद्ध सांख्य-दर्शन का।

अट्ठानवें भ्राताओं की दीक्षा

दिग्विजय के पश्चात् सम्राट् भरत एक दिन सभा-मंडप में बैठे हुए थे। सहस्रों माण्डलिक राजा व जन-समुदाय वहाँ उपस्थित था, परन्तु भरत के अट्ठानवें भाइयों में से एक भी वहाँ उपस्थित नहीं था। भरत को रोष के साथ-साथ आश्चर्य भी हुआ। 'वे इस उल्लास में सम्मिलित क्यों नहीं हुए? क्या उन्हें बूंद समान राज्य पर इतना गर्व है?' उसके नेत्र रक्त-रंजित हो गये, भुजाएँ धड़कने लगीं। उसी समय लघु भ्राताओं को अपने अधीन करने के लिये उन्होंने दूत प्रेषित किये।

सभी भ्राताओं के पास पृथक्-पृथक् दूत उपस्थित हुआ और प्रत्येक ने भरत की अनुज्ञा कह सुनायी। दूतों के द्वारा यह समाचार सुनकर उनका स्वाभिमान जागृत हो गया। उन्होंने दूतों के साथ सन्देश भिजवा दिया—'पिताजी ने हम सबको पृथक्-पृथक् राज्य दिया है, इसमें छोटे-बड़े का कोई भेदभाव नहीं है, फिर भी वे हमें हीन समझकर अपना गौरव बढ़ाना चाहते हैं तो यह उनकी साम्राज्यवादी लिप्सा है। हम ज्येष्ठ भ्राता के नाते उनसे युद्ध भी नहीं करना चाहते। एतदर्थं पिताजी प्रदत्त राज्य का निर्णय पिता से ही करवा लें, वे हमारा मार्ग-दर्शन करेंगे।

इस प्रकार विचार-विमर्श कर ६८वें ही भाई अष्टापद पर्वत पर समवसरित भगवान ऋषभदेव के पास पहुँचे, नमस्कार करके अत्यन्त खेद पूर्वक वस्तुस्थिति का परिचय कराते हुए विनम्र शब्दों में बोले—'प्रभो! आपके द्वारा प्रदत्त राज्य पर भाई भरत ललचा रहा है, वह हमसे राज्य छीनना चाहता है। क्या बिना युद्ध किये हम उसे राज्य दे देवें? यदि हम देते हैं, तो उसकी साम्राज्य-लिप्सा अग्नि में इंधनवत् बढ़ जायेगी और हम पराधीनता के पङ्क में डूब जायेंगे। भगवन्! आपसे हम क्या निवेदन करें? भरतेश्वर को स्वयं के राज्य से सन्तोष नहीं हुआ, तो उसने अन्य राज्यों को अपने अधीन किया किन्तु उसकी तृष्णा वडवाग्नि की तरह और भूखी राक्षसी की तरह निरन्तर बढ़ती ही जा रही है।

वह हमें आह्वान करता है कि या तो तुम मेरी अधीनता स्वीकार करो, या युद्ध के लिये सन्नद्ध हो जाओ। आपश्री द्वारा दिये गये राज्य को

हम क्लीब की तरह उसे कैसे अर्पित कर दें ? जिसे स्वाभिमान प्रिय नहीं है, वही दूसरों की गुलामी करता है। और यदि हम राज्य के लिए अपने ज्येष्ठ भ्राता से युद्ध करते हैं, तो भ्रातृ-युद्ध की एक अनुचित परम्परा का श्री गणेश हो जाता है, अत: आप ही बताएँ, हमें क्या करना चाहिए ?[१]

भगवान बोले—पुत्रों ! तुम्हारा चिन्तन ठीक है। युद्ध भी बुरा है और कायर बनना भी बुरा है। युद्ध इसलिये बुरा है, कि उसके अन्त में विजेता और पराजित दोनों को ही निराशा मिलती है। अपनी सत्ता को गँवाकर पराजित पछताता है और शत्रु बनाकर विजेता पछताता है। कायर बनने की मैं तुम्हें राय नहीं दे सकता, मैं तुम्हें ऐसा राज्य देना चाहता हूँ, जो सहस्रों युद्धों से भी नहीं प्राप्त किया जा सकता।

भगवान की आश्वासन-भरी वाणी को सुनकर सभी के मुख कमल खिल उठे, मन-मयूर नाच उठे। वे अनिमेष दृष्टि से भगवान को निहारने लगे, किन्तु भगवान की भावना को छू नहीं सके। यह उनकी कल्पना में नहीं आ सका कि भौतिक राज्य के अतिरिक्त भी कोई राज्य हो सकता है। वे भगवान के द्वारा कथित राज्य को पाने के लिये व्यग्र हो उठे। उनकी तीव्र अभिलाषा को देखकर भगवान बोले—

"भौतिक राज्य से आध्यात्मिक राज्य महान है।[२] सांसारिक सुखों से आध्यात्मिक सुख विशेष है।[३] इसे ग्रहण करो, इसमें न कायर बनने की आवश्यकता है और न युद्ध का ही प्रसंग है।"

मूर्ख लकड़हारे[४] का रूपक देते हुए भगवान ने कहा—एक लकड़हारा था, वह भाग्यहीन और अज्ञ था। प्रतिदिन कोयले बनाने के लिए वह जंगल में जाता और जो कुछ भी प्राप्त होता उससे अपना भरण-पोषण करता।

---

१ (क) ता किं करेमो ? किं बुज्झामो उदाहु आयाणामो ?

—आवश्यकमलयगिरिवृत्ति २३१

(ख) आवश्यकचूर्णि २०९

(ग) त्रिषष्टि० १।४।८२१-८२६

२ न मुत्तिसरिसं सुहमत्थि। —आवश्यकनिर्युक्तिमलयगिरिवृत्ति २३१

३ भगवती १४।९

४ (क) आवश्यकचूर्णि जिन० २०९-२१०

(ख) आवश्यकमलयगिरिवृत्ति

(ग) आवश्यकहारिभद्रीयावृत्ति

एक बार वह भीष्म-ग्रीष्म की चिलचिलाती धूप में थोड़ा-सा पानी लेकर जंगल में गया। सूखी लकड़ियाँ एकत्रित कीं। कोयले बनाने के लिए उन लकड़ियों में आग लगा दी।

चिलचिलाती धूप, प्रचण्ड ज्वाला, तथा गर्म लू के कारण उसे अत्यधिक प्यास लगी। साथ में जो पानी लाया था। वह पी गया, पर प्यास शान्त न हुई। इधर-उधर जंगल में पानी की अन्वेषणा की, पर, कहीं भी पानी उपलब्ध न हुआ। सन्निकट कोई गाँव भी नहीं था, प्यास से गला सूख रहा था, घबराहट बढ़ रही थी। वह एक वृक्ष के नीचे लेट गया, नींद आ गई। उसने स्वप्न देखा, कि वह घर पहुँच गया है। घर पर जितना भी पानी है, पी गया है, तथापि प्यास शान्त नहीं हुई। कुएं पर गया और वहाँ का सारा पानी पी गया। पर प्यास नहीं बुझी। नदी, नाले और द्रहों का पानी पीता हुआ समुद्र पर पहुँचा, समुद्र का सारा पानी पी लेने पर भी उसकी प्यास कम न हुई। तब वह एक पानी से रहित जीर्ण कूप के पास पहुँचा। वहाँ पानी तो नहीं था, किन्तु भीगे हुए तिनकों को देखकर मन ललचाया और उन तिनकों को निचोड़कर प्यास बुझाने का प्रयास कर रहा था, कि निद्रा भंग हो गई।

रूपक का उपसंहार करते हुए भगवान ने कहा—पुत्रों। क्या उन भीगे हुए तिनकों से उस लकड़हारे की प्यास शान्त हो सकती है ? जो कुएँ, नदी, द्रह, तालाब और समुद्र के पानी से नहीं हुई थी।

पुत्रों ने एक स्वर से कहा—नहीं भगवन् ! कदापि नहीं।

भगवान ने उन्हें अपने अभिमत की ओर आकृष्ट करते हुए—पुत्रो ! राज्यश्री से तृष्णा को शान्त करने का प्रयास भी आर्द्र तृण-समूह को निचोड़कर प्यास बुझाने के प्रयास के समान है। दीर्घकालीन अपार स्वर्गीय सुखों से भी जब तृष्णा शान्त न हुई तो इस तुच्छ और अल्पकालीन राज्य से कैसे हो सकती है ? अत: सम्बोधि को प्राप्त करो। वस्तुतः जब तक स्वराज्य नहीं मिलता, तब तक परराज्य की कामना रहती है। स्वराज्य मिलने पर परराज्य का मोह नहीं रह जाता।

भगवान ने उस समय अपने पुत्रों को वैराग्यवर्द्धक एवं प्रभावजनक जो उपदेश दिया था, वह सूत्रकृतांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के द्वितीय 'वैतालीय' नामक अध्ययन में उल्लिखित है। जिनदास महत्तर के उल्लेख से स्पष्ट है, कि यह अध्ययन भगवान के उसी उपदेश के आधार पर प्रवृत्त

हुआ है। उस उपदेश में बतलाया गया है, कि—'मानव को शीघ्र से शीघ्र प्रतिबोध लाभ करना चाहिए, क्योंकि व्यतीत हुआ समय लौटकर नहीं आता और पुनः मनुष्यभव सुलभ नहीं है। प्राप्त जीवन का भी कोई ठिकाना नहीं। बालक, वृद्ध यहाँ तक कि गर्भस्थ मनुष्य भी मृत्यु के शिकार हो जाते हैं। जगत् का उत्कृष्ट से उत्कृष्ट वैभव भी मृत्यु का निवारण करने में समर्थ नहीं है। यही कारण है, कि देव, दानव, गन्धर्व, भूमिचर, सरीसृप, राजा और बड़े-बड़े सेठ-साहूकार भी दुख के साथ अपने स्थान से च्युत होते देखे जाते हैं। बन्धन से च्युत ताल फल के समान आयु के टूटने पर जीव मृत्यु को प्राप्त होते हैं, इत्यादि।'

वस्तुतः यह सम्पूर्ण अध्ययन अतीव मार्मिक और विस्तृत है। मुमुक्षुजनों के लिए मननीय है।

भागवतकार ने भी भगवान् के पुत्रोपदेश का वर्णन दिया है, जिसका सार इस प्रकार है—पुत्रो ! मानव शरीर दुःखमय विषयभोग प्राप्त करने के लिए नहीं है। ये भोग तो विष्टाभोजी कूकर-शूकर आदि को भी प्राप्त होते हैं, अतः इस शरीर से दिव्यतप करना चाहिये, क्योंकि इसी से परमात्म-तत्त्व की प्राप्ति होती है।[1]

प्रमाद के वश मानव कुकर्म करने को प्रवृत्त होता है। वह इन्द्रियों को परितृप्त करने के लिए प्रवृत्ति करता है, पर मैं उसे श्रेष्ठ नहीं समझता, क्योंकि उसी से दुःख प्राप्त होता है।[2] जब तक आत्मतत्त्व की जिज्ञासा नहीं होती तब तक स्वस्वरूप के दर्शन नहीं होते, वह विकार और वासना के दलदल में फँसा रहता है और उसी से बन्धन की प्राप्ति होती है।[3]

इस प्रकार अविद्या के द्वारा आत्म-स्वरूप आच्छन्न होने से कर्म-वासनाओं से वशीभूत बना हुआ चित्त मानव को फिर कर्म में प्रवृत्त करता

---

१ नाय देहो देहभाजां नृलोके।
कष्टान् कामानर्हते विड्भुजां ये।
तपो दिव्यं पुत्रकायेन सत्त्वं,
शुद्ध्येद्यस्माद् ब्रह्मसौख्यं त्वनन्तम् ॥ —श्रीमद्भागवत ५।५।१।५५९

२ श्रीमद्भागवत ५।५।४।५५९

३ श्रीमद्भागवत ५।५।४।५५९

है। अतः जब तक मुझ परमात्मा में प्रीति नहीं होती, तब तक देह-बन्धन से मुक्ति नहीं मिलती।[1]

स्वार्थ में उन्मत्त बना जीव जब तक विवेकदृष्टि का आश्रय लेकर इन्द्रियों की चेष्टाओं को अयथार्थ रूप में नहीं देखता है, तब तक आत्म-स्वरूप विस्मृत होने से वह गृह आदि में ही आसक्त रहता है और विविध प्रकार के क्लेश उठाता है।[2]

इस प्रकार भगवान् की दिव्य देशना में राज्य-त्याग की बात को सुनकर वे सभी अवाक् रह गये। पर शीघ्र ही उन्होंने भगवान के प्रशस्त पथ-प्रदर्शन का स्वागत किया। अट्ठानवें ही भ्राताओं ने राज्य त्यागकर संयम ग्रहण किया।[4] वे अपने राज्य में पुनः नहीं लौटे और न भरत के चरणों में झुके। अट्ठानवे ही भाइयों के पुत्र स्वक्षेत्र के राजा बने और वे भरत की अधीनता स्वीकार कर के रहे।

सम्राट् भरत को यह सूचना मिली तो वह दौड़ा-दौड़ा भ्राताओं के पास आया। भ्रातृ-प्रेम से उसकी आँखें आर्द्र हो गईं। पर उसकी आर्द्र आँखें अट्ठानवें भ्राताओं को पथ से विचलित न कर सकीं। भरत निराश होकर पुनः घर लौट आया।[3]

भरत और बाहुबली

भरत समग्र भारत में यद्यपि एक शासन-तन्त्र के द्वारा एक अखण्ड भारतीय संस्कृति की स्थापना करने के लिये प्रयत्नशील थे, मगर दूसरों

---

१ भागवत ५।५।५।५६०

२ भागवत ५।५।६।५६०

३ (क) इत्याकर्ण्य विभोर्वाक्यं परं निर्वेदमागताः।
महाप्राव्राज्यमास्थाय, निष्क्रान्तास्ते गृहाद्वनम्॥
—महापुराण ३४।१२५।१६२

(ख) त्रिषष्टि० १।४।८४४-८४५।१२०

(ग) आवश्यकचूर्णि

(घ) आवश्यकमलयगिरिवृत्ति, पृ० २३१

४ (क) आवश्यकनिर्युक्ति, पृ० ३४८

(ख) आवश्यकचूर्णि, पृ० २१२

(ग) आवश्यकनिर्युक्ति मलयगिरिवृत्ति २३५

(घ) त्रिषष्टि० १।६।१९०-१९६

की स्वतन्त्रता को सीमित किये बिना उनका उद्देश्य पूरा नहीं हो सकता था। अट्ठानवें भाइयों के दीक्षित होने से यद्यपि उनका पथ निष्कण्टक बन गया था, तथापि एक बड़ी बाधा अब भी उनके सामने थी। वह थी बाहुबली को अपना आज्ञानुवर्ती बनाना। इसके लिये उसने अब अपने लघुभ्राता बाहुबली को यह सन्देश पहुँचाया कि वह अधीनता स्वीकार करले। ज्योंही भरत का यह सन्देश सुना, त्योंही बाहुबली की भृकुटी तन गई। उपशान्त क्रोध उभर आया। दाँतों को पीसते हुए उसने कहा—'क्या भाई भरत की भूख अभी तक शान्त नहीं हुई है? अपने लघु भ्राताओं के राज्य को छीन करके भी उसे सन्तोष नहीं हुआ है। क्या वह मेरे राज्य को भी हड़पना चाहता है। यदि वह यह समझता है, कि मैं शक्तिशाली हूँ और शक्ति से सभी को चट कर जाऊंगा, तो यह शक्ति का सदुपयोग नहीं, दुरुपयोग है। मानवता का भयंकर अपमान है और व्यवस्था का अतिक्रमण है। हमारे पूज्य पिता व्यवस्था के निर्माता हैं और हम उनके पुत्र होकर व्यवस्था को भङ्ग करते हैं! यह हमारे लिये उचित नहीं है। बाहुबल की दृष्टि से मैं भरत से किसी प्रकार कम नहीं हूँ। यदि वह अपने बड़प्पन को विस्मृत कर अनुचित व्यवहार करता है तो मैं चुप्पी नहीं साध सकता। मैं दिखा दूंगा भरत को कि आक्रमण करना कितना अनुचित है। जब तक वह मुझे नहीं जीतता तब तक विजेता नही है।'[१]

बाहुबली ने सुवेग दूत को अन्य भी कड़वी-मीठी बातें सुनाईं और बिना ही आदर-सत्कार किये उसे अपमानित कर सभा से बाहर निकाल दिया। सभा से बाहर निकलते हुए नागरिक-जन परस्पर काना-फूसी करने लगे—

'राजद्वार में से यह नवीन व्यक्ति कौन निकला?' 'भरत राजा का दूत मालूम पड़ता है।

—क्या इस भूमण्डल पर बाहुबली सदृश अन्य भी कोई सम्राट् है?

—हाँ, बाहुबली के ज्येष्ठ भ्राता अयोध्या के राजा हैं।

—इस दूत को उन्होंने यहाँ किसलिये भेजा?

—अपने अनुज व हमारे कुशल प्रशासक सम्राट् बाहुबली को बुलाने।

—इतने समय तक वे कहाँ गये हुए थे?

---

१ आवश्यकचूर्णि, पृ० २१०

—भरतक्षेत्र के षट्खण्डों पर अपना प्रभुत्व जमाने।

—उन्हें अपने भ्राता को बुलाने की इच्छा क्यों हुई ?

—अन्य सामान्य सम्राटों की तरह सेवा कराने के लिये।

—समस्त राजाओं को जीतकर वह अब इस शूली पर क्यों चढ़ना चाहता है ?

—इसका एकमात्र हेतु अखण्ड चक्रवर्तीपन का अहं (अभिमान) है।

—अपने अनुज से पराजित हुआ भरत सम्राट् अपना मुंह कैसे दिखा सकेगा ?

—सदा ही जीतने वाला व्यक्ति भावी में होने वाली पराजय से अनभिज्ञ होता है।

—भरत के मंत्रियों में क्या कोई चूहे के समान भी नहीं है ?

—कुलक्रम से बने उसके पास अनेकों बुद्धिमान मंत्री हैं।

—तब मंत्रियों ने भरत को सर्प का मस्तक खुजाने से क्यों नहीं रोका ?

—उन्होंने उसको रोका तो नहीं, प्रत्युत और अधिक उत्साहित किया है।

—होनहार ही ऐसी है।

नगर-निवासियों की इस तरह की बातें सुनता हुआ सुवेग अति शीघ्र अयोध्या पहुँचा। उसने बाहुबली का स्वाभिमान, नागरिकों की स्वामि-भक्ति तथा युद्ध के लिये सन्नद्ध, बद्ध सैनिकों की गतिविधियों का पूर्णरूप से ज्ञान कराया।

दूत के द्वारा अपने छोटे भाई की अहंता को सुनकर सम्राट् भरत विराट् सेना लेकर बाहुबली से युद्ध करने के लिये 'बहली देश की सीमा पर पहुँच गये। बाहुबली भी अपनी छोटी सी सेना सजाकर युद्ध के मैदान में आ गया।

आवश्यकचूर्णि, त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित्र, चउप्पन्न महापुरिस चरियं तथा जिनसेन के हरिवंशपुराण में सेना के परस्पर युद्ध का वर्णन नहीं है, वहाँ पर केवल भरत और बाहुबली के अहिंसात्मक युद्ध का ही वर्णन प्राप्त होता है।[1]

---

१ (क) ताहे ते सव्वबलेण दो वि देसंते मिलिया, ताहे बाहुबलिणा भणितं—किं अणवराहिणा लोगेण मारिएण ? तुमं अहं च दुयगा जुज्झामो......।

—आवश्यकचूर्णि, पृ० २१०

भरतेश्वर बाहुबली वृत्ति में और पुण्यकुशल विरचित भरत बाहुबलि महाकाव्य में उनके युद्ध का वर्णन आता है—बाहुबली के वीर सैनिकों ने भरत की विराट सेना के छक्के छुड़ा दिये। बारह वर्ष तक घमासान युद्ध हुआ, पर विजय श्री किसी को प्राप्त नहीं हुई। अनेकों राजा व राजकुमार, सेठ, सेनापति मौत के घाट उतार दिये गये, रणक्षेत्र का दृश्य अति भयावना और बीभत्स प्रतीत होने लगा, तो भी दोनों में से किसी एक की भी सेना युद्ध मैदान से पीछे नहीं हटी।[1]

अन्त में बाहुबली के कहने पर निर्णय किया, कि व्यर्थ ही मानवों का रक्तपात करना उचित नहीं है। जय-पराजय का निर्णय हमारे दोनों के बीच में है, फिर सैनिकों को युद्ध में क्यों होमा जाय ?[2]

कहीं-कहीं[3] ऐसा भी वर्णन आता है, कि जब युद्ध चरमसीमा पर पहुँच चुका और परस्पर में किसी प्रकार का निर्णय नहीं हो पाया तो इन्द्र का सिंहासन काँप उठा, अवधिज्ञान से उसने दोनों भ्राताओं के बीच होने वाले घमासान को देखा, तो समझौता कराने के लिये पृथ्वी मण्डल पर आया। दोनों को सम्बोधित करते हुए उसने कहा—अरे ऋषभात्मजो ! अहिंसा के पुजारी की सन्तान होकर तुम दुनियाँ के समक्ष हिंसा का ताण्डव नृत्य करो, यह तुम्हारे जैसों के लिए शोभास्पद है ? जरा विचार करो, किसी एक की भी जय अथवा पराजय दोनों के विषाद का कारण होगी, हम सन्धि का प्रस्ताव लेकर तुम्हारे पास आये हैं।

(ख) त्रिषष्टि० १।५।४७१-४७४।

(ग) चउप्पनमहापुरिसचरियं।

(घ) 'चक्रवर्त्यपि सम्प्राप्तः सैन्यसागररुद्धदिक्।
वितता परदिग्भागेः चम्वोः स्पर्शस्तयोरभूत्॥
उभये मन्त्रिणो मंत्रं मन्त्रयित्वाहुरीशयोः।
माभूज्जनपदक्षयो धर्मयुद्धमिहास्त्विति॥
—हरिवंशपुराण ११।७६-८०

१ भरतेश्वर बाहुबलिवृत्ति

२ (क) आवश्यकचूर्णि, पृ० २१०
(ख) चउप्पन महापुरिसचरियं पृ० ४७

३ (क) त्रिषष्टि० १।५
(ख) भरतेश्वर बाहुबलीवृत्ति

इन्द्र की वाणी सुनकर दोनों भाइयों ने युद्ध से होने वाली अपार जन-हानि को स्वीकार किया और साथ ही अपनी विवशता भी प्रकट की।

दोनों में समझौता होने की कोई उम्मीद न देखकर देवताओं ने कहा—द्वन्द्व आप दो भाइयों का है, आप दोनों ही अहिंसात्मक दृष्टि से युद्ध करें, उसी से जय-पराजय का निर्णय हो जायेगा। देवताओं का यह प्रस्ताव दोनों पक्षों ने मान्य किया।

बाहुबलि शारीरिक शक्ति से देव-दानवों से भी बढ़कर थे। बचपन में जब भरत और बाहुबलि क्रीड़ाएँ किया करते थे तो बाहुबली भरत को परास्त कर देते थे। अपनी दिग्विजय के समय भी उन्होंने कभी अस्त्र नहीं उठाया था। जहाँ भी युद्ध का अवसर आता, सुषेण सेनापति अपने अपरिमित बल से शत्रुओं के छक्के छुड़ा देता था। अब जब देवताओं का प्रस्ताव दोनों पक्षों को मान्य हो गया तो भरत की सेना सशंकित हो उठीं, तथा बाहुबली की सेना में अपार हर्ष छा गया।

अपनी सेना को अपनी शक्ति का भान कराने के लिये सम्राट् भरत ने सेवकों से एक बहुत लम्बा, चौड़ा और गहरा गड्ढा खुदवाया, उस गड्ढे के किनारे पर भरतेश्वर बैठ गये, और वटवृक्ष की लटकती हुई लम्बी-लम्बी जटाओं की तरह, भरत ने अपने बाएँ हाथ पर, एक के ऊपर एक, सुदृढ़ एक सहस्र सांकल बँधवाई। तत्पश्चात् उन्होंने सैनिकों से कहा—हे सुभटो! जैसे वृषभ गाड़ी को खींचते हैं उसी प्रकार तुम एक सहस्र वीर सुभट मुझे अपने बल और वाहनों से निर्भय बनकर खींचो, तथा इस गड्ढे में डाल दो। इच्छा न होने पर भी **'स्वाम्याज्ञा हि बलीयसी'** के अनुसार एक हजार सैनिकों ने सम्राट् भरत के वाम हस्त में बंधी हुई एक हजार सांकलों को पकड़कर पूरी शक्ति से खींचना प्रारम्भ किया, लेकिन भरत की भुजा को वे हिला नहीं सके, अणुमात्र भी इधर-उधर नहीं कर सके। तब चक्रवर्ती भरत ने झटका देकर ज्योंही अपना वाम हस्त सीने से लगाया त्योंही सभी सैनिक इस प्रकार गिर पड़े, जैसे नीचे का घड़ा खिसक जाने पर, सभी घड़े गिर पड़ते हैं। अपने स्वामी का इस प्रकार शक्ति-परीक्षण देखकर सैनिक आनन्दपूरित हो गये, और शक्ति विषयक जो शंकाएँ थीं वे सर्वविलीन हो गईं।[१]

---

१ त्रिषष्टि० १।५।५५२-५७०

यद्यपि चक्रवर्ती में सामान्य-व्यक्तियों की अपेक्षा शारीरिक बल अनन्त-गुणा अधिक होता है तथापि वे बाहुबली से शक्ति में कम थे।

दिगम्बर आचार्य जिनसेन ने दोनों भाइयों के जलयुद्ध, दृष्टियुद्ध और बाहुयुद्ध इन तीन युद्धों का निरूपण किया है।[१]

आचार्य जिनदासगणी महत्तर ने दृष्टियुद्ध, वाग्युद्ध, बाहुयुद्ध और मुष्टियुद्ध का प्ररूपण किया है।[२]

उपाध्याय श्री विनय विजय जी ने दृष्टियुद्ध, वाग्युद्ध, मुष्टियुद्ध और दण्डयुद्ध इन चार युद्धों का निर्देश किया है।[३]

आवश्यकभाष्यकार[४] तथा आचार्य हेमचन्द्र[५] व समयसुन्दर[६] प्रभृति ने दृष्टियुद्ध, वाक्युद्ध, बाहुयुद्ध, मुष्टियुद्ध और दण्डयुद्ध इन पांच युद्धों का वर्णन किया है।

सर्वप्रथम दृष्टियुद्ध हुआ। दृष्टियुद्ध में दोनों ही वीर अनिमेष होकर एक-दूसरे के समक्ष खड़े हो गये, और अपलक नेत्रों से ध्यानस्थ योगियों की तरह बहुत देर तक एक-दूसरे को निहारते रहे। अन्त में सायंकाल सहसा भरत के मुंह पर सूर्य आ जाने से उसकी पलकें बन्द हो गईं। प्रथम दृष्टियुद्ध में बाहुबली के विजयघोष व भरत के पराजित होने की घोषणा सर्वत्र प्रसारित हो गई।

दृष्टियुद्ध के पश्चात् वाग्युद्ध हुआ, दोनों ही वीरों ने बार-बार सिंहनाद किया, पर भरत का स्वर क्रमशः क्षीण होता गया और बाहुबली का स्वर उदात्त बनता रहा। वाग्युद्ध में भी बाहुबली ने भरत को पराजित कर दिया। दोनों युद्धों में अपनी पराजय देखकर भरत खिन्न से हो उठे

---

१ महापुराण ३३।४५।२०४ हि० भा०

२ आवश्यकचूर्णि, पृ० २१०

३ कल्पसूत्र, सुबोधिका टीका ५१३ साराभाई नवाब

४ आवश्यकभाष्य गाथा ३२

५ त्रिषष्टि० १।५

६ (क) पञ्चयुद्धानि स्थापितानी (१) दृष्टियुद्ध, (२) वाग्युद्ध, (३) बाहुयुद्ध, (४) मुष्टियुद्ध, (५) दण्डयुद्धानि। एतैः पञ्चयुद्धैः योजितः स जितो ज्ञेयः।

(ख) कल्पार्थबोधिनी, पृ० १५१

(ग) कल्पद्रुमकलिका, पृ० १५२

और बाहु-युद्ध के समय सरोष बाहुबली के वक्षस्थल पर मुष्टि प्रहार किया इससे बाहुबली कुछ क्षणों के लिए मूर्छित से हो गये। वे क्रुद्ध होकर सर्प की भांति फुफकारने लगे दूसरे ही क्षण उन्होंने मौका पाकर भरत को उठाकर गेंद की तरह आकाश में उछाल दिया। भरत आकाश में इतने दूर उछले कि दीखने बन्द हो गये। बाहुबलि का मन अनुताप से भर गया। उनके मन में विविध संकल्प उत्पन्न होने लगे। इतने में भरत आकाश मार्ग में दिखाई दिये। उस समय वे चाहते तो उन्हें पृथ्वी पर गिरने देते पर अपने ज्येष्ठ भ्राता को गिरते देखकर मन में करुणा उमड़ पड़ी, उन्होंने भरत को गिरने से पूर्व भुजाओं में पकड़ लिया और प्राणों की रक्षा की।

उक्त तीनों युद्धों में पराजित होना ज्येष्ठ भ्राता भरत के लिए लज्जास्पद प्रतीत हुआ, वे रोषारुण हो उठे और अपनी पूरी शक्ति से अनुज के सिर पर प्रहार किया। बाहुबली के ऊपर किया गया मुष्टि प्रहार बर्फ समूह में अग्नि-कणवत् बेकार चला गया, तब बाहुबली ने अपने पराक्रम से भरत पर मुष्टि का प्रहार किया, भरत मूर्छित हो जमीन पर गिर पड़े।

मूर्च्छा दूर होने पर भरत ने यमराज की तरह दण्ड ग्रहण कर बाहुबली के मस्तक पर पूर्ण शक्ति से प्रहार किया। दंड-प्रहार से क्षण भर के लिये बाहुबली की आँखें बन्द हो गईं, वे घुटनों तक जमीन में धुस गये। अपनी शक्ति बटोरकर बाहुबली बाहर निकले और अवसर देखकर भरत पर प्रहार किया। भरत गले तक पृथ्वी में धुस गये। पाँचों ही युद्धों में बाहुबली की विजय होने से भरत की समस्त आशाओं पर तुषारापात हो गया। उसे अपने लघु भ्राता से पराजित होना अत्यधिक अखरा।

वे सोचने लगे—जैसे अंधा जुआरी प्रत्येक दाँव में हार जाता है उसी प्रकार मैं बाहुबली से प्रत्येक युद्ध में हार गया हूँ, तो क्या मैं इस भरतक्षेत्र का चक्रवर्ती नहीं हूँ ? क्या मेरे द्वारा विजित क्षेत्रों का उपभोग बाहुबली करेगा ?[२]

इस प्रकार भरत संकल्प - विकल्पों के ताने-बाने बुन ही रहे थे, कि

(क) सो एव जिप्पमाणो विहुरो अह नरवई विचिंतेइ।
कि मन्ने एस चक्की ? जह दाणि दुब्बलो अहयं॥

—आवश्यकभाष्य गा० ३३

(ख) आवश्यक चूर्णि २१०

(ग) महापुराण ३६।६५-६६, भा० २, पृ० २०५

सहसा यक्ष राजाओं ने उनके हाथों में चिन्तामणिरत्न के समान चक्र-रत्न दिया।

आवेश में आकर और मर्यादा को विस्मृत कर बाहुबली के शिर-श्छेदन करने हेतु भरत ने चक्र का प्रयोग किया। भरत का यह अन्तिम और अचूक अस्त्र था। दर्शकगण साश्चर्य देखने लगे, और सोचने लगे, अब बाहुबली नहीं बच सकेंगे। बाहुबली भी चक्र को अपनी ओर आते देख एक-क्षण स्तम्भित से रह गये, भाई का घोर अन्याय उनके लिए असहनीय था, उनका खून उबल पड़ा। बाहुबली ने उछलकर चक्र को पकड़ना चाहा, पर चक्र बाहुबली की प्रदक्षिणा कर पुनः भरत के पास लौट आया। बाहुबली का बाल भी बांका न हुआ।[1] यह देख सभी सन्न रह गये। बाहुबली की विरुदावली से भू-नभ गूंज उठा। मारने की क्रिया में विषधारी सर्प के विषवत् एक ही अमोघ अस्त्र, जिस पर चक्रवर्ती को अभिमान था निष्फल चला गया, तो चक्रवर्ती सम्राट् भरत अपने दुष्कृत्य पर लज्जित हो गये।[2]

अनल के संयोग से जैसे शीतल जल उष्ण होने लगता है, उसी प्रकार रोषारुण हो बाहुबली ने भरत और चक्र को प्रेत्यधाम पहुँचाने के लिये अपनी प्रबल मुट्ठी उठाई। उसे देख लाखों कण्ठों से ये स्वर लहरियाँ फूट पड़ीं—'सम्राट् भरत ने भूल की है, पर आप भूल न करें। लघु-भाई के द्वारा बड़े भाई की हत्या अनुचित ही नहीं, अत्यन्त अनुचित है। महान पिता के पुत्र भी महान् होते हैं। क्षमा कीजिये, क्षमा करने वाला कभी छोटा नहीं होता।'

बाहुबली का रोष शांत हुआ। वे अपने कृत्य पर विचार करने लगे, धीरे-धीरे विवेक जागृत हुआ और उठा हुआ हाथ भरत पर न पड़कर

---

१ एवं विमृशतस्तक्षशिलाभर्तुरूपेत्य तत्।
चक्रं प्रदक्षिणां चक्रमन्तेवासी गुरोरिव॥
न चक्रं चक्रिणः शक्तं, सामान्येऽपि स्वगोत्रजे।
विशेषस्तु चरमशरीरे नरि तादृशे॥

—त्रिषष्टि० १।५।७२२-७२३

२ त्रिषष्टि० १।५।७४६

स्वयं के सिर पर ही आ गया। वे मस्तक केश लुञ्चन कर श्रमण बन गये। राज्य को ठुकराकर पिता के चरण-चिह्नों पर चल पड़े।[1]

बाहुबली का महान् त्याग

बाहुबली के दीक्षित हो जाने पर चक्र स्वयं आयुधशाला में प्रविष्ट हो गया। भरत के दिग्विजय की आशा परिपूर्ण हो गई। वे षट्खण्ड पृथ्वी के स्वामी बन गये। शासन व्यवस्था भी सुचारू रूप से चलने लगी।

बाहुबली का त्याग निश्चित रूप से एक महान् व आदर्श त्याग था। विजयश्री उनके हाथों में अठखेलियाँ कर रही थी, सम्पूर्ण पृथ्वी के स्वामी बनने में कोई कसर नहीं रह गई थी, ऐसे समय में विराट् वैभव ठुकराकर चले जाना बड़ा भारी त्याग है। बाहुबली का महान त्याग विश्व के लिये आदर्श रूप है। वह हजारों-हजारों वर्ष तक विश्व को त्याग का संदेश देने में सुन्दर उदाहरण है।

सफलता नहीं मिली

बाहुबली के पैर चलते-चलते रुक गये वे पिता श्री के चरण में नहीं पहुँच सके। पूर्व दीक्षित लघु-भ्राताओं को नमन करने की बात स्मृति में आते ही उनके चरण एकान्त शान्त कानन में ही स्तब्ध हो गये। असन्तोष पर विजय पाने वाले बाहुबली अस्मिता से पराजित हो गये। एक वर्ष तक हिमालय की तरह अडोल ध्यान-मुद्रा में अवस्थित रहने पर भी केवलज्ञान का दिव्य-आलोक प्राप्त नहीं हो सका। शरीर पर लताएं चढ़ गईं, पक्षियों ने घोंसले बना लिये, पैर वल्मीकों (बाँबियों) से वेष्टित हो गए, तथापि सफलता नहीं मिली।[2]

---

१ इत्युदित्वा महासत्त्वः सोऽग्रणीः शीघ्रकारिणाम्।
तेनैव मुष्टिना मूर्ध्नं, उद्दध्रे तृणवत् कचान्॥
सोऽप्येवं चिन्तयामास प्रतिपन्नमहाव्रतः।
किं तातपादपार्श्वान्तमहं गच्छामि सम्प्रति? —त्रिषष्टि० १।५।७४०,७४२

२ (क) शरीरमधिरूढैस्तैलम्बमानैर्भुजंगमैः।
बभौ बाहुबलिर्बाहुसहस्रमिव धारयन्॥
पादपर्यंतवल्मीकविनिर्यातैर्महोरगैः।
पादयोर्वेष्टयांचक्रे स पादकटकैरिव॥
इत्थं स्थितस्य ध्यानेन तस्यैको वत्सरो ययौ।
विनाऽऽहारं विहरतो वृषभस्वामिनो यथा॥ —त्रिषष्टि० १।५।७७६-७७८

बाहुबली को केवलज्ञान

भगवान ऋषभदेव ने एक दिन बाहुबली की उत्कट तपश्चर्या के विषय में वर्णन करते हुए ब्राह्मी-सुन्दरी को कहा—बाहुबली की तपश्चर्या महान है। उसने अपने अनन्तानन्त पूर्वोपार्जित कर्मों को ध्यान व तपश्चर्या की अग्नि में होम कर भस्मीभूत कर दिये हैं। वह कृष्णपक्ष का शुक्लपक्ष हो गया है। संसार सागर के एकदम तट पर आ पहुँचा है। तथापि मुक्ति के लिए प्रतिबन्धक स्वरूप अल्पतम मान-कषाय शेष रह जाने से वह केवलज्ञान प्रकट नहीं कर पा रहा है, तुम दोनों उसके पास जाओ, तुम्हारा निमित्त पाकर वह अभिमान को छोड़ देगा व अनुत्तर केवलज्ञान, केवल-दर्शन को प्रकट करेगा।

भगवान के द्वारा प्रेरित होकर दोनों बहनें बाहुबली में अन्तर्ज्योति जगाने उस भयानक जंगल में चल पड़ीं, जहाँ बाहुबली अडोल, स्थिर ध्यान में अचल खड़े थे। लताओं और बाँबियों से वेष्टित होने के कारण भगिनीद्वय बहुत कठिनाई से पहचान पाईं। उन दोनों ने बाहुबली को नमन किया और संगीत के स्वर में बोली—

'वीरा म्हारा गज थकी उतरो।
गज चढ्याँ केवल नहीं होसी रे।'[1]

ये शब्द बाहुबली के कर्ण-कुहरों में गिरे, एक वर्ष से जो अनवरत एकाग्र ध्यान-साधना चल रही थी, वह सहसा टूटी, चिन्तन का प्रवाह

(ख) आवश्यकचूर्णि, पृ० २१०
(ग) आवश्यकमलयगिरि वृत्ति पृ० २३२-१

१ (क) निपुणं लक्षयित्वा तं कृत्वा त्रिश्च प्रदक्षिणाम्।
महामुनिं बाहुबलिं, ते वन्दित्वैवमूचतुः॥
आज्ञापयति तातस्त्वां ज्येष्ठार्य ! भगवानिदम्।
हस्तिस्कन्धाधिरूढानामुत्पद्येत न केवलम्॥
—त्रिषष्टि० १।५।७८७–७८८

(ख) आवश्यकचूर्णि पृ० २१०-२११
(ग) आवश्यकमलयगिरिवृत्ति पृ० २३२
(घ) कल्पलता, समयसुन्दर पृ० २११।१
(ङ) कल्पद्रुमकलिका लक्ष्मी० पृ० १५२
(च) कल्पार्थबोधिनी पृ० १४४-१४५

बदला, कहाँ है यहाँ हाथी ? मुझे सर्व-सावद्य योगों का प्रत्याख्यान किये एक वर्ष व्यतीत हो गया, भूमि पर खड़ा हुआ ध्यान में स्थिर हूँ, मैंने कौनसे गज की असवारी कर रक्खी है ? ये दोनों बहनें इस घोर विपिन में किसलिए आई हैं ?' चिन्तन की चाँदनी में उनके विचारों का मोड़ सहसा परिवर्तित हुआ। वास्तविक तथ्य उनके हाथ लगा—"ये साध्वियाँ यथातथ्यभाषिणी हैं, मैं ही गलत राह पर हूँ। मान हाथी है और मैं उस पर आरूढ़ हूँ। मैं व्यर्थ ही अवस्था के भेद में उलझ गया। मेरे भाई वय में भले ही मुझ से छोटे हैं, पर चारित्रिक दृष्टि से बड़े हैं। मुझे नमन करना चाहिए।" नमन करने की भावना से ज्यों ही पैर उठे, कि बन्धन टूट गये, केवलज्ञान केवलदर्शन की ज्योति जल उठी, वे सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बन गये। विनय ने अहंकार को पराजित कर दिया। केवली बनकर वे भगवान के चरणों में पहुँचे। भगवान श्री ऋषभदेव को और तीर्थ को नमस्कार कर केवलीपरिषद् में बैठ गये।[1]

आचार्य श्री जिनसेन ने प्रस्तुत घटना का उल्लेख अन्य प्रकार से किया है—बाहुबली श्रमण बनकर एक वर्ष तक ध्यानस्थ रहे। भरत के अकृत्य का विचार उनके अन्तर्मानस में बना रहा। जब एक वर्ष के पश्चात् भरत आकर उनकी अर्चना करते हैं, तब उनका हृदय निःशल्य बनता है और केवलज्ञान उत्पन्न होता है।[2]

ब्राह्मण वर्ण की उत्पत्ति

ब्राह्मण वर्ण की स्थापना सम्राट् भरत ने की थी।[3] स्थापना का इतिवृत्त बताते हुए आवश्यकनिर्युक्ति, आवश्यकचूर्णि, आवश्यक मलय-

---

१ (क) प्रदक्षिणां तीर्थकृतो विधाय तीर्थाय नत्वा च जगन्नमस्यः।
महामुनिः केवलिपर्षदन्तस्तीर्णप्रतिज्ञो निषसाद सोऽथ ॥
—त्रिषष्टि० १।५।७९८

(ख) आवश्यकभाष्य गा० ३५

२ संक्लिष्टो भरताधीशः सोऽस्मत्त इति यत्किल।
हृद्यस्य हार्दं तेनासीत् तत्पूजाऽपेक्षि केवलम् ॥
—महापुराण जिन० ३६।१८६।२१७

३ (क) त्रिषष्टि० १।६

(ख) आवश्यकमलयगिरिवृत्ति पृ० २३५।१

(ग) आवश्यकचूर्णि पृ २१२-२१४

गिरिवृत्ति, आवश्यकहारिभद्रीयावृत्ति, त्रिषष्टिशलाका महापुरुष चरित्र और कल्पसूत्र की टीकाओं लिखा है, कि—

सम्राट् भरत के सभी अनुज सम्राट् भरत की अधीनता स्वीकार न कर भगवान ऋषभदेव के पास प्रव्रज्या ग्रहण कर लेते हैं। प्रव्रजित होने के पश्चात् भरत अत्यन्त पश्चात्ताप करते हैं। अपने द्वारा किये गये पापों की पर्यालोचना करते हुए वे सोचते हैं—मैंने बहुत जघन्य व अकृत्य कार्य किया। मेरी तृष्णा का समुद्र के समान कोई थाह नहीं। मैंने अपने लघु-बन्धुओं के राज्य हड़प लिये, और स्वयं समग्र राज्य का मालिक बनकर बैठ गया। धिक्कार है मेरी लालसा को। पर अब उसके पश्चात्ताप स्वरूप मुझे क्या करना चाहिये? क्या उनका राज्य उन्हें वापिस लौटा दूं? शायद मेरे द्वारा विनीत अभ्यर्थना किये जाने पर राज्य ग्रहण करलें और मैं इस ऋण से मुक्त बन सकूं। यह पवित्र भावना लेकर सम्राट् भरत अपने लघु भ्राताओं के समीप गये और पुनः राज्य स्वीकार करने की अभ्यर्थना की।

अनुज भ्राताओं ने भरत से कहा—बन्धुप्रवर! तुम्हारी भावनाएँ श्रेष्ठ हैं। सुबह का भूला सायंकाल भी स्वगृह में लौट आये तो वह भूला नहीं कहलाता। तुम्हारी आत्मा तुम्हें तिरस्कृत कर रही है और तुमने अपनी भूल को विवेकपूर्वक पकड़ा है, इस रूप में तुम सुलभ-बोधि हो। पर, हमने पञ्च महाव्रतों को यावज्जीवन के लिए ग्रहण कर लिया है। अब त्यक्त राज्य को वमन की तरह ग्रहण करने की हमारी इच्छा नहीं है।

भरत ने शतशः बार आग्रह किया किन्तु जिसे अक्षय साम्राज्य प्राप्त हो गया हो, वह इस तुच्छ और क्षणिक राज्य में कैसे मोहित हो सकता है। भरत की हार्दिक अनुनय-विनय भी उनके विराग को दबाने में सक्षम नहीं हो सकी।

निराश हो भरत ने सोचा—यद्यपि ये त्यक्त राज्य का उपभोग नहीं कर सकते तथापि देह-धारण हेतु आहार तो ग्रहण करेंगे ही। क्यों नहीं, मैं विपुल भोजन बनाकर उनकी सेवा में प्रस्तुत करूं?" सम्राट् भरत ने भ्राताओं को भोजन कराने हेतु पाँच सौ शकटों में विविध भोजन-सामग्री मँगवायी और उन्हें भोजन ग्रहण करने के लिये आमंत्रित किया, पर भगवान ने आधाकर्म—साधु के लिये बनाया गया आहार कहकर उस भोजन का श्रमण-निर्ग्रन्थों के लिये निषेध कर दिया। भरत ने अपने लिए निष्पन्न

भोजन में से ग्रहण करने की अभ्यर्थना की, लेकिन भगवान ने एषणा समिति के दोष बताकर राज्यपिण्ड भी श्रमणों के लिये त्याज्य बताया। भरत अत्यन्त निराश हुए। वे उस भोजन को वापिस ले जाना नहीं चाहते थे। शक्रेन्द्र ने उनके मनोगत भावों को जानकर कहा—भरतेश्वर! खेद नहीं करो। यह भोजन विशिष्ट गुण-सम्पन्न पुरुषों में वितरित कर दो। शक्रेन्द्र के निर्देशानुसार वह भोजन विशिष्ट श्रावकों को प्रदान किया।

सम्राट् भरत ने उन प्रमुख विरक्त श्रावकों को प्रतिदिन अपने भोजनालय में ही भोजन-हेतु निमंत्रण दिया, और उन्हें यह आदेश दिया कि तुम सांसारिक प्रवृत्तियों का परित्याग कर स्वाध्याय, ध्यान आदि में तल्लीन रहो। तथा नित्य-प्रति मुझे यह उपदेश देते रहो कि—**'जितो भवान्, वर्धते भयं, तस्मात् मा हन मा हन'** अर्थात् आप जीते जा रहे हैं, भय बढ़ रहा है, एतदर्थ आप किसी का हनन न करें। उन श्रद्धालु श्रावकों ने भरत के आदेश एवं निर्देशानुसार प्रस्तुत कार्य स्वीकार किया। भोजन के अनन्तर विश्रान्ति के समय उच्च-स्वर में वे इस मंत्र का उच्चारण करते। इस मंत्र का श्रवण करते ही सम्राट् भरत, जो राज्य-व्यवस्था में आकण्ठ-निमग्न रहते थे, वे सोचते 'ये धार्मिक पुरुष मुझे प्रतिबोधित कर रहे हैं कि मैं आत्म-हनन न करूं! कौन-सा ऐसा शुभ दिवस होगा, तब मैं भी प्रमाद और विषय-वासना से उपरत होकर धर्मोन्मुख होऊँगा।' इस प्रकार चिन्तन की वेला में भरत ने उनके स्वाध्याय हेतु आर्य वेदों का निर्माण किया।[1]

जब भोजनलुब्धक श्रावकों की संख्या दिन-दूनी और रात-चौगुनी बढ़ने लगी, सच्चे श्रावकों के साथ कर्त्तव्य-विमुख व्यक्ति भी चक्रवर्ती के आवास पर पहुँचने लगे तथा श्रावकों के समान ही आदर-सत्कार से युक्त हो भोजन व अन्य जीवनोपयोगी साधनों को प्राप्त करने लगे तो एक दिन रसोइये ने सम्राट् के पास आकर सही वस्तु-स्थिति निवेदित करते हुए कहा—महाराज! आजकल भोजन करने वालों की संख्या बढ़ती जा रही है, जिन्हें धर्म-सम्बन्धी कुछ भी जानकारी नहीं है, वे भी आप द्वारा रटे-रटाये पाठ का उच्चारण कर मौज से जिन्दगी व्यतीत कर रहे हैं। ऐसे मुफ्त में खाने वाले अविवेकी श्रावकों के लिये कुछ प्रतिबन्ध होना चाहिए।

---

१ 'वेदे कासीयत्ति' आर्यान् वेदान् कृतवांश्च भरत एव तत्स्वाध्याय निमित्तमिति।
—आवश्यकनिर्युक्तिमलयगिरिवृत्ति ३६६।२३६

सम्राट् भरत ने यह सुनकर रसोइये को कहा—तुम भी श्रावक हो, धर्म को अच्छी तरह समझते हो, अतः कौन श्रावक है और कौन नहीं इसकी परीक्षा प्रथम तुम स्वयं कर पश्चात् मेरे पास ले आया करो।

रसोइये ने महाराज भरत की आज्ञा को शिरोधार्य किया। अब वह भोजन के लिए आने वाले श्रावकों की धर्म-सम्बन्धी परीक्षा लेता, श्रावक के लक्षण पूछता तथा पञ्च महाव्रतों, अणुव्रतों और सात शिक्षाव्रतों के विषय में विभिन्न शंकाएँ प्रस्तुत करता। जिस पर उसे पूर्ण विश्वास होता, कि यह श्रावक सच्चा है उसे सम्राट् भरत के पास ले जाता अन्य बने-बनाये श्रावकों को वहीं से निकाल देता।

सम्राट् भरत अपने काकिणी रत्न से प्रत्येक श्रावक के वक्षःस्थल पर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के प्रतीक रूप में यज्ञोपवीत की तरह तीन रेखायें खींच देते।[1] हर छठे महिने उन श्रावकों की परीक्षा ली जाती थी और उनके वक्ष पर तीन रेखायें चिह्नित कर दी जातीं।[2] इससे रसोइये को पहचानने में सुविधा हो गयी तथा बेकारी बढ़ने से रुक गई। 'माहण' का उपदेश देने से वे 'ब्राह्मण' कहलाये और वे रेखाएं आगे चलकर यज्ञोपवीत के रूप में प्रचलित हो गयीं।

सम्राट् भरत द्वारा प्रचलित यह व्यवस्था सर्वथा नवीन थी। इसमें प्रवेश पाने वाले स्वाध्याय, ध्यान, मनन, चिन्तन में अपना समय व्यतीत करते थे। जो पूर्ण महाव्रती बनने में असमर्थ था वह वर्ग इस पंक्ति को अपनाने लगा।

भरत द्वारा संस्थापित इस परम्परा का सूर्ययश, महायश, अतिबल, बलभद्र, बलवीर्य, कीर्तिवीर्य, जलवीर्य और दण्डवीर्य आदि आठ उत्तराधिकारियों ने पालन किया।[2]

भरत राजा की जगह जब उनका पुत्र सोमयश गद्दी पर बैठा तब चक्रवर्तीत्व के अभाव में उसके पास काकिणी रत्न नहीं रहा अतः उसने तीन तार वाला स्वर्णमयी यज्ञोपवीत बनवाकर देना प्रारम्भ किया।

---

१ (क) ज्ञानदर्शनचारित्रलिङ्ग रेखात्रयं नृपः।
वैकक्ष्यमिव काकिण्या विदधे शुद्धिलक्षणम्॥ —त्रिषष्टि० १।६।२४१

(ख) आवश्यकचूर्णि, पृ० २१४

२ त्रिषष्टि० १।६।२४२

महायशा के समय 'यज्ञोपवीत चांदी का बना फिर क्रमशः रेशम के धागों का व रुई के धागों का यज्ञोपवीत बनने लगा।[1] आठों ही राजाओं ने अर्ध भरत क्षेत्र तक अपना राज्य चलाया और इन्द्र द्वारा प्रदत्त मुकुट जो सम्राट् भरत के लिए था; उसे भी धारण किया। पर पश्चात्वर्ती राजा, बहुत भारी होने से उस मुकुट को धारण नहीं कर सके, क्योंकि हाथी का भार हाथी ही उठा सकता है, अन्य नहीं।[2] नवें और दसवें तीर्थंकरों के मध्य में साधुओं का विच्छेद हो गया और इसी तरह उनके बाद सात तीर्थंकरों के अन्तर में शासन विच्छेद हुआ, उस समय धर्ममय वेद जिनकी भरत चक्रवर्ती ने रचना की थी; उनमें परिवर्तन हो गया और सुलभा एवं याज्ञवल्क्य आदि के द्वारा अनार्य वेद निर्मित हुए।[3]

महापुराण के अनुसार सम्राट् भरत षट्खण्ड पर दिग्विजय प्राप्त कर और अपारधन लेकर जब अयोध्या लौटे तो उनके मानस में यह संकल्प उत्पन्न हुआ, कि इस विराट् धन का त्याग कहाँ करना चाहिए ?[4] इसका पात्र कौन व्यक्ति हो सकता है ? प्रतिभामूर्ति भरत ने शीघ्र ही निर्णय किया, कि ऐसे विलक्षण व्यक्तियों को चुनना चाहिए, जो तीनों वर्णों को चिन्तन-मनन का आलोक प्रदान कर सके।

सम्राट् भरत ने एक विराट् उत्सव का आयोजन किया। उसमें देश के प्रत्येक नागरिक को निमंत्रित किया। विज्ञों की परीक्षा के लिए महल के मार्ग में हरी घास, फल, फूल लगा दिये। जो व्रतरहित थे, वे उस पर होकर महल में पहुँच गये और जो व्रती थे, वे वहीं स्थित हो गये।[5]

सम्राट् ने महल में न आने का कारण पूछा तो उन्होंने बताया, कि देव ! हमने सुना है, कि 'हरे अंकुर आदि में अनन्त निगोदिया जीव रहते

---

१ त्रिषष्टि० १।६।२५०

२ 'हस्तिभिर्हस्तिभारो हि वोढुं शक्येत नापरैः।' —त्रिषष्टि० १।६।२५४

३ त्रिषष्टि० १।६।२५६

४ कृतकृत्यस्य तस्यान्तश्चिन्तेयमुदपद्यत।
परार्थसम्पदास्माकी सोपयोगा कथं भवेत्॥ —महापुराण ४-५।३८।२४०

५ तेष्वव्रता विना संगात् प्राविक्षन् नृपमन्दिरम्।
तानेकतः समुत्सार्य शेषानाह्वययत् प्रभुः॥

—महापुराण १२।३८।२४०

हैं, जो नेत्रों से भी नहीं निहारे जा सकते।[1] यदि हम आपके पास प्रस्तुत मार्ग से आते हैं, तो जो शोभा के लिए नानाप्रकार के सचित्त फल-फूल और अंकुर बिछाये गये हैं, उन्हें रौंदना पड़ता है तथा बहुत से हरित-काय जीवों की हत्या होती है।" सम्राट् ने अन्य मार्ग से उनको अन्दर बुलवाया। और उनकी दयावृत्ति से प्रभावित होकर उन्हें 'माहण' की संज्ञा दी और दान-मान आदि सत्कार से सम्मानित किया।[2]

एकबार भरत चक्रवर्ती ने भगवान से ब्राह्मण वर्ग की उत्पत्ति के लाभालाभ के विषय में जिज्ञासा प्रस्तुत की तो भगवान् ने कहा—भरत! तूने यह व्यवस्था सदभिप्राय से की है किन्तु कालान्तर में यह वर्ण अहंकार का पोषण करने वाला और प्रजा के लिए अहितकर सिद्ध होगा। कभी-कभी शुभ भावनाओं से किया गया कार्य सुदूर भविष्य में जाकर निन्द्य भी बन जाता है।

पउमचरियं में ब्राह्मण वर्ण की उत्पति का अन्य हेतु निर्दिष्ट किया है—

एकबार सम्राट् भरत ने गृहस्थाचार का पालन करने वाले सभी लोगों को अपने भोजनालय में भोजन-हेतु आमंत्रित किया, उनके साथ अनेकों मिथ्यादृष्टि भी आ गये। भरत ने परीक्षा हेतु जौ, यव, शाली आदि धान्य प्रमुख मार्गों पर बिखेर दिये थे। सम्यग्दृष्टि धान्य को देखकर राजभवन की ओर नहीं आए, उस पर भरत ने काकिणी-रत्न द्वारा श्रावकों के लिये सूत्र का निर्माण किया। कुछ ही दिनों में अन्न-पानादि से पूजित उन श्रावकों को अभिमान हो आया, कि बस अब तो हम कृतकृत्य हो गये हैं।

एक बार परिषद के बीच मतिसागर ने भरत महाराज से कहा—भगवान ने जैसा कहा वह तुम सुनो—जिन प्रथम श्रावकों का तुमने सम्मान किया है, वे वीर भगवान का अवसान होने पर नास्तिक एवं पाखण्डी हो जाएँगे। मिथ्या वाक्यों से युक्त वेद नामक शास्त्र का निर्माण करके तथा मात्र हिंसा का उपदेश देकर यज्ञों में मूक प्राणियों का वध करेंगे।' यह सुनकर

---

१ सन्त्येवानन्तशो जीवा हरितेष्वङ्कुरादिषु।
निगोता इति सार्वज्ञ देवास्माभिः श्रुतं वचः॥ —महापुराण १३।३८।२४१

२ इति तद्वचनात् सर्वान् सोऽभिनन्द्य दृढव्रतान्।
पूजयामास लक्ष्मीवान्, दानमानादिसत्कृतैः॥ —महापुराण २०।३८।२४१

सम्राट् भरत अत्यन्त कुपित हुए, और सभी को नगर-निर्वासित करने की आज्ञा दे दी जो श्रावक पहले सम्राट् भरत द्वारा सम्मानित थे, वही लोगों द्वारा प्रताड़ित होने लगे और श्री ऋषभदेव की शरण में आये। उस समय भगवान ऋषभदेव ने सम्राट् भरत को कहा—'पुत्र! इन्हें मत मार' (मा हण) भगवान के श्रीमुख से निकले हुए वचनों से वे 'माहण' (ब्राह्मण) कहलाने लगे।[1]

कुछ अर्वाचीन कवियों ने व लेखकों ने भरत के प्रबुद्ध होने के एक अन्य उपक्रम का भी वर्णन किया है, चक्रवर्ती भरत की विरक्त भावना का निरूपण करते हुए लिखा है, कि—भरत ने अपने प्रमुख आवास-स्थान पर एक घड़ी लगवायी। वह घड़ी एक-एक घण्टे के पश्चात् बजायी जाती थी, उसकी आवाज सुनकर भरत के अन्तरमानस में सहज ही ये विचार उद्भुत होते थे कि 'मेरा जीवन एक घड़ी अल्प हो गया; अतः मुझे राज्य श्री का परित्याग कर वैराग्य-भाव की ओर कदम बढ़ाना चाहिये। परन्तु धीरे-धीरे घड़ी की आवाज उनके लिये सहज बन गई और उस ध्वनि-श्रवण से उत्पन्न होने वाली वैराग्य भावना की जागृति भी मन्द होते-होते क्रमशः अवरुद्ध हो गई। चक्रवर्ती भरत ने अपने विचारों में निस्संग भावना का बल भरने के लिये एक विशेष प्रयत्न और किया—जब वे राज्य-सिंहासन पर आरूढ़ होते, तो दो विशेष नियुक्त व्यक्ति उच्च स्वर से उद्घोषणा करते 'चेत भरत चेत' इससे भरत की अनासक्त भावनाओं को उत्तेजना मिलती थी।[2]

अनासक्त भरत

भरत ने अपने भ्राताओं के साथ जो व्यवहार किया था, उससे वे स्वयं लज्जित थे। भ्राताओं को गँवाकर राज्य प्राप्त कर लेने पर भी उनके अन्तर्मानस में शान्ति नहीं थी। विराट् राज्य-वैभव का उपभोग करने पर भी वे उसमें आसक्त नहीं थे। सम्राट् होने पर भी वे साम्राज्यवादी नहीं थे।

एकबार भगवान श्री ऋषभदेव अपने शिष्यवर्गसहित विनीता के बाग में पधारे। जनसमूह धर्मदेशना श्रवण करने को आया। प्रवचन

---

१ पउमचरियं ४।७७-८४
२ 'भरतचरित'

परिषद में ही एक सज्जन ने भगवान से प्रश्न किया—'भगवन् ! क्या भरत मोक्षगामी है ?' वीतराग भगवान ने कहा—'हाँ ! प्रश्नकर्ता ने कहा—आश्चर्य है—'भगवान होकर भी पुत्र का पक्ष लेते हैं।'

भरत ने सुना और सोचा—भगवान पर यह झूठा आरोप लगा रहा है, अतः मुझे इसको शिक्षा देनी चाहिये। दूसरे ही दिन उस व्यक्ति को फाँसी की सजा दी गई। फांसी की सजा सुनकर वह घबराया, भरत के चरणों में गिरा, गिड़गिड़ाया और अपराध के लिये क्षमा मांगने लगा।

भरत ने कहा—तैल से परिपूरित कटोरे को लेकर विनीता के बाजारों में घूमो। पर, स्मरण रखना, एक बूंद भी नीचे न गिरने पाये। नीचे गिरते ही फांसी के तख्ते पर लटका दिये जाओगे। यदि एक बूंद भी नीचे नही गिरेगी तो तुम्हें मुक्त कर दिया जाएगा।

अभियुक्त सम्राट् के आदेशानुसार सारी नगरी में घूमकर लौट आया।

सम्राट् ने प्रश्न किया—'क्या तुम नगर में घूमकर आये हो ?'

अभियुक्त ने विनीत मुद्रा में कहा—हाँ महाराज !

सम्राट् ने प्रश्न किया—नगर में तुमने क्या-क्या देखा ?

अभियुक्त ने निवेदन किया—कुछ भी नहीं देखा भगवन् !

सम्राट् ने पुनः पूछा—क्या नगर में जो नाटक हो रहे थे, वे तुमने नहीं देखे ? क्या नगर में जो संगीत मण्डलियाँ यत्र-तत्र संगीत गा रही थीं, उन्हें तुमने नहीं सुना ?

अभियुक्त ने कहा—राजन् ! जब मौत नेत्रों के सामने नाच रही हो, तब नाटक कैसे देखे जा सकते हैं ? और जब मौत की गुनगुनाहट कर्णकुहरों में चल रही हो, तब गीत कैसे सुने जा सकते हैं ?

सम्राट् ने मुस्कराते हुए कहा—क्या मृत्यु का इतना अधिक भय है ?

अभियुक्त ने कहा—सम्राट् को इसका क्या पता ? यह तो मृत्यु-दण्ड पाने वाला ही अनुभव कर सकता है।

सम्राट् ने उपयुक्त निशाना लगा देखकर कहा—तो क्या समाट् अमर है ? उसे मृत्यु का साक्षात्कार नहीं करना पड़ेगा ? तुम तो एक जीवन की मृत्यु से ही इतने अधिक भयाक्रान्त हो गये, कि आँखों के समक्ष नाटक होने पर भी नाटक नहीं देख सके और कानों के पास संगीत की सुमधुर स्वर लहरियां झनझनाने पर भी संगीत नहीं सुन सके। परन्तु,

बन्धु ! तुम्हें यह ज्ञात होना चाहिए, कि मैं तो मृत्यु की दीर्घ परम्परा से परिचित हूँ, अतः मुझे अब साम्राज्य का विराट् सुख भी नहीं लुभा पा रहा है। मैं तन से गृहस्थाश्रम में हूँ, पर मन से उपरत हूँ।

अभियुक्त को अब भगवान् के सत्य कथन पर शंका नहीं रही। उसे अपना अपराध समझ में आ गया। उसे मुक्त कर दिया गया।[1]

सर्वज्ञ की वाणी सत्य है

श्वेताम्बर आचार्यों ने भरत के अनासक्ति योग का वर्णन करते हुए लिखा है, कि ऋषभसेन गणधर ने भगवान से प्रश्न किया—'भन्ते ! षट्खण्ड का अधिपति चक्रवर्ती भरत अल्पारम्भी है या बह्वारम्भी ? इनकी गति कौनसी है ?

भगवान ने उत्तर दिया—आयुष्मन् ! भरत अल्पारम्भी है और चरमशरोरी है अर्थात् इसी भव में मुक्त होने वाला है।

भगवान के द्वारा किया गया समाधान जल में तेल-बिन्दु की तरह अतिशीघ्र ही सारे शहर में फैल गया। कुछ यह सुनकर प्रसन्न हुए और कुछ उपहास भी करने लगे। एक बार सम्राट् भरत के समक्ष, नगर-रक्षक ने एक चोर को उपस्थित किया। उसका अपराध प्रमाणित हो चुका था अतः उसे मृत्यु दण्ड देने की घोषणा कर दी। मृत्यु-दण्ड की सजा सुनकर चोर गिड़गिड़ाने लगा और अपने अपराध की क्षमा मांगने लगा। दुबारा ऐसा अपराध न करने का विश्वास भी दिलाया। करुणाशील चक्रवर्ती भरत ने यह सोचकर कि चोरी के त्याग के साथ चोरपना स्वतः नष्ट हो जाता है अतः अपराधी को मुक्त कर दिया।

दण्ड-मुक्त हो जाने से चोर अति प्रसन्न हुआ पर चोरी करनी नहीं छोड़ी, एकबार वह पुनः उसी अपराध में पकड़ लिया गया। नगररक्षकों ने उसे सम्राट् भरत के समक्ष उपस्थित कर दिया। अपराध की पुनरावृत्ति देखकर सम्राट् अत्यन्त क्रुद्ध हुए, उन्होंने इस बार चोर को मृत्यु-दण्ड सुना दिया। यह घटना भी शहर में फैल गई। अपराधी-मनोवृत्ति के लोगों को इस दण्ड से शिक्षा मिली, पर कुछ विद्वेषी व्यक्तियों ने इस घटना को दूसरे ही रूप में बदल दी। उन्होंने कहा—वीतराग प्रभु के घर में भी साक्षात् पक्षपात है। सम्राट् भरत ने अनेकों युद्ध लड़े, लाखों का जनसंहार उसके हाथों

---

1 ज्वाहरणमाला—आचार्य जवाहरलालजी महाराज

से हुआ, षट्खण्डाधिपति बनकर वह भोगों में आसक्त है, प्राणियों की हत्या करने में तनिक भी नहीं सकुचाते। चोर का मृत्युदण्ड इसका प्रमाण है। अतः ऐसी अवस्था में सम्राट् अल्पारम्भी कैसे हो सकते हैं, और कैसे वे चरमशरीरी हैं ?

एक व्यक्ति ने तो खुल्ले रूप में यह आलोचना की। भरत ने वस्तु-स्थिति का परिज्ञान कर सार्वजनिक आलोचना के अभियोग में उस पुरुष को तैल से भरे हुए लबालब कटोरे को हाथ में देकर सारी नगरी में चक्कर काटने की आज्ञा दी, और इस रूप में सारी नगरी को अपनी अनासक्ति का परिचय दिया।[१]

न्यायप्रिय सम्राट् भरत

सम्राट् भरत की न्याय-प्रियता को व्यक्त करने वाली एक घटना आचार्य जिनसेन ने दी है। उस समय काशी जनपद की राजधानी बनारस में राजा अकम्पन था। उसकी एक कन्या सुलोचना थी जिसके रूप लावण्य की कीर्ति चारों ओर फैल रही थी। राजा को अपनी इस कन्या के विवाह की चिन्ता सताने लगी। मंत्रियों से उसने परामर्श किया, किसी ने उसे विद्याधर के साथ विवाह करने की सलाह दी, किसी ने कहा कि सम्राट् भरत के पुत्र अर्ककीर्ति के साथ विवाह कर दिया जाय। तो किसी ने कहा कि कन्या का स्वयंवर किया जाय उसमें सभी राजकुमारों को बुलाया जाय कन्या जिसे अपनी इच्छा से पसन्द करे उसी के साथ उसका विवाह कर दिया जाय।

राजा अकंपन को स्वयंवर की बात पसन्द आई, उसने सभी राजाओं को सूचना भिजवा दी। नियत समय पर सभी राजागण, राज-कुमार बनारस पहुँचे। राजा अकम्पन ने सभी का हृदय से स्वागत किया।

उस स्वयंवर में चक्रवर्ती सम्राट् भरत का पुत्र अर्ककीर्ति भी आया था और हस्तिनापुर के राजा सोमप्रभ का पुत्र जयकुमार भी आया था। स्वयंवर के दिन सभी राजागण अपने-अपने नियत स्थानों पर आसीन हो गये।

सुलोचना स्वयंवर मण्डप में पहुँची। सुलोचना के भव्य रूप को

---

१ (क) उदाहरणमाला—जवाहर किरणावली, खण्ड १
(ख) जैन इतिहास की प्राचीन कथाएँ, पृ० ३१

निहार कर सभी मुग्ध हो गये। वह मन्द-मन्द गति से आगे बढ़ रही थी। जहाँ पर वह रुकती वहाँ आशा का संचार हो जाता किन्तु ज्यों ही वह आगे बढ़ती त्यों ही आशा पर निराशा का मलिन आवरण छा जाता।

सुलोचना ने हस्तिनापुर के राजकुमार जयकुमार को देखा तो वह ठगी-सी रह गई। उसका उन्नत ललाट, तेजस्वी मुखमण्डल, विशाल वक्ष, सुदृढ़ और बलशाली भुजाएँ देखते ही बनती थी। उसने जयकुमार के गले में वरमाला डाल दी। चारों ओर प्रसन्नता का वातावरण फैल गया।

राजकुमार अर्ककीर्ति का चेहरा मुरझा गया। उसने ज्यों ही अपने आवास में प्रवेश किया त्यों ही उसके एक सेवक ने कहा—राजकुमार! आज तो आपका भयंकर अपमान हुआ है। राजा अकम्पन ने स्वयंवर में आपको बुलाया और फिर उसने सुलोचना के साथ आपका विवाह नहीं कराया क्या यह महान अपमान नहीं है?

राजकुमार अर्ककीर्ति ने कहा—इसमें अपमान का कोई प्रश्न नहीं है। सुलोचना ने मुझे इस योग्य नहीं समझा।

दुर्मर्षण—नहीं राजकुमार! यह तो स्पष्ट रूप से अकम्पन का षड्यंत्र था। उसने भरी सभा में आपसे कम योग्यता वाले व्यक्ति को कन्या-रत्न देकर और फिर उसका सम्मान कर सरासर आपका अपमान किया है। इस प्रकार अपमानित होकर जीवित रहना क्षत्रिय का कर्तव्य नहीं है। मुझे क्या पता था कि आप इस प्रकार नपुंसकों की तरह अपमान को सहन करेंगे। आपको युद्ध कर सुलोचना के साथ विवाह करना चाहिए।

नपुंसक और कायर शब्द अर्ककीर्ति को चुभ गया। उसने उसी समय अकम्पन को सन्देश प्रेषित किया कि अपने मुझे स्वयंवर में बुलाकर मेरे अधीन राजकुमार के साथ विवाह कर मेरा अपमान किया है। मेरे इस अपमान का प्रतिकार यही है कि आप सुलोचना का विवाह मेरे साथ कर दीजिए, नहीं तो युद्ध के लिए प्रस्तुत हो जाइये।

राजा अकम्पन ने जब दूत के मुँह से यह समाचार सुना तो उसके पैर के नीचे की जमीन ही खिसक गई। मंत्रियों को बुलाकर उसने नई आपत्ति की बात कही और जयकुमार को भी उस स्थिति से अवगत कराया गया। जयकुमार ने कहा—मैं युद्ध करने के लिए प्रस्तुत हूँ। अन्य सभी ने भी एकमत से यह निर्णय लिया कि वरमाला जिसके गले में डाली गई है उसी के साथ विवाह होना चाहिए।

जितने भी स्वयंवर में राजागण व युवराज आये थे उन सभी ने यह वार्ता सुनी तो उन्होंने अर्ककीर्ति को समझाने का प्रयास किया पर अर्ककीर्ति ने अपनी हठ न छोड़ी। जयकुमार और अर्ककीर्ति में भयंकर युद्ध हुआ और तीन दिन के पश्चात् वह पराजित हो गया। जयकुमार ने अर्ककीर्ति को बन्दी बना दिया। महाराजा अकम्पन ने उसे बन्धन मुक्त करते हुए कहा—वत्स ! मन में किसी भी प्रकार की ग्लानि न लाओ। हम तुम्हारी प्रजा हैं। मुझे तुम्हारी यह इच्छा पहले ही ज्ञात हो जाती तो मैं स्वयंवर ही नहीं करता किन्तु जो होना था सो हो गया और अब कृपाकर मेरी दूसरी पुत्री अक्षमती को ग्रहण कीजिए।

अर्ककीर्ति अपनी पराजय से व्यथित था उसने उसकी स्वीकृति दे दी। महाराजा अकम्पन ने चक्रवर्ती भरत को सभी समाचारों से अवगत कराने के लिए एक विशेष सुमुख नामक दूत प्रेषित किया। सुमुख ने चक्रवर्ती भरत को अभिवादन कर निवेदन किया कि हम आपकी प्रजा हैं, आपके ही अधीन हैं, हमारा अपराध क्षमा कीजिए।

भरत—राजा अकम्पन ने कौन-सा अपराध किया है ?

सुमुख—महाराज आपके सुपुत्र अर्ककीर्ति के साथ युद्ध करके उन्हें बन्दी बनाया।

सम्राट् भरत ने कहा—अकम्पन ने कुछ भी अपराध नहीं किया है उसने अर्ककीर्ति को जो न्याय और नीति का पाठ पढ़ाया उससे मैं बहुत ही प्रसन्न हूँ। न्याय और नीति की रक्षा करना ही वस्तुतः क्षत्रिय का कर्तव्य है। न्याय और नीति पहले है।

चक्रवर्ती की सदाशयता एवं न्याय के प्रति प्रेम देखकर दूत और सारी सभा अवाक् रह गई। उसके हृत्तंत्री के तार झनझना उठे। राजा हो तो ऐसा न्यायप्रिय हो। दूत के बनारस पहुँच कर सम्राट् भरत की इच्छा बता दी। अर्ककीर्ति का विवाह अक्षमती के साथ कर दिया।

कहते हैं स्वयंवर प्रथा का प्रारम्भ उसी समय से हुआ।

सम्राट् भरत के स्वप्न

श्वेताम्बर परम्परा में जिस प्रकार चन्द्रगुप्त महाराजा के सोलह स्वप्न विश्रुत हैं। उसी प्रकार दिगम्बर परम्परा[1] में भरत सम्राट् के और

---

१ महापुराण, जिनसेनाचार्य ४१।१-७६

चन्द्रगुप्त सम्राट् के सोलह-सोलह स्वप्न प्रसिद्ध हैं। दोनों सम्राटों के स्वप्न प्रसिद्ध हैं। दोनों सम्राटों के स्वप्न पञ्चम आरे से सम्बन्धित हैं।

सम्राट् भरत के स्वप्न और उसका फल

एक बार भरत चक्रवर्ती सुख-शय्या पर सोये हुए थे। रात्रि का अन्तिम प्रहर। अर्द्ध निद्रित अवस्था में उन्होंने एक के पश्चात् एक स्वप्न देखे जो संख्या में सोलह थे। जागृत होने पर स्वप्नों के सम्बन्ध में स्वयं चिन्तन-मनन करने लगे, पर किसी स्थायी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सके। सूर्योदय होने पर वे कैलाश पर्वत पर विराजमान भगवान ऋषभदेव के समवसरण में पहुँचे। वन्दना-नमस्कार कर जिज्ञासा सहित स्वप्नों के फल के विषय में पूछा।

भगवान ने सम्राट् की जिज्ञासाओं का समाधान करते हुए बताया—सम्राट् ! ये स्वप्न पञ्चम आरे से सम्बन्धित है, उस आरे में होने वाले ह्रास का चित्रण तुम्हारे स्वप्नों में अन्तर्निहित है। स्वप्नों का फल बताने के लिये भरत ने भगवान को अपने स्वप्न सुनाने प्रारम्भ किये—

(१) भरत—एक भयानक विपिन में तेवीस सिंह स्वतन्त्रतापूर्वक विचर रहे थे। मेरे देखते-देखते वे विपिन से निकलकर समीप के पर्वत-शिखर पर चढ़ गये, और थोड़ी देर बाद वे शिखर के उस पार पहुँच जाने से मेरी दृष्टि से ओझल हो गये, तथापि उनकी आवाज कर्ण-कुहरों में गूंजती रही।

भगवान—भरत ! ये तेवीस सिंह भविष्य में होने वाले तेवीस तीर्थङ्करों के सूचक हैं। इन तीर्थङ्करों के निर्वाण प्राप्त कर लेने पर भी उनके उपदेशों की गूँज पञ्चम आरे के अन्त तक सुनाई देगी।

(२) भरत—भगवन् ! एक सिंह का अनुसरण बहुत से मृग कर रहे थे।

भगवान—वह एक सिंह अन्तिम तीर्थङ्कर का द्योतक है। उनके पीछे मृग रूपी बहुत से अनुयायी चलेंगे, पर यथावत् अनुसरण नहीं कर पायेंगे।

(३) भरत—भगवन् ! तृतीय स्वप्न मैंने अति आश्चर्यजनक देखा, कि एक अश्व, बलिष्ठ हस्ती से दबोचा जा रहा है।

भगवान—अश्व, पञ्चम काल के मुनियों का सूचक है। वे सत्ता रूपी हस्ती से दबोचे जायेंगे।

(४) भरत—भगवन् ! बकरियों के टोले शुष्क पत्तों को चबा रहे हैं।

भगवान—पञ्चमकाल में अतिवृष्टि और अनावृष्टि के कारण अनेकों

बार दुर्भिक्ष पड़ेगा। अकाल-पीड़ित जनता अखाद्य-पदार्थों को खाकर बकरीवत् निर्बल हो जायेगी।

(५) भरत—प्रभो ! हस्ती की पीठ पर मर्कट की असवारी का पञ्चम स्वप्न दिखाई दिया।

भगवान—हस्ती सत्ता का द्योतक है। पञ्चम काल में सत्ता, न्याय नीति व चारित्र से रहित पाशविक लोगों के हाथ में चली जायेगी।

(६) भरत—प्रभो ! असंख्य कौवे एक हँस को मार रहे हैं।

भगवान—भरत ! उस काल में ज्ञानी और तत्त्वज्ञ पुरुष, अज्ञानी पुरुषों द्वारा त्रस्त होंगे। सत्य तत्त्व के ज्ञाता महापुरुषों को अनेक विध यातनाओं का सामना करना पड़ेगा।

(७) भरत—प्रभो ! प्रेत नाना प्रकार की क्रीड़ाएँ कर रहे थे।

भगवान—भविष्य में अन्ध-विश्वासों का प्रसरण विशेष होगा। जनता राक्षसी-सत्ता की उपासिका होती जायेगी।

(८) भरत—भगवन् ! तालाब का मध्य भाग तो एकदम शुष्क था, पर किनारे पर थोड़ा पानी था।

भगवान—तालाब का मध्य भाग यह भारतवर्ष है। एक दिन ज्ञान और संस्कृति के जल से यह देश रहित हो जायेगा और इसके सन्निकटवर्ती अन्य देश ज्ञान व संस्कृति के उपासक बनेंगे।

(९) भरत—प्रभो ! रत्न-राशि मृत्तिका से आवृत्त हो रही थी।

भगवान—सम्राट् ! तुम्हारा स्वप्न यह सूचित करता है, कि पञ्चम काल में ज्ञान और भक्ति रूपी रत्न-राशि, अज्ञान और अश्रद्धा के नीचे दब जायेगी। सही तथ्य को कोई पकड़ नहीं सकेगा।

(१०) भरत—भगवन् ! एक श्वान बड़े आनन्द से मिष्टान्नों का उपभोग कर रहा था, तथापि आश्चर्य है, कि लोग उसकी पूजा कर रहे थे।

भगवान—भरत ! उस काल में दुर्जन और धूर्त व्यक्तियों की पूजा-प्रतिष्ठा होगी, वे ही माननीय होंगे।

(११) भरत—प्रभो ! मेरे आगे से एक युवावृषभ हुँकार करता हुआ निकला और अन्य दो वृषभ कन्धे से कन्धा मिलाये चले जा रहे थे।

भगवान—भरत ! पञ्चम काल में युवा मुनि अविवेक व अज्ञान के

कारण अपमानित होंगे, तथा धर्म-प्रचार के लिये एकाकी विचरण करने में समर्थ नहीं होंगे।

(१२) भरत—भगवन्! चन्द्रमा, धुंध से मलिन हो रहा था।

भगवान—पञ्चम आरे में आत्माएँ कलुषित विचारों से युक्त होकर सत्य-धर्म से पराङ्मुख होंगी।

(१३) भरत—प्रभो! मैंने दिवाकर को, मेघों के गहन पटलों से आच्छादित देखा।

भगवान—सम्राट्! पञ्चमकाल में उत्पन्न आत्माएँ मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकेंगी।

(१४) भरत—प्रभो! स्वप्न में, मैंने छायारहित एक ठूंठ को देखा।

भगवान—भरत! यह स्वप्न सूचित करता है, कि उस काल में मनुष्य धर्माचरणों से रहित ठूंठवत् अनुपयोगी होंगे।

(१६) भरत—भगवन्! अन्तिम स्वप्न में मैंने देखा, कि सूखे पत्तों का ढेर लगा हुआ है।

भगवान—पञ्चम आरे में प्राकृतिक वस्तुएँ सत्त्वहीन हो जायेंगी, उनकी शक्ति क्षीण होती जायेगी और रोगों में वृद्धि होगी।

भरत से भारतवर्ष

जैन-आगमों में भरतक्षेत्र शब्द का प्रयोग अनेक स्थलों पर हुआ है। ज्ञाताधर्मकथा आदि धर्मकथानुयोग का वर्णन करने वाले आगमों में जहाँ भी कथा का प्रारम्भ होता है, वहाँ जम्बूद्वीप एवं भरतक्षेत्र के उल्लेख के अनन्तर ही अभीष्ट राजधानी व नगर का वर्णन किया जाता है। सम्राट् भरत जब दीक्षित होकर राज-महल से निकल पड़ते हैं, वहाँ भरत के क्षेत्र-साम्राज्य के छोड़ने का उल्लेख प्राप्त होता है।[1] वसुदेवहिंडी में कहा गया है कि 'सुर-असुरों द्वारा सेवित, जगत्प्रिय ऋषभदेव प्रथम राजा थे। उनके सौ पुत्रों में भरत और बाहुबली प्रमुख थे। भगवान ऋषभदेव ने अपने सौ पुत्रों को पृथक्-पृथक् राज्यांश देकर प्रव्रज्या अंगीकार की।

---

१ एय पुण्णपय सोच्चा, अत्थ-धम्मोवसोहियं।
भरहो वि भारहंवासं, चिच्चा कामाइपव्वए॥ —उत्तराध्ययन सूत्र १८।३४

भारतवर्ष का चूड़ामणि-भरत था, उसके नाम से ही यह देश भारतवर्ष कहलाता है।[१]

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में जहाँ भरत चक्रवर्ती का वर्णन आता है, वहाँ कहा है—'भरत चक्रवर्ती और देव के नाम से भारतवर्ष का नामकरण हुआ, और भारतवर्ष से उनका।'[२]

जैन आगम-साहित्य से यह स्पष्टतया प्रतिभासित होता है, कि प्रतापपूर्ण, प्रतिभासम्पन्न भरत एक अतिजात पुत्र थे। पिता के द्वारा प्राप्त राज्य श्री को उन्होंने अत्यधिक विस्तृत किया और छह खण्ड के अधिपति सम्राट् बने। उन्होंने मात्र जनता के तन पर ही नहीं, अपितु प्रजा के मन पर भी शासन किया। उन्हीं की पुण्य-स्मृति में प्रकृत देश का नाम भारतवर्ष पड़ा।

भारतवर्ष के साथ-साथ जहाँ चक्रवर्तियों के साम्राज्य-त्याग का वर्णन आता है वहाँ 'भरतक्षेत्र' शब्द का भी प्रयोग हुआ है।[३] जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति सूत्र में भरत क्षेत्र का विस्तार, उसके मुख्य नगर, नदियाँ और पर्वतों का सविस्तृत वर्णन किया गया है। वहाँ भरतक्षेत्र के नामकरण के प्रसंग में लिखा है, कि 'इस क्षेत्र में भरत नामक एक महर्द्धिक, महाद्युतिवन्त और एक पल्योपम की स्थिति वाले एक देव का वास है, उसके नाम से इस क्षेत्र को 'भरत क्षेत्र' कहा जाता है, यह नाम शाश्वत है, अर्थात् यही नाम अतीत में था, वर्तमान में है और अनागतकाल में रहेगा।

इसी प्रकार अन्य आगमों में भी भरत क्षेत्र शब्द का प्रयोग देखा जाता है, पर 'भारतवर्ष' शब्द का प्रयोग नहीं। इससे ऐसा प्रतीत होता है, कि भरत क्षेत्र और भारतवर्ष दोनों भिन्न-भिन्न हैं। भरतक्षेत्र एक विस्तृत भूभाग है और भारतवर्ष उसका एक प्रदेश है। जहाँ कहीं भी 'भारहवास' शब्द का प्रयोग मिलता भी है, तो उससे भारतवर्ष का ग्रहण न कर भरत-क्षेत्र का ग्रहण किया गया है।

आगमेतर साहित्य में उल्लिखित 'भारतवर्ष' का नामकरण स्वतन्त्र रूप से भगवान ऋषभदेव के ज्येष्ठ-पुत्र भरत-चक्रवर्ती के नाम पर हुआ है।

---

१ तत्थ भरहो भरहवास चूडामणी, तस्सेव नामेण इह भारहवासं त्ति पव्वुच्चति।
—वसुदेवहिण्डी प्रथम खण्ड, पृ० १८६

२ जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, भरतक्षेत्राधिकार

३ उत्तराध्ययन सूत्र १८

ऋग्वेद के तृतीय मण्डल तथा दशवें मण्डल के पिचहत्तरवें सूक्त में भारत की मुख्य-मुख्य गंगादि नदियों का उल्लेख है, अनन्तर यजुर्वेद और अथर्ववेद में भारत के प्रमुख प्रान्तों का भी निर्देश मिलता है। वायुपुराण में लिखा है—'समुद्र के उत्तर और हिमालय के दक्षिण देश का नाम भारत-वर्ष है, वहाँ की प्रजा भारती कहलाती है।"[1]

ब्रह्माण्ड-पुराण में भी कहा है, कि 'श्री ऋषभदेव जी ने हिमालय का दक्षिण प्रान्त भरत को दिया। अतः इस प्रान्त का नाम भारतवर्ष हुआ।[2]

वैदिक साहित्य में इस पुण्य-भूमि का नाम पृथ्वी, भारती आदि लिखा है। पृथु नाम वैदिक साहित्य में आता है, इन्हें वहाँ आदि राजा कहा है, उन्हीं के नाम पर इस धरती का नाम पृथ्वी पड़ा, और भारती भरत के कारण।

आदिपुराण में कहा है—उस समय (भरत के जन्मोत्सव के समय) अति प्रेम निमग्न भाई-बन्धु आदि पारिवारिकजनों ने प्रमोदभरतः (सन्तोष के साथ) समस्त क्षेत्र के अधिपति होने वाले उस पुत्र को भरत नाम दिया। उसी भरत के नाम से हिमालय से समुद्र तक चक्रवर्ती के इस क्षेत्र का नाम 'भारतवर्ष' पड़ा।[3]

वाराहपुराण में भी भरत से 'भारतवर्ष' नामकरण का उल्लेख प्राप्त होता है, वहाँ कहा गया है, कि 'नाभि राजा की मरुदेवी के गर्भ से ऋषभ नाम का पुत्र हुआ, तथा ऋषभदेव के पुत्र भरत हुए। वे भरत अपने सब भाइयों में ज्येष्ठ थे। भरत के पिता ऋषभ ने भरत को हिमाद्रि के

---

१ उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमवद्दक्षिणञ्च यत्।
वर्षं तद् भारतं नाम यत्रेयं भारती प्रजा॥

—वायुपुराण ४५।७५

२ हिमाह्वं दक्षिणं वर्षं भरताय न्यवेदयत्
तस्मात्तु भारतं वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः।

—ब्रह्माण्डपुराण पर्व २।१४

३ प्रमोदभरतः प्रेमनिर्भराबन्धुता तदा।
तमाह्वद् भरत भावि समस्तभरताधिपम्॥
तन्नाम्ना भारतंवर्षमिति ह्यासेज्जनास्पदं।
हिमाद्रेरासमुद्राच्च क्षेत्रं चक्रभृतामिदं॥

— आदिपुराण पर्व १५।१५८-५९

दक्षिण का प्रदेश दिया था और भरत के द्वारा वह प्रदेश पालित होने से उसका नाम 'भारत' प्रसिद्ध है ।[१]

वायुपुराण में ऋषभदेव के जीवन-प्रसंग में कहा गया है, कि ऋषभदेव ने भरत को राज्य देकर दीक्षा ग्रहण की । भरत ने हिम नामक दक्षिण प्रदेश को सम्हाला था, अतः इस प्रदेश का नाम 'भारत' प्रसिद्ध है ।[२]

लिंगपुराण में भी ऋषभदेव का सविस्तृत वर्णन करते हुए लिखा है—उन्होंने भरत के लिये हिमाद्रि का दक्षिण प्रदेश शासन-कार्य के लिये सौंपा था, अतः उस देश का नाम 'भारतवर्ष' प्रसिद्ध है ।[3]

स्कन्दपुराण में भी भारत से भारतवर्ष के नाम का उल्लेख किया है ।[४]

मार्कण्डेयपुराण में ऋषभपुत्र भरत से भारतवर्ष के नामोल्लेख का वर्णन है ।[५]

श्रीमद्‌भागवतपुराण के पञ्चम स्कन्ध में ऋषभदेव का विस्तार से वर्णन किया है । वहाँ भरत के प्रसंग में कहा है, कि 'उनके पुत्रों में से ज्येष्ठ पुत्र भरत जी श्रेष्ठ गुण-सम्पन्न और परम-योगी हुए, जिनके नाम से इस देश का नाम 'भारतवर्ष' हुआ । आगे कहा है—हे राजन् ! पहिले इस देश

---

१ नाभेर्मरूदेव्या पुत्रमजनयनृषभ नामानं तस्य भरतो पुत्रञ्च तावदग्रजः तस्य भरतस्य पिता ऋषभः—हे माद्रे र्दक्षिणं वर्षं महद् भारतं नाम शशास ॥

—वाराहपुराण ७४।४९

२ हिमाह्वं दक्षिण वर्षं भरताय न्यवेदयत् ।
तस्माद् भारत वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः ॥

—वायु महापुराण ३३।५२

३ हिमाद्रे र्दक्षिण वर्षं भरताय न्यवेदयत् ।
तस्मात्तु भारत वर्षं तस्य नाम्ना विद्बुधाः ॥

—लिंगपुराण ४७।२४

४ नाभेः पुत्रश्च ऋषभः ऋषभाद्‌भरतोऽभवत् ।
तस्य नाम्ना त्विद वर्षं भारत चेति कीर्त्यते ॥

—स्कन्धपुराण, कौमारखण्ड ३७।५७

५ हिमाह्वं दक्षिणं वर्षं भरताय पिता ददौ ।
तस्मात्तु भारतं वर्षं तस्य नाम्ना महात्मनः ॥

—मार्कण्डेयपुराण ५०।४१

को 'अजनाभ' कहते थे, परन्तु भरत राजा होने से इसका नाम 'भारतवर्ष' पड़ा।[१]

आग्नेयपुराण,[२] ब्रह्माण्डपुराण,[३] विष्णुपुराण,[४] कूर्मपुराण,[५] शिवपुराण,[६] और नारदपुराण[७] प्रभृति ग्रन्थों के उद्धरणों के प्रकाश में भी यह स्पष्ट है, कि ऋषभपुत्र भरत चक्रवर्ती के नाम से ही प्रस्तुत देश का नाम 'भारतवर्ष' पड़ा।

पंडित श्रीधरजी कृत संस्कृतटीका में लिखा है, कि—'ऋषभदेव के पश्चात् भरत के द्वारा यह देश पालन किया गया है, अतः इस देश का नाम भारतवर्ष प्रसिद्ध है।[८]

---

१ (क) येषां खलु महायोगी भरतो ज्येष्ठः श्रेष्ठगुणः।
आसीद्येनेदं वर्षं भारतमिति व्यपदिशन्ति॥
(ख) अजनाभं नामैतद्वर्षं भारतमिति यत् आरभ्य दिशंति।
—श्रीमद्भागवतपुराण ५।४

२ भरताद् भारतं वर्षं। —आग्नेयपुराण १०७।१२

३ हिमाह्वं दक्षिणं वर्षं भरताय न्यवेदयत्।
तस्मात्तु भारतं वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः॥
—ब्रह्माण्डपुराण पूर्व १४।६१-६२

४ ऋषभाद्भरतो जज्ञे ज्येष्ठः पुत्रशताग्रजः।
तस्य राज्यं स्वधर्मेण तथेष्टं वा विविधान् मखान्।
अभिषिच्य सुतं वीरं भरतं पृथ्वीपतिः।
तपसे स महाभागः पुलहस्याश्रमं ययौ॥
ततश्च भारतं वर्षमेतल्लोकेषु गीयते।
—विष्णुपुराणअंश २, अ० १।२८-२९।३२

५ ऋषभाद्भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताग्रजः।
सोभिषिच्यर्षभः पुत्रं-भरतं पृथ्वीपतिः॥ —कूर्मपुराण ४१।३८

६ खण्डानि कल्पयामास नवान्यपि हिताय च।
तत्राऽपि भरते ज्येष्ठं खण्डेऽस्मिन् स्पृहणीयके॥
तन्नाम्ना चैव विख्यातं खंडं च भारतं तदा।
सर्वेष्वपिचरखंडेषु श्रेष्ठं भरतमुच्यते॥ —शिवपुराण ५२।८५

७ आसीत् पुरा मुनिश्रेष्ठो, भरतो नाम भूपतिः।
आर्षभो यस्य नाम्नेदं भारतं खण्डमुच्यते॥ —नारदपुराण ४८।५

८ ततश्च ऋषभादनन्तर भरतेन पालितत्वात् भारतमेतद्वर्षं गीयते।
—पं० श्रीधरकृत संस्कृत टीका

हिन्दी विश्वकोष में कहा है—नाभि के पुत्र ऋषभ और उनके पुत्र भरत थे। भरत ने धर्मानुसार जिस वर्ष का शासन किया उनके नामानुसार वही भारतवर्ष कहलाया।

महाराष्ट्र के प्रसिद्ध सन्त एकनाथ महाराज ने भी लिखा है कि ऋषभ के पुत्र भरत ऐसे थे जिनकी कीर्ति सम्पूर्ण विश्व में आश्चर्य रूप से फैली हुई थी। भरत सर्वपूज्य हैं। कार्य आरम्भ करते समय भरत का स्मरण करना चाहिए ऐसे भरत के नाम पर इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा।[1]

सूरदास हिन्दी साहित्य के प्रसिद्ध कवि थे। उन्होंने सूरसागर जैसे विराट्काय ग्रन्थ की रचना की। सभी विद्वान उन पर भागवत का प्रभाव स्वीकार करते हैं। उन्होंने ऋषभावतार के प्रसंग में स्पष्ट रूप से लिखा है कि भरत से ही भरतखण्ड का नाम हुआ।[2]

कन्नड़ साहित्य का सुप्रसिद्ध ग्रन्थ पम्परामायण है। उत्तर प्रदेश में जिस प्रकार 'रामचरितमानस' के प्रति जन-मानस में पूज्य भावना है उसी प्रकार कर्णाटक में उस ग्रन्थ के प्रति आदर की भावना है। उसने रामायण के साथ आदिपुराण की भी रचना की। उसमें उन्होंने भरत के प्रबल प्रताप का वर्णन करते हुए लिखा है पुरू परमेश्वर श्री आदि जिनेश्वर के पुत्र भरत चक्रवर्ती व्यन्तरदेव अमरेन्द्र तथा पृथ्वीतल के समस्त मुकुटबद्ध

---

१ ऐसा तो रिषभाचा पुत्र, जयासी नांव भरत
ज्याच्या नामाची कीर्ति विचित्र
परम पवित्र जगमाजी ॥
तो भरतु राहिला भूमिकेसी
म्हणोनि भरतवर्ष म्हणती यासी
सकल कर्मारम्भी करितां संकल्पासी
ज्याचिया नामासी स्मरतासी

—सार्थ एकनाथी भागवत २।४४।४५

२ ऋषभदेव जब वन को गये।
नवसुत नवौ खण्ड नृप भये ॥
भरत सो भरतखण्ड को राव,
करे सदा ही धर्म अरुनाव।

—सूरसागर पंचम स्कंध पृ० १५०-१५१

राजाओं के वन्दित थे।[1] वे भरतेश वैभव का वर्णन करते हुए लिखते हैं—पुरुपरमेश्वर भगवान आदिनाथ के ज्येष्ठपुत्र भरत नरलोक के एकमात्र चक्रवर्ती सम्राट् थे।[2] पाश्चात्य विद्वान् श्री जे० स्टीवेन्सन[3] का भी यही अभिमत है और प्रसिद्ध इतिहासज्ञ गंगाप्रसाद एम० ए०[4] व रामधारीसिंह दिनकर[5] का भी यही मन्तव्य है।

भारतीय इतिहास में 'भरत' नाम के तीन व्यक्ति हुए हैं। ऋषभदेव के पुत्र भरत, दूसरे दुष्यन्त के पुत्र भरत और तीसरे राम के भाई भरत! राम के भाई भरत ने राज्य सिंहासन का उपभोग नहीं किया अतः उनके नाम पर प्रस्तुत देश का नाम-करण नहीं हो सकता। दुष्यन्त पुत्र भरत के नाम पर प्रस्तुत देश का नाम भरत हुआ ऐसा कुछ विज्ञों का मन्तव्य है, क्योंकि कवि कुलगुरु कालिदास ने शाकुन्तलम् की रचना कर दुष्यन्तपुत्र भरत की कीर्ति में चार चाँद लगाये थे जिसके फलस्वरूप ऋग्वेद के भाष्यकार सायण ने प्रस्तुत देश का नामकरण दुष्यन्त पुत्र भरत के नाम पर माना[6] और आधुनिक युग के तेजस्वी लेखक श्री वासुदेवशरण अग्रवाल ने भी वही भूल

---

१ पुरुपरमेश्वरपुत्र भरतेश्वरचक्रवर्तिबादिदंतद्धरणि
निवासिगहुं व्यंतरामरर्
बंदु काणबुदवनतमकुटर

—कवि चक्रवर्ती पम्प आदिपुराण ३०७

२ पुरु परमेशन हिरियकुमारनु
नरलोक कोब्बने राय। —भरतेश वैभव

३ Brahmanical puranas prove Rishabh to be the father of that Bharat, from whom India took to name "Bharatvarsha."

—*Kalpasutra Introd., p. XVI.*

४ ऋषियों ने हमारे देश का नाम प्राचीन चक्रवर्ती सम्राट् भरत के नाम पर भारतवर्ष रखा। —प्राचीन भारत पृ० ५

५ भरत ऋषभदेव के ही पुत्र थे, जिनके नाम पर हमारे देश का नाम भारत पड़ा। —संस्कृति के चार अध्याय पृ० १३९

६ हे अग्नेय! त्वां भरतो दौष्यन्तिरेतत्संज्ञको राजा वाजिभिर्वाजो हविर्लक्षणमन्ने तद्वद्भिः ऋत्विग्भिः सह द्विता—इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहार-द्विविधरूपेण सुम्नं सुखमुद्दिश्य ईडे स्तुतवान्।

—ऋग्वेद ६।१६।४ सायणाचार्य, भाष्य पूना संस्करण ३ भाग

कर दी थी।[1] किन्तु अब उन्हें अपनी भूल का परिज्ञान हुआ तब उन्होंने उसका परिष्कार कर दिया।[2] तथापि कुछ लोग दुष्यन्त पुत्र भरत से भारत नाम संस्थापित करना चाहते हैं पर प्रबल प्रमाणों के अभाव में उनकी बात किस प्रकार मान्य की जा सकती है। क्योंकि वैदिक-साहित्य से यह स्पष्ट सिद्ध है, कि दुष्यन्त-पुत्र भरत से हजारों वर्ष पहले भी इस देश का नाम 'भारत' था। तथा उस समय एवं उससे भी अति प्राचीनकाल से इस देश में एक 'भरत' या भारत जाति रहती थी। उस 'भारत' जाति और 'भारत' देश का आदि सम्राट् भरत से प्रादुर्भूत हुआ था। ऋग्वेद का अधिकांश भाग उसी प्राचीन 'भरत' जाति की स्तुति में ग्रथित हुआ है। यह' भरत-वंश', सूर्यवंश, इक्ष्वाकुवंश, वृषभवंश या 'सूर्यकुल' के नाम से प्रसिद्ध था। परन्तु दुष्यन्त पुत्र 'भरत' चन्द्रवंशी और 'ऐल' आदि के नाम से विश्रुत है। ये ऐलवंशी 'असुर' कहलाते थे तथा सूर्यवंशी देवों के नाम से प्रसिद्ध थे। चन्द्रवंशी हिंसा प्रधान योग आदि के अनुयायी थे, परन्तु सूर्यवंशी अहिंसा के उपासक थे। एवं चन्द्रवंशी 'इलावर्त' से यहाँ आये थे और सूर्यवंशी यहाँ के मूलनिवासी थे। वैदिक वाङ्मय में बताई गई वंशावली भी दुष्यन्त पुत्र भरत से एक हजार वर्ष पूर्व के भरत जाति का निर्देश करती है। अतः भारत के नामकरण का कारण दुष्यन्त-पुत्र भरत को बताना निराधार है।

आदि पुराण में सोलह मनु गिनाये हैं, उनमें अंतिम मनु नाभिराय के पौत्र भरत को बताया है।[3]

समाट् भरत को मनु भी कहते हैं। आदिपुराण में उन्हें सोलहवाँ कुलकर बताया है। उस समय कुलकर को ही मनु कहते थे। यह किसी व्यक्ति विशेष का नाम नहीं है, प्रत्युत यह एक उपाधि है। रघुवंश में कहा है—'वैवस्वत मनु इस भारत के आदि राजा हुए।[4] रघुवंश की यह बात सम्पूर्ण

---

१ भारत की मौलिक एकता पृ० २२-२४

२ (क) मार्कण्डेयपुराण सांस्कृतिक अध्ययन पृ० १३८

(ख) जैन साहित्य का वृहद् इतिहास : पूर्वपीठिका भूमिका पृ० ८

३ नाभिश्चतन्नाभि निकर्त्तनेन प्रजा समाश्वासनहेतुरासीत् सोऽजीजनत् तं वृषभं महात्मासोप्यग्रसूनुं मनुमादिराजम्। —आदिपुराण, जिन० ३।२३६

४ वैवस्वतो मनुर्नाम माननीयो मनीषिणाम्।
आसीत् महीभृतामाद्यः प्रणवश्छन्दसामिव॥

—रघुवंश

ऐतिहासिकों ने मानी है। सर्वप्रथम राजनियमों को बताने वाला मनु ही माना जाता है। अतः वैदिक साहित्य, पुराणों एवं काव्यों के आधार पर तथा इतिहास एवं परम्परा की अनुश्रुति मनु से भारतवर्ष के नामकरण को सिद्ध करती है। परन्तु कई विद्वानों का कथन है, कि 'भरत' किसी मनु का नाम नहीं, अपितु 'भरत' नाम से वैदिककाल में जिस जाति का वर्णन मिलता है, उसी ने इस देश को 'भारत' नाम दिया।[1] मनु यह एक उपाधि-वाचक शब्द है। यह उपाधि अति प्राचीन काल में प्रतापी तथा विजयी राजाओं अथवा नेताओं को दी जाती थी।

सारांश यह है भरत सम्राट् एक महान् प्रतिभा सम्पन्न, प्रतापशाली एवं यशस्वी सम्राट् थे। अन्य सम्राटों से उनके जीवन में अद्भुत विशेषता थी। वे जहाँ पर भौतिक दृष्टि से महान् थे वहाँ वे आध्यात्मिक दृष्टि से भी अत्युन्नत थे। सम्राट् होकर के भी अनासक्त जीवन जीते थे। इसी कारण उनके नाम पर प्रस्तुत देश का नाम भारत हुआ।

भगवान का धर्म संघ

भगवान के आध्यात्मिक पावन प्रवचनों को श्रवण कर भगवान के संघ में चौरासी हजार श्रमण बने।[2] तीन लाख श्रमणियाँ बनीं।[3] तीन लाख पाँच हजार श्रावक बने[4] और पाँच लाख चउवन्न हजार श्राविकाएँ हुईं।[5]

---

१ प्रो० इन्द्र एम० बी० ए०

२ (क) समवायांग ८४
(ख) 'उसभसेणपामोक्खाओ चउरासीइं समणसाहस्सीओ उक्कोसिया समणसंपया होत्था। —कल्पसूत्र १९७।५८
(ग) आवश्यक नि० मलय० २७८।२०७
(घ) जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति

३ (क) 'बंभी सुन्दरिपामोक्खाण अज्जियाणं तिन्नि सयसाहस्सीओ उक्कोसिया *अज्जियासम्पया होत्था'* —कल्पसूत्र १९७।५८
(ख) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति पृ० ८७ अमोलकऋषि
(ग) त्रिषष्टि० १।६

४ (क) उसभस्सणं सेज्जंसपामोक्खाणं समणोवासगाणं तिन्नि सयसाहस्सीओ पंच सहस्सा उक्कोसिया समणोवासयसम्पया होत्था। —कल्पसूत्र १९७।५८
(ख) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति पृ० ८७

५ (क) उसभस्सणं सुभद्दापामोक्खाणं समणोवासियाणं पंचसयसाहस्सीओ चउप्पन्नं च सहस्सा उक्कोसिया समणोवासिया··· । —कल्पसूत्र १९७।५८ पुण्य०

भगवान ऋषभदेव के श्रमण चौरासी भागों में विभक्त थे। वे विभाग गण के नाम से पहचाने जाते थे। इन गणों का नेतृत्व करने वाले गणधर कहलाते थे, जिनकी संख्या चौरासी थी। श्रमण-श्रमणियों की सम्पूर्ण व्यवस्था इनके अधीन थी।

धार्मिक प्रवचन करना, अन्यतीर्थिक या अपने शिष्यों के प्रश्नों का समाधान करना और धार्मिक नियमोपनियम का परिज्ञान कराना—ये कार्य भगवान ऋषभदेव के अधीन थे और शेष कार्य गणधरों के।

गुण की दृष्टि से भी ऋषभदेव के श्रमणों को सात विभागों में विभक्त करते हैं—

(१) केवलज्ञानी (२) मनःपर्यवज्ञानी (३) अवधिज्ञानी (४) वैक्रियर्द्धिक (५) चतुर्दशपूर्वी (६) वादी (७) सामान्य साधु।

केवलज्ञानी अथवा पूर्ण ज्ञानियों की संख्या बीस हजार थी।[1] ये प्रथम श्रेणी के ज्ञानी श्रमण थे। श्री ऋषभदेव के समान ही इनको भी पूर्ण ज्ञान था। ये धर्मोपदेश भी प्रदान करते थे।

दूसरी श्रेणी के श्रमण मनःपर्यवज्ञानी अर्थात् मनोवैज्ञानिक थे। ये समनस्क प्राणियों के मानसिक भावों के परिज्ञाता थे। इनकी संख्या बारह हजार, छह सौ पचास थी।[2]

तृतीय श्रेणी के श्रमण अवधिज्ञानी थे। अवधि का अर्थ—सीमा है। अवधिज्ञान का विषय केवल रूपी पदार्थ हैं। जो रूप, रस, गंध और स्पर्श-युक्त समस्त रूपी पदार्थों के परिज्ञाता थे। इनकी संख्या नौ हजार थी।[3]

(ख) समवायांग
(ग) लोकप्रकाश
(घ) आवश्यकनिर्युक्ति गा० २८८

१ (क) 'उसभस्स ण वीससहस्सा केवलणाणीणं उक्कोसिया'।
—कल्पसूत्र १९७।५८

(ख) समवायांग
(ग) लोक प्रकाश

२ (क) "उसभस्स ण बारससहस्सा छच्च सया पन्नासा विउलमईणं अड्ढाइज्जेसु दीवसमुद्देसु सन्नीणं पञ्चिन्दियाणं पज्जत्तगाणं मणोगए भावे जाणमाणाणं उक्कोसिया विपुल मइसंपया होत्था।' —कल्पसूत्र १९७।५८-५९

(ख) समवायांग

१ (क) उसभस्स णं० नव सहस्सा ओहिनाणीणं उक्को०। —कल्पसूत्र १९७।५८
(ख) समवायांग (ग) लोकप्रकाश

चतुर्थ श्रेणी के साधक वैक्रियर्द्धिक थे। अर्थात् योगसिद्धि प्राप्त श्रमण थे। जो प्राय: तप, जप व ध्यान में तल्लीन रहते थे। इन श्रमणों की संख्या बीस हजार छह सौ थी।[1]

पंचम श्रेणी के श्रमण चतुर्दशपूर्वी थे। ये सम्पूर्ण अक्षरज्ञान में पारंगत थे। इनका कार्य था शिष्यों को शास्त्राभ्यास कराना। इनकी संख्या सैंतालीस सौ पचास थी।[2]

छठी श्रेणी के श्रमण वादी थे। ये तर्क और दार्शनिक चर्चा करने में बहुत ही प्रवीण थे। अन्यतीर्थिकों के साथ शास्त्रार्थ कर उन्हें आर्हत धर्म के अनुकूल बनाना इनका प्रमुख कार्य था। इनकी संख्या बारह हजार छह सौ पचास थी।[3]

सातवीं श्रेणी में वे सामान्य श्रमण थे जो अध्ययन, तप, ध्यान तथा सेवा-शुश्रूषा किया करते थे।

इस प्रकार श्री ऋषभदेव की संघव्यवस्था सुगठित और वैज्ञानिक थी। धार्मिक राज्य की सुव्यवस्था करने में वे सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र थे। लक्षाधिक व्यक्ति उनके अनुयायी थे और उनका उन पर अखण्ड प्रभुत्व था। दिगम्बर परम्परा के अनुसार श्रमणों की संख्या में कुछ विभिन्नता है। आचार्य जिनसेन के अनुसार भगवान ऋषभदेव के संघ में चार हजार सात सौ पचास श्रमण 'पूर्वधर' थे। चार हजार सात सौ पचास मुनि श्रुत के 'शिक्षक' थे। नौ हजार श्रमण 'अवधिज्ञानी' थे, बीस हजार 'केवलज्ञानी' थे, बीस हजार छह सौ 'वैक्रियर्द्धिक' थे। बीस हजार सात सौ पचास श्रमण विपुलमति 'मन:पर्यय' के धारक थे। बीस हजार सात सौ पचास ही 'वादी' थे। शुद्ध आत्मतत्त्व को जानने वाली पचास हजार 'श्रमणियां' थीं। पांच लक्ष 'श्राविकाएँ' थीं और तीन लक्ष 'श्रावक' थे।[4]

महापुराणकार ने भगवान ऋषभदेव के प्रमुख श्रावक का नाम 'दृढ़व्रत' दिया है तथा प्रमुख श्राविका का नाम 'सुव्रता' दिया है।[5]

---

१ उसभस्स णं० वीस सहस्सा छच्च सया वेउव्वियाणं उक्कोसिया।
—कल्पसूत्र ५८

२ उसभस्स णं चत्तारि सहस्सा सत्त सया पन्नासा चोद्दसपुव्वीणं अजिणाणं जिण-संकासाणं उक्कोसिया चोद्दसपुव्विसंपया होत्था। —कल्पसूत्र १९७।५८

३ उसभस्स णं बारस सहस्सा छच्च सया पन्नासा वाईणं —कल्पसूत्र १९५।५९

४ हरिवंशपुराण, जिनसेन० १२।७१-७८

५ महापुराण ४७।२९६, २९७

भगवान् श्री ऋषभदेव सर्वज्ञ होने के पश्चात् जीवन के सान्ध्य तक आर्यावर्त में पैदल घूम-घूमकर आत्म-विद्या की अखण्ड ज्योति जगाते रहे। देशना रूपी जल से जगत् की दुःखाग्नि को शमन करते रहे।[१] जन-जन के अन्तर्मानस में त्याग, निष्ठा व संयम प्रतिष्ठा उत्पन्न करते रहे।

मोक्ष-गमन का संकेत

दिगम्बर आचार्य जिनसेन ने लिखा है कि भगवान ऋषभदेव ने अपने गणधरों के साथ-साथ एक हजार वर्ष और चौदह दिन कम एक लक्ष पूर्व तक विहार किया, और जब आयुष्य के चौदह दिन शेष रह गये, तब योगों का निरोध कर पौष मास की पूर्णमासी के दिन श्रीशिखर और सिद्धशिखर के मध्य में कैलाश पर्वत पर विराजमान हो गये। उसी दिन भरत महाराज ने स्वप्न देखा, कि महामेरु शिखर अपनी लम्बाई से सिद्धक्षेत्र तक पहुंच गया है। उसी दिन भरतपुत्र अर्ककीर्ति ने भी स्वप्न में देखा कि एक महौषधि का वृक्ष मनुष्यों के जन्मरूपी रोग को नष्ट कर फिर स्वर्ग की ओर जा रहा है। उसी दिन गृहपति ने देखा, कि एक कल्पवृक्ष निरन्तर लोगों के लिये उनकी इच्छानुसार अभीष्ट फल देकर अब स्वर्ग जाने के लिये तैयार हुआ है। प्रधानमंत्री ने देखा कि एक रत्नद्वीप, ग्रहण करने की इच्छा वाले लोगों को अनेक रत्नों का समूह देकर अब आकाश में जाने के लिए उद्यत हुआ है। सेनापति ने देखा, कि एक सिंह वज्र के पिंजरे को तोड़कर कैलाश पर्वत को उल्लंघन करने के लिए तैयार हुआ है। अनन्तवीर्य ने चन्द्रमा को अनेक ताराओं सहित नभोमण्डल की ओर जाते हुए देखा।[२]

सभी ने पुरोहित से स्वप्नों का फल पूछा, पुरोहित ने सभी के स्वप्नों का निष्कर्ष निकाला, कि ये स्वप्न भगवान ऋषभदेव का अनेक मुनियों के साथ मोक्ष जाना सूचित कर रहे हैं।[3]

परिनिर्वाण

तृतीय आरे के तीन वर्ष और साढ़े आठ मास अवशेष रहने पर भगवान दस सहस्र श्रमणों के साथ अष्टापद पर्वत पर आरूढ़ हुए। चतुर्दश

१ वर्षति सिंचति देशनाजलेन।
दुःखाग्निना दग्ध जगदिति॥

२ महापुराण ४७।३२२-३२९

३ महापुराण ४७।३३३

भक्त से आत्मा को भावित करते हुए अभिजित नक्षत्र के योग में, पर्यङ्कासन से स्थित, शुक्ल ध्यान के द्वारा वेदनीयकर्म, आयुष्यकर्म, नामकर्म और गोत्र-कर्म को नष्ट कर सदा सर्वदा के लिये अक्षर, अजर, अमर पद को प्राप्त हुए।[1]

जैन परिभाषा में इसे निर्वाण या परिनिर्वाण कहा है। शिव पुराण ने अष्टापद पर्वत के स्थान पर कैलाश पर्वत का उल्लेख किया है।[2]

शिवरात्रि

भगवान् श्री ऋषभदेव की निर्वाण तिथि जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[3], कल्पसूत्र[4], त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र[5], के अनुसार माघ कृष्णा त्रयोदशी है, और तिलोय पण्णत्ति[6] व महापुराण[7] के अनुसार माघकृष्णा चतुर्दशी है।

विज्ञों का मन्तव्य है, कि उस दिन श्रमणों ने शिवगति प्राप्त भगवान की संस्मृति में दिन में उपवास रखा और रात्रि भर धर्म जागरण

---

१ (क) चुलसीतीए जिणवरो
समणसहस्सेहिं परिवुडो भगव।
दसहिं सहस्सेहिं सम,
निव्वाणमणुत्तरं पत्तो ॥ —आवश्यकचूर्णि २२१

(ख) आवश्यकनिर्युक्ति गा० ३३३

(ग) कल्पसूत्र १९९।५९

(घ) त्रिषष्टि० १।६।४५९-४६१

(ङ) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति ४८।९१

२ कैलाशे पर्वते रम्ये,
वृषभोऽयं जिनेश्वरः।
चकार स्वावतार च,
सर्वज्ञः सर्वगः शिवः ॥ —शिवपुराण ५९

३ 'जे से हेमंताणं तच्चे मासे पंचमे पक्खे
माहबहुले तस्स णं माहबहुलस्स तेरसी पक्खेण। —जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति ४८।९१

४ कल्पसूत्र १९९।५९

५ त्रिषष्टि० १।६

६ 'माघस्स किण्हि चोद्दसि पुव्वण्हे णियय—जम्मणक्खत्तें अट्टावयम्मि उसहो अजुदेण समं गओज्जोभि।
—तिलोयपण्णत्ति

७ महापुराण ३७।३

किया अतः वह तिथि शिवरात्रि के नाम से प्रसिद्ध हुई। शिव, मोक्ष, निर्वाण—ये सभी पर्यायवाची शब्द हैं।

ईशान संहिता में लिखा है, कि माघ कृष्णा चतुर्दशी की महानिशा में कोटिसूर्य प्रभोपम भगवान आदिदेव शिवगति प्राप्त हो जाने से शिव—इस लिङ्ग से प्रकट हुए जो निर्वाण के पूर्व आदिदेव कहे जाते थे, वे अब शिवपद प्राप्त हो जाने से 'शिव' कहलाने लगे।[1]

उत्तर प्रान्त में शिव-रात्रि पर्व फाल्गुन कृष्णा चतुर्दशी को मनाया जाता है, तो दक्षिण प्रान्त में माघ कृष्णा चतुर्दशी को। इस भेद का कारण यह है, कि उत्तर प्रान्त में मास का प्रारम्भ कृष्ण-पक्ष से मानते हैं, और दक्षिण प्रान्त में शुक्ल-पक्ष से। इस दृष्टि से दक्षिण प्रान्तीय माघ कृष्णा चतुर्दशी, उत्तर प्रान्त में फाल्गुन कृष्णा चतुर्दशी हो जाती है। कालमाधवीय नागर खण्ड में प्रस्तुत मासवैषम्य का समन्वय करते हुए स्पष्ट लिखा है, कि दाक्षिणात्य मानव के माघ मास के शेष अथवा अन्तिम पक्ष की, और उत्तर प्रान्तीय मानव के फाल्गुन के प्रथम मास की कृष्णा चतुर्दशी शिवरात्री कही गई है।[2]

अग्नि संस्कार का प्रारम्भ

आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा है कि अष्टापद पर्वत के रक्षक देवताओं ने भगवान का अन्तिम समय जानकर भरत चक्रवर्ती को सूचना दी। भरत चक्रवर्ती प्रभु के दर्शन के लिए अष्टापद पर्वत पर पहुँचे। किन्तु प्रभु पार्थिव शरीर को त्याग कर परम पद को प्राप्त कर चुके थे। प्रभु के निर्वाण को जानकर सम्राट् भरत शोक से मूर्च्छित होकर कटे वृक्ष की भांति भूमि पर गिर पड़े।

उस समय रोने की प्रवृत्ति से लोग परिचित नहीं थे किन्तु शोक को कम करने के लिए आंसू निकलना अनिवार्य है। सम्राट् भरत की यह स्थिति देखकर इन्द्र चिन्तित हो उठे। उन्होंने उच्च स्वर से कहा—हे

---

१ माघे कृष्ण चतुर्दश्यामादिदेवो महानिशि,
शिवलिंगतयोद्भूतः कोटिसूर्यसमप्रभः।
तत्कालव्यापिनी ग्राह्या शिवरात्रिव्रते तिथिः॥ —ईशान संहिता

२ माघमासस्य शेषे या प्रथमे फाल्गुनस्य च।
कृष्णा चतुर्दशी सा तु शिवरात्रिः प्रकीर्तिता॥ —कालमाधवीय नागर खण्ड

भरत ! रुदन करो ! हे भरत ! रुदन करो ! सम्राट् भरत की मूर्च्छा दूर हुई और उनकी आंखों से आंसुओं की धारा फूट पड़ी। जब आंसुओं के प्रबल प्रवाह में शोक बह गया तो इन्द्र ने भगवान के शरीर का अन्तिम क्रिया करने के लिए आदेश दिया। अग्निकुमार देवों ने उनके पार्थिव शरीर को जलाकर दाह संस्कार किया। तभी से अग्नि-संस्कार की क्रिया प्रारम्भ हुई और सम्राट् भरत के रुदन से मानवों में भी रुदन की प्रवृत्ति शुरू हुई।

उसके पश्चात् भगवान ऋषभदेव की स्तुति कर सम्राट् भरत अयोध्या लौट आये।[1]

भरत को केवलज्ञान

भरत षट्खण्ड के अधिपति थे, अपार वैभव उनके चरणों में बिखरा रहता था, राज्य श्री उनके चरण चूम रही थी, अपरिमित ऐश्वर्य के वे धनी थे, किसी भी तरह का अभाव उन्हें पीड़ित नहीं कर रहा था, तथापि उनका मन जल-कमल के सदृश निर्लेप और अनासक्त था। एकबार सम्राट् भरत स्नानादि से निवृत्त होकर, वस्त्राभूषणों से सुसज्जित आदर्श (कांच) के भव्य भवन में गये। चारों ओर उनका प्रतिबिम्ब पड़ रहा था। महल का कोई कोना ऐसा नहीं, जहाँ दृष्टि टिकाने पर वे अपनी आकृति को अदृश्य रख सकें। उसी समय सहसा अगुलि से अंगूठी निकलकर पृथ्वी पर गिर पड़ी। अंगूठी से रहित अंगुलि शोभाविहीन प्रतीत हुई। जड़ पदार्थों से अपनी शोभा बढ़ाना उन्हें अखरा और चिन्तन के आलोक में सोचा—अरे ! इन अचेतन पदार्थों की चकाचौंध में मुझे ध्यान नहीं रहा, कि मेरा वास्तविक स्वरूप क्या है, मैं इनकी सुन्दरता में अपनी सुन्दरता मान बैठा था। मुझे स्वात्म-सौन्दर्य को परखना चाहिये।' ऐसा विचार करते-करते उन्होंने क्रमशः मुकुट, कुण्डल, हार आदि सभी आभूषण उतार दिये तो वे अंग एकदम शोभा-रहित दिखाई दिये। आभूषणों से जो अंग, सौन्दर्यता की वृद्धि कर रहे थे वे ही आभूषण उतारने पर नितान्त असुन्दर प्रतीत हुए। सम्राट् भरत चिन्तन में और भी गहरे उतरे—'कृत्रिम सौन्दर्य वस्तुतः सही सौन्दर्य नहीं है। आत्म-सौन्दर्य ही सच्चा सौन्दर्य है। भावना का वेग बढ़ा, कर्म-मल को धोकर वे केवलज्ञानी बन गये।[2]

---

१ त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व १, सर्ग ६

२ (क) 'आयंस घरपवेसो भरहे पडणं च अंगुलीअस्स।
सेसाणं उम्मुअणं संवेगो नाण दिक्खा य॥ —आवश्यकनिर्युक्ति ४३६

आचार्य जिनसेन ने सम्राट् भरत की विरक्ति का कारण बताते हुए लिखा है, कि एक बार सम्राट् भरत उज्ज्वल दर्पण में अपना मुखकमल निहार रहे थे, तभी सहसा उनकी दृष्टि यमराज के दूत श्वेत केश पर टिक गई, उसे देखकर उन्हें संसार से विरक्ति हो गई, संयम ग्रहण कर लिया। और तत्काल ही मन:पर्ययज्ञान व केवलज्ञान प्रगट हो गया।[१]

केवलज्ञान प्राप्ति के अनन्तर उन्होंने अपना पञ्चमुष्टि लोच किया। साधु-वेश धारण कर, महल और वैभव-परिवार को छोड़कर सम्राट् भरत वन की ओर निकल पड़े। अब कोइ भी लोभ उन्हें अपने मार्ग से च्युत नहीं कर पाया। केवली बनने के बाद उन्होंने सहस्रों की संख्या में जन-समुदाय को प्रतिबोधित किया और मोक्ष-मार्ग का पथिक बनाया।

इस तरह भरतेश्वर ने सतहत्तर लक्ष पूर्व पर्यन्त राजकुमार की तरह जीवन व्यतीत किया। फिर एक हजार वर्ष मांडलिक राजा की तरह राज्य श्री का उपभोग किया। और एक हजार वर्ष कम छह लाख पूर्व तक चक्रवर्तीत्व का परिभोग किया तथा केवलज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् एक पूर्व तक संयम-पर्याय का पालन कर अन्त में चौरासी लक्ष पूर्व की आयु भोगकर अष्टापद पर्वत पर निर्वाण को प्राप्त हुए।[२]

श्रीमद् भागवतकार ने सम्राट् भरत का जीवन कुछ अन्य रूप से चित्रित किया है। राजर्षि भरत सारी पृथ्वी का राज्य भोगकर वन में चले गये और वहाँ तपस्या के द्वारा भगवान की उपासना की और तीन जन्मों में भगवत् स्थिति को प्राप्त हुए।[३]

जैन दृष्टि से भगवान के सौ ही पुत्रों ने तथा ब्राह्मी-सुन्दरी दोनों पुत्रियों ने श्रमणत्व स्वीकार किया और उत्कृष्ट साधना कर कैवल्य को प्राप्त किया।[४] श्रीमद् भागवत, के अभिमतानुसार सौ पुत्रों में वे कवि, हरि,

(ख) आवश्यकचूर्णि पृ० २२७
(ग) आवश्यक मलय० वृ० पृ० २४६

१ महापुराण ४७।३९२, ३९३
२ त्रिषष्टि० १।६।७५१-७५५
३ 'स भुक्तभोगां त्यक्त्वेमां निर्गतस्तपसा हरिम्।
उपासीनस्तत्पदवीं लेभे वै जन्मभिस्त्रिभिः॥

—भागवत ११।२।१८।७११

४ आवश्यक निर्युक्ति मलयगिरी ३४८-३४९।२३१-३२

अन्तरिक्ष, प्रबुद्ध, पिप्पलायन, आविर्होत्र, द्रुमिल, चमस और करभाजन-ये नौ आत्म-विद्या विशारद पुत्र वातरशन श्रमण बने।[१]

भरत के उत्तराधिकारी

भरत के बाद आदित्ययश उत्तराधिकारी बना।[२] उसने भी विरासत में प्राप्त अपने पिता का राज्य सम्भाला। बखूबी शासन-सूत्र का संचालन करते हुए अन्त में उसी आदर्श-गृह में अनित्य भावना का चिन्तन करते हुए गृहस्थवेश में ही केवलज्ञान को प्राप्त किया। आदित्ययश के बाद महायश, अतिबल, बलभद्र आदि सात उत्तराधिकारी और हुए, जिन्होंने अनित्य भावना का चिन्तन करते हुए अन्त में उसी आदर्शभवन में केवलज्ञान, केवलदर्शन को प्राप्त किया।

भरत का नवम उत्तराधिकारी अपने पूर्वजों से विपरीत आचार और विचार वाला हुआ। उसने जब अपने सभी पूर्वजों को उसी शीश महल में विरक्त होने की घटना को सुना, तो वह सोचने लगा—'ऐसा शीश महल किस काम का, जो वैराग्य का जनक हो। कहीं ऐसा न हो, कि मैं भी इसका शिकार बन जाऊँ और मेरे अन्दर भी वैराग्य के अंकुर खिल उठें, अत: ऐसे स्थान को नष्ट करवा देना ही योग्य है, नहीं तो यह भविष्य में न जाने कितनों की विरक्ति का कारण बनेगा।' यह विचार उद्भुत होते ही उसने शीश महल को गिरवा दिया। और अपने कृत्य पर अत्यन्त प्रसन्न हुआ।[3]

दिगम्बर परम्परा के आचार्य जिनसेन ने भरत के पुत्र का नाम 'अर्ककीर्ति' दिया है, और लिखा है, कि—भरत से लेकर चौदह लाख इक्ष्वाकुवंशीय सम्राट् निरन्तर मोक्ष गये। तत्पश्चात् एक सम्राट् सर्वार्थ-सिद्ध में गया। उसके बाद अस्सी सम्राट् मोक्ष में गये, परन्तु इनके मध्य में एक-एक राजा इन्द्र पद को प्राप्त होता रहा।[४]

---

१ भागवत ११।२।२०-२१

२ त्रिषष्टि० १।६।७४६

३ भरत-मुक्ति

४ मोक्षमिक्ष्वाको जग्मुर्भरताद्या निरन्तराः।
ते चतुर्दशलक्षास्तु प्रापैकोऽहमिन्द्रताम्॥
तथा दशगुणाश्चाष्टौ परिपाट्या नरेश्वराः।
मुक्तास्तदन्तरे प्रापदेकैकः सुरनाथताम्॥—हरिवंशपुराण जिन० १३।१३-१४

अर्ककीर्ति से सूर्यवंश की उत्पत्ति हुई। और बाहुबली के पुत्र सोमयश से सोमवंश अथवा चन्द्रवंश की उत्पत्ति हुई।[1] सोमवंश में उत्पन्न हुए अनेक सम्राट् मोक्ष में पहुँचे।[2]

इस प्रकार भगवान ऋषभदेव का तीर्थ पृथ्वी पर पचास लाख करोड़ सागर तक अनवरत चलता रहा।[3]

उपसंहार

भगवान ऋषभदेव के ओजस्वी, तेजस्वी और वर्चस्वी व्यक्तित्व और कृतित्व के सम्बन्ध में संक्षेप में मैंने उपर्युक्त पंक्तियों में प्रकाश डाला है किन्तु उस महापुरुष के जीवन की सम्पूर्ण छवि का अंकन करना कठिन ही नहीं कठिनतर है, क्या अनन्त आकाश को कभी नापा जा सकता है? उनका जीवन क्या लौकिक और क्या लोकोत्तर सभी दृष्टियों से दिव्य और भव्य रहा है। वे आकाश की तरह अनन्त, सागर की तरह गम्भीर, मेरु की तरह उन्नत, सूर्य की तरह तेजस्वी, चन्द्र की तरह सौम्य, शेर की तरह निर्भीक, हाथी की तरह मस्त, कमल की तरह निर्लेप, कच्छप की तरह जितेन्द्रिय, भारण्ड की तरह अप्रमत्त, स्वर्ण की तरह कान्तिमान, अग्नि की तरह जाज्वल्यमान, और पृथ्वी की तरह सहिष्णु थे। उनके सद्गुणों का जितना भी उत्कीर्तन किया जाय उतना ही कम है। उनका जीवन आज भी उतना ही मार्गदर्शक है जितना उस युग में था। उनका पवित्र-चरित्र बड़ा ही अद्भुत और अनूठा है। वह सदा ही जन-जीवन के लिए वरदान के रूप में रहा है और सदा रहेगा।

---

१ योऽसौ बाहुबली तस्याऽज्जातः सोमयशा. सुतः।
सोमवंशस्य कर्तासौ तस्य सूनुर्महाबलः॥

—हरिवंशपुराण १३।१६

२ हरिवंशपुराण १३।१७

३ पञ्चाशत्कोटिलक्षाश्च सागराणां प्रमाणतः।
तीर्थं वृषभनाथस्य तथा वहति सन्ततेः॥

—हरिवंश० १३।१८

परिशिष्ट

(१) कल्पवृक्ष : एक परिचय
(२) कलाएं : एक अध्ययन
(३) अष्टादश प्रकार की श्रेणी-प्रश्रेणी : एक विहंगम दृष्टि
(४) लिपि-कला : एक पर्यवेक्षण
(५) ऋषभदेव और उनका परिवार : एक अवलोकन
पुत्र-पुत्रियां
सम्राट् भरत की वंशावली
बाहुबली की वंशावली
नमि की वंशावली
चौरासी गणधर
विद्याधरों की सोलह जातियां
म्लेच्छ जातियां
(६) भौगोलिक परिचय
अठानवें भाइयों के देश
नमि के पचास नगर
विनमि के साठ नगर
भगवान ऋषभदेव का विहार-स्थल
(७) भरत चक्रवर्ती के चौदह रत्न और नौ निधियां
(८) तीर्थंकर और उनकी विशेषताएं
(९) जीवनी के प्रामाणिक स्रोतों का संकेत

परिशिष्ट १

कल्पवृक्ष : एक परिचय

भोगभूमिज जीवों को सभी प्रकार की आवश्यक सामग्री प्रदान करने वाले वृक्ष कल्पवृक्ष कहलाते हैं। इनका अपर नाम 'सुरतरु' भी है। भारतीय साहित्य में कल्पवृक्ष के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा गया है। यहाँ पर जैन साहित्य की दृष्टि से दस प्रकार के कल्पवृक्षों का संक्षेप में परिचय दिया जा रहा है[1] :—

१ मद्यांग वृक्ष—मधुर, सुस्वादु और पौष्टिक रस प्रदान करने वाले
२ भृतांग वृक्ष—विविध प्रकार के पात्र-भाजन प्रदायक वृक्ष
३ तूर्यांग वृक्ष—आमोद-प्रमोद हेतु विभिन्न वादित्र प्रदायक वृक्ष
४ दीपांग वृक्ष—अपनी शाखा-प्रशाखाओं से दीपकवत् प्रकाश फैलाने वाले वृक्ष
५ ज्योतिष्क वृक्ष—सूर्य अथवा अग्निवत् उष्णता प्रदान करने वाले वृक्ष
६ चित्रांग वृक्ष—विविध वर्णों के पुष्प देने वाले
७ चित्ररस वृक्ष—विभिन्न प्रकार का स्वादिष्ट भोजन देने वाले वृक्ष
८ मण्यंग वृक्ष—मणि-रत्न आदि की तरह विविध चमकदार आभूषणों के प्रदायक
९ गेहागार वृक्ष—मकान की तरह आश्रय प्रदान करने वाले वृक्ष
१० अनग्न वृक्ष—वस्त्राभाव की पूर्ति करने वाले वृक्ष

---

१ (क) आवश्यकनिर्युक्ति
(ख) स्थानांगसूत्र
(ग) समवायांगसूत्र, दसवाँ समवाय
(घ) त्रिषष्टि० १।२।१२२-१२६
(ङ) महापुराण ९।३७-३९ आदि दिगम्बर ग्रन्थों में कल्पवृक्षों के नामों में भिन्नता है, पर आशय वही है।

परिशिष्ट २

कलाएँ : एक अध्ययन

कला जीवन को निखारती है, बुद्धि को मांजती है और मानव को सच्चा और अच्छा मानव बनाती है। एतदर्थ ही भगवान ऋषभदेव ने अपने पुत्र और पुत्रियों को कला का परिज्ञान कराया। सक्षेप मे विभिन्न ग्रन्थों में उनके नाम इस प्रकार प्राप्त होते हैं। तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करने हेतु प्रस्तुत है वह सामग्री :—

बहत्तर कलाओं के नाम

१ लेहं — लेख लिखने की कला
२ गणियं — गणित
३ रूवं — रूप सजाने की कला
४ नट्टं — नाट्य करने की कला
५ गीयं — गीत गाने की कला
६ वाइयं — वाद्य बजाने की कला
७ सरगयं — स्वर जानने की कला
८ पुक्खरयं — ढोल आदि वाद्य बजाने की कला
९ समतालं — ताल देना
१० जूयं — जूआ खेलने की कला
११ जणवायं — वार्तालाप की कला
१२ पोक्खच्चं — नगर के संरक्षण की कला
१३ अट्ठावयं — पासा खेलने की कला
१४ दगमट्टियं — पानी और मिट्टी के सम्मिश्रण से वस्तु बनाने की कला
१५ अन्नविहिं — अन्न उत्पन्न करने की कला
१६ पाणविहिं — पानी को उत्पन्न करना, और उसे शुद्ध करने की कला
१७ वत्थविहिं — वस्त्र बनाने की कला
१८ सयणविहिं — शय्या निर्माण करने की कला
१९ अज्जं — संस्कृत भाषा में कविता निर्माण की कला
२० पहेलियं — प्रहेलिका निर्माण की कला
२१ मागहियं — छन्द विशेष बनाने की कला
२२ गाहं — प्राकृत भाषा में गाथा निर्माण की कला

२३ सिलोगं—श्लोक बनाने की कला
२४ गंध जुत्ति—सुगन्धित पदार्थ बनाने की कला
२५ मधुसित्थं—मधुरादि छह रस बनाने की कला
२६ आभरणविहिं—अलंकार निर्माण तथा धारण की कला
२७ तरुणीपडिकम्मं—स्त्री को शिक्षा देने की कला
२८ इत्थीलक्खणं—स्त्री के लक्षण जानने की कला
२९ पुरिसलक्खणं—पुरुष के लक्षण जानने की कला
३० हयलक्खण—घोड़े के लक्षण जानने की कला
३१ गयलक्खणं—हस्ति के लक्षण जानने की कला
३२ गोलक्खणं—गाय के लक्षण जानने की कला
३३ कुक्कुडलक्खणं—कुक्कुट के लक्षण जानने की कला
३४ मिंढयलक्खणं—मेढे के लक्षण जानने की कला
३५ चक्कलक्खणं—चक्र-लक्षण जानने की कला
३६ छत्तलक्खण—छत्र-लक्षण जानने की कला
३७ दण्डलक्खण—दण्ड-लक्षण जानने की कला
३८ असिलक्खणं—तलवार के लक्षण जानने की कला
३९ मणिलक्खणं—मणि के लक्षण जानने की कला
४० कागणिलक्खणं—काकिणी—चक्रवर्ती के रत्न-विशेष के लक्षण को जानने की कला
४१ चम्मलक्खणं—चर्म-लक्षण जानने की कला
४२ चंदलक्खणं—चन्द्र-लक्षण जानने की कला
४३ सूरचरियं—सूर्य आदि की गति जानने की कला
४४ राहुचरियं—राहु आदि की गति जानने की कला
४५ गहचरियं—ग्रहों की गति जानने की कला
४६ सोभागकरं—सौभाग्य का ज्ञान
४७ दोभागकरं—दुर्भाग्य का ज्ञान
४८ विज्जागयं—रोहिणी, प्रज्ञप्ति आदि विद्या सम्बन्धी ज्ञान
४९ मंतगयं—मन्त्र-साधना आदि का ज्ञान
५० रहस्सगयं—गुप्त वस्तु को जानने का ज्ञान
५१ सभासं—प्रत्येक वस्तु के वृत्त का ज्ञान
५२ चारं—सैन्य का प्रमाण आदि जानना
५३ पडिचारं—सेना को रणक्षेत्र में उतारने की कला
५४ वूहं—व्यूह रचने की कला
५५ पडिवूहं—प्रतिव्यूह रचने की कला (व्यूह के सामने उसे पराजित करने वाले व्यूह की रचना)
५६ खंधावारमाणं—सेना के पड़ाव का प्रमाण जानना

५७ नगरमाणं—नगर का प्रमाण जानने की कला
५८ वत्थुमाणं—वस्तु का प्रमाण जानने की कला
५९ खंधावारनिवेसं—सेना का पड़ाव आदि कहाँ डालना इत्यादि का परिज्ञान
६० वत्थुनिवेसं—प्रत्येक वस्तु के स्थापन कराने की कला
६१ नगरनिवेसं—नगर निर्माण का ज्ञान
६२ ईसत्थं—ईषत् को महत् करने की कला
६३ छरुप्पवायं—तलवार आदि की मूठ आदि बनाने की कला
६४ आससिक्खं—अश्व-शिक्षा
६५ हत्थिसिक्खं—हस्ति-शिक्षा
६६ धणुवेयं—धनुर्वेद
६७ हिरण्णपागं, सुवण्णपागं, मणिपागं, धातुपागं—हिरण्यपाक, सुवर्णपाक, मणिपाक, धातुपाक बनाने की कला
६८ बाहुजुद्धं, दंडजुद्धं, मुट्ठिजुद्धं, अट्ठिजुद्धं, जुद्धं, निजुद्धं, जुद्धाइजुद्धं—बाहुयुद्ध, दण्डयुद्ध, मुष्टियुद्ध, यष्टियुद्ध, युद्ध, नियुद्ध, युद्धातियुद्ध करने की कला।
६९ सुत्ताखेडं, नालियाखेडं, वट्टखेडं, धम्मखेडं, चम्मखेडं—सूत बनाने की कला, नली बनाने की, गेंद खेलने की, वस्तु के स्वभाव जानने की, चमड़ा बनाने आदि की कला।
७० पत्तच्छेज्ज-कडगच्छेज्जं—पत्र-छेदन, वृक्षाङ्ग विशेष छेदने की कला।
७१ सजीवं, निज्जीवं—संजीवन, निर्जीवन
७२ सउणरुयं—पक्षी के शब्द से शुभाशुभ जानने की कला[1]

आगमोदय समिति द्वारा प्रकाशित समवायांगसूत्र मे तीसरी 'रूप कला' के स्थान पर 'चित्रकला' और बत्तीसवीं कला 'गो-लक्षण' के स्थान पर 'वृषभ-लक्षण' है। शेष सत्तर कलाएँ पूर्वोक्त रीति से ही दी हुई हैं।

बहत्तर कलाएँ : अन्य प्रकार

१ लेख
२ गणित
३ चित्र
४ नाट्य
५ गीत
६ वाद्य
७ स्वर-ज्ञान
८ पुष्कर-ज्ञान

---

१ (क) समवायांगसूत्र, समवाय ७२
(ख) नायाधम्मकहा पृ० २१
(ग) राजप्रश्नीयसूत्र पत्र ३४०
(घ) औपपातिकसूत्र ४०, पत्र० १८५
(ङ) कल्पसूत्र,सुबोधिका टीका

९ समताल-ज्ञान
१० द्यूत
११ जनवाद
१२ नगर-रक्षा
१३ अष्टापद-चौपड़
१४ दगमृत्तिका
१५ अन्न-विधि
१६ पान-विधि
१७ वस्त्र-विधि
१८ शयन-विधि
१९ आर्या
२० प्रहेलिका
२१ मागधिका
२२ गाथा
२३ श्लोक
२४ गन्ध-युक्ति
२५ मधुसिक्थ
२६ आभरण-विधि
२७ युवती-प्रतिकर्म
२८ स्त्री-लक्षण
२९ पुरुष-लक्षण
३० अश्व-लक्षण
३१ गज-लक्षण
३२ वृषभ-लक्षण
३३ कुक्कुट-लक्षण
३४ मेंढा-लक्षण
३५ चक्र-लक्षण
३६ छत्र-लक्षण
३७ दण्ड-लक्षण
३८ असि-लक्षण
३९ मणि-लक्षण
४० काकिणी-लक्षण
४१ चर्म-लक्षण, चन्द्र-लक्षण
४२ सभासञ्चार
४३ व्यूह
४४ स्कन्धावार-मान
४५ नगर-मान
४६ वस्तु-प्रमाण
४७ स्कन्ध-निवेश
४८ वस्तु-निवेश
४९ नगर-निवेश
५० इषुशास्त्र, त्सरुप्रवाद
५१ अश्व-शिक्षा
५२ गज-शिक्षा
५३ धनुर्वेद
५४ हिरण्यपाक
५५ सुवर्ण-पाक
५६ मणि-पाक
५७ धातु-पाक
५८ बाहु-युद्ध
५९ लता-युद्ध—लता की तरह प्रतिपक्षी से लिपट कर किया जाने वाला युद्ध
६० मुष्टि-युद्ध
६१ युद्ध
६२ नियुद्ध
६३ युद्धातियुद्ध
६४ सूत्र-खेड़नविधि
६५ खेल
६६ नालिका-खेल
६७ चर्म-खेल
६८ पत्रच्छेद्य
६९ कटच्छेद्य
७० सजीव
७१ निर्जीव
७२ शकुनरुत

—अभिधान राजेन्द्र कोश, भाग ३ में उद्धृत समवायांगसूत्र के अनुसार ७२ कलाएं

ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र, अध्ययन १, सू० १८ के अनुसार बहत्तर कलाएँ

१ लेख	२ गणित
३ रूप	४ नाट्य
५ गीत	६ वादित्र
७ स्वरगत	८ पुष्करगत
९ समताल	१० द्यूत
११ जनवाद	१२ पाशक-पासा
१३ अष्टापद	१४ पुरः काव्य—आशुकवित्व
१५ दकमृत्तिका	१६ अन्नविधि
१७ पानविधि	१८ वस्त्र-विधि
१९ विलेपन विधि	२० शयन-विधि
२१ आर्या	२२ प्रहेलिका
२३ मागधिका	२४ गाथा
२५ गीति	२६ श्लोक
२७ हिरण्य-युक्ति	२८ स्वर्ण-युक्ति
२९ चूर्ण-युक्ति	३० आभरण-विधि
३१ तरुणी-प्रतिकर्म	३२ स्त्री-लक्षण
३३ पुरुष-लक्षण	३४ हय-लक्षण
३५ गज-लक्षण	३६ गो-लक्षण
३७ कुक्कुट-लक्षण	३८ छत्र-लक्षण
३९ दण्ड-लक्षण	४० असि-लक्षण
४१ मणि-लक्षण	४२ काकणी-लक्षण
४३ वास्तुविद्या	४४ स्कन्धवारमान
४५ नगरमान	४६ व्यूह
४७ प्रतिव्यूह	४८ चार
४९ प्रतिचार	५० चक्रव्यूह
५१ गरुड़व्यूह	५२ शकट-व्यूह
५३ युद्ध	५४ नियुद्ध
५५ युद्धातियुद्ध	५६ दृष्टि-युद्ध
५७ मुष्टि-युद्ध	५८ बाहु-युद्ध
५९ लता-युद्ध	६० इषुशास्त्र
६१ त्सरुप्रवाद	६२ धनुर्वेद
६३ हिरण्य-पाक	६४ स्वर्ण-पाक

६५ सूत्र-खेल	६६ वस्त्र-खेल
६७ नालिका-खेल	६८ पत्रच्छेद्य
६९ कटच्छेद्य	७० सजीव
७१ निर्जीव	७२ शकुनरुत

औपपातिक सूत्र में उन्नीसवीं कला 'गन्ध-युक्ति' और तीसवीं कला 'चूर्ण-युक्ति' तथा छप्पनवीं कला 'दृष्टि-युद्ध' नहीं है। शेष सब कलाएँ ज्ञातासूत्र के अनुसार ही वर्णित की गई हैं।

रायपसेणीयसूत्र में उन्तीसवीं कला 'चूर्ण-युक्ति' नहीं है, और अड़तीसवीं कला 'चक्रलक्षण' विशेष है। तथा छप्पनवीं कला 'दृष्टि युद्ध' के स्थान पर 'यष्टि युद्ध' कला का वर्णन है। शेष सब कलाएँ ज्ञाताधर्म कथा के अनुसार ही दी गई है।

श्री जम्बूद्वीपशान्तिचन्द्रीयवृत्ति, वक्षस्कार २, पत्र सख्या १३६-२, १३७-१ में सभी कलाएँ ज्ञाताधर्मकथासूत्र के अनुसार ही हैं। थोड़ा संख्या के क्रम में अन्तर है।

कल्पसूत्र की टीकाओं में जिन बहत्तर कलाओं का वर्णन मिलता है, वे पूर्वोक्त बहत्तर कलाओं से लगभग भिन्न ही हैं—

१ लेखन	२ गणित
३ गीत	४ नृत्य
५ वाद्य	६ पठन
७ शिक्षा	८ ज्योतिष
९ छन्द	१० अलंकार
११ व्याकरण	१२ निरुक्ति
१३ काव्य	१४ कात्यायन
१५ निघण्टु	१६ गजारोहण
१७ अश्वारोहण	१८ आरोहण-शिक्षा
१९ शस्त्राभ्यास	२० रस
२१ यन्त्र	२२ मन्त्र
२३ विष	२४ खन्य
२५ गन्धवाद	२६ प्राकृत
२७ संस्कृत	२८ पैशाचिका
२९ अपभ्रंश	३० स्मृति
३१ पुराण	३२ विधि

३३ सिद्धान्त
३४ तर्क
३५ वैद्यक
३६ वेद
३७ आगम
३८ संहिता
३९ इतिहास
४० सामुद्रिक
४१ विज्ञान
४२ आचार्य-विद्या
४३ रसायन
४४ कपट
४५ विद्यानुवाद-दर्शन
४६ सस्कार
४७ धूर्त संबलक
४८ मणिकर्म
४९ तरु-चिकित्सा
५० खेचरी-कला
५१ अमरीकला
५२ इन्द्रजाल
५३ पाताल-सिद्धि
५४ यन्त्रक
५५ रसवती
५६ सर्वकरणी
५७ प्रासाद-लक्षण
५८ पण
५९ चित्रोपल
६० लेप
६१ चर्मकर्म
६२ पत्रछेद
६३ नखछेद
६४ पत्र-परीक्षा
६५ वशीकरण
६६ काष्ठघटन
६७ देशभाषा
६८ गारुड़
६९ योगांग
७० धातुकर्म
७१ केवल-विधि
७२ शकुनरुत
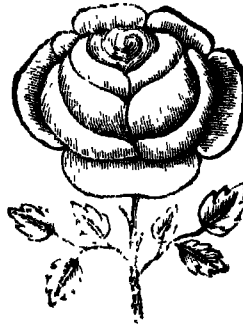
महिलाओं की चौंसठ कलाएं

१ नृत्य	२ औचित्य
३ चित्र	४ वादित्र
५ मंत्र	६ तन्त्र
७ ज्ञान	८ विज्ञान
९ दम्भ	१० जलस्तम्भ
११ गीतमान	१२ तालमान
१३ मेघवृष्टि	१४ फलाकृष्टि
१५ आरामरोपण	१६ आकारगोपन
१७ धर्मविचार	१८ शकुनसार
१९ क्रियाकल्प	२० संस्कृतजल्प
२१ प्रासादनीति	२२ धर्मनीति
२३ वणिकावृद्धि	२४ सुवर्णसिद्धि
२५ सुरभितैलकरण	२६ लीलासंचरण
२७ हयगजपरीक्षण	२८ पुरुष-स्त्रीलक्षण
२९ हेमरत्नभेद	३० अष्टादश लिपि-परिच्छेद
३१ तत्काल बुद्धि	३२ वस्तुसिद्धि
३३ काम विक्रिया	३४ वैद्यक क्रिया
३५ कुम्भभ्रम	३६ सारिश्रम
३७ अंजनयोग	३८ चूर्णयोग
३९ हस्तलाघव	४० वचनपाटव
४१ भोज्य विधि	४२ वाणिज्य विधि
४३ मुखमण्डन	४४ शालिखण्डन
४५ कथाकथन	४६ पुष्पग्रन्थन
४७ वक्रोक्ति	४८ काव्य-शक्ति
४९ स्फारविधिवेष	५० सर्वभाषाविशेष
५१ अभिधानज्ञान	५२ भूषण परिधान
५३ भृत्योपचार	५४ गृहाचार
५५ व्याकरण	५६ परनिराकरण
५७ रन्धन	५८ केशबन्धन
५९ वीणानाद	६० वितण्डावाद
६१ अंकविचार	६२ लोकव्यवहार
६३ अन्त्याक्षरिका	६४ प्रश्नप्रहेलिका

—जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिवृत्ति, वक्षस्कार २, पत्र १३९-२, १४०-१

कामसूत्र के विद्या-समुद्देश के अनुसार महिलाओं की चौंसठ कलाएँ

१ गीत
२ वादित्र
३ नृत्य
४ आलेख्य
५ विशेषकच्छेद्य
६ तण्डुल कुसुमबलिविकार
७ पुष्पास्तरण
८ दशन-वसनांगराग
९ मणिभूमिकर्म
१० शयन-रचन
११ उदकवाद्य
१२ उदकघात
१३ चित्रयोग
१४ माल्यग्रन्थन
१५ शेखर का पीड़ योजन
१६ नेपथ्य प्रयोग
१७ कर्णपत्र भंग
१८ गंधयुक्ति
१९ भूषणयोजन
२० इन्द्रजाल
२१ कौचुमारयोग
२२ विचित्रशाक
२३ सूचिवान कर्म
२४ वीणा डमरूक वाद्य
२५ प्रतिमाला
२६ हस्तलाघव
२७ पानकरस रागासव योजन
२८ सूत्रक्रीड़ा
२९ प्रहेलिका
३० दुर्वाचक योग
३१ पुस्तक-वाचन
३२ नाटकाख्यायिक दर्शन
३३ काव्य समस्या पूर्ति
३४ पत्रिकावेत्रवान विकल्प
३५ तक्षकर्म
३६ तक्षण
३७ वास्तुविधि
३८ रूप्यरत्न परीक्षा
३९ धातुवाद
४० मणिरागाकर-ज्ञान
४१ वृक्षायुर्वेद
४२ मेषकुकुटलावक युद्ध विधि
४३ शुकसारिका प्रलापन
४४ उत्सादन, संवाहन और केशमार्जन कुशलता
४५ अक्षर मुष्टिका कथन
४६ म्लेच्छित कलाविकल्प
४७ देश भाषा विज्ञान
४८ पुष्पकटिका
४९ निमित्त ज्ञान
५० यंत्र मातृका
५१ धारण मातृका
५२ सपाठ्य
५३ मानसी काव्यक्रिया
५४ अभिधान कोश
५५ छन्द विज्ञान
५६ क्रियाकल्प
५७ छलितक योग
५८ वस्त्र-गोपन
५९ द्यूत-विशेष
६० आकर्ष-क्रीड़ा
६१ बालक्रीड़न
६२ वैनयिका
६३ वैजयिका
६४ व्यामिकी

अन्यत्र वर्णित चौंसठ कलाएँ

'नीतिसार' नामक ग्रन्थ में शुक्राचार्य ने मुख्य चौंसठ कलाओं का निरूपण किया है। कला का लक्षण बताते हुए उन्होंने लिखा है, कि जिसको एक गूंगा व्यक्ति भी, जो वर्णोच्चारण भी नहीं कर सकता, कर सके वह कला है।[1]

केलदि श्री बसवराजेन्द्रविरचित 'शिवतत्त्व रत्नाकर' में मुख्य चौंसठ कलाओं का नाम-निर्देश इस प्रकार किया है—

१. इतिहास, २. आगम, ३. काव्य, ४. अलंकार, ५. नाटक, ६. गायकत्व, ७. कवित्व, ८. कामशास्त्र, ९. दुरोदर (द्यूत), १०. देशभाषालिपिज्ञान, ११. लिपि-कर्म, १२. वाचन, १३. गणक, १४. व्यवहार, १५. स्वरशास्त्र, १६. शकुन, १७. सामुद्रिक, १८. रत्नशास्त्र, १९. गज-अश्वरथकौशल, २०. मल्लशास्त्र, २१. सूपकर्म (रसोई पकाना), २२. भूरुहदोहद (बागवानी), २३. गंधवाद, २४. धातुवाद, २५. रस-सम्बन्धी २६. खनिवाद, २७. बिलवाद, २८. अग्निसंस्तम्भ, २९. जलसंस्तम्भ, ३०. वाचःस्तम्भन, ३१. वयः स्तम्भन, ३२. वशीकरण, ३३. आकर्षण, ३४. मोहन, ३५. विद्वेषण, ३६. उच्चाटन, ३७. मारण, ३८. कालवञ्चन, ३९. परकायप्रवेश, ४०. पादुकासिद्धि, ४१. वाक्सिद्धि, ४२. गुटिकासिद्धि, ४३. ऐन्द्रजालिक, ४४. अञ्जन ४५. परदृष्टिवञ्चन, ४६. स्वरवञ्चन, ४७. मणि-मंत्र-औषधादिकी सिद्धि, ४८. चोर-कर्म, ४९. चित्रक्रिया, ५०. लोहक्रिया, ५१. अश्मक्रिया, ५२. मृत्क्रिया, ५३. दारुक्रिया ५४. वेणुक्रिया, ५५ चर्मक्रिया, ५६. अम्बरक्रिया, ५७. अदृश्यकरण, ५८. दन्तिकरण, ५९. मृगयाविधि, ६०. वाणिज्य, ६१. पाशुपाल्य, ६२. कृषि, ६३. आसवकर्म, और ६४. मेषादि युद्ध-कारक कौशल।

वात्स्यायनप्रणीत 'कामसूत्र' के टीकाकार जयमङ्गल ने दो प्रकार की कलाओं का उल्लेख किया है—(क) कामशास्त्रांगभूता और (ख) तन्त्रा-वापौपयिकी। इन दोनों में से प्रत्येक में चौंसठ कलाएँ हैं। प्रथम प्रकार में चौबीस कर्माश्रया, २० द्यूताश्रया, १६ शयनोपचारिका और ४ उत्तरकलाएँ इस तरह ६४ मूलकलाएँ हैं। इनकी भी अवान्तर और कलाएँ हैं, जो सब मिलकर ५१८ होती हैं। द्वितीय प्रकार की भी चौसठ कलाएँ हैं।[2]

---

१ शक्तो मूकोऽपि यत् कर्तुं कलासंज्ञं तु तत् स्मृतम् ॥ —नीतिसार ४।३

२ 'नीतिसार', शुक्राचार्य, ४।३

परिशिष्ट ३

अष्टादश प्रकार की श्रेणी-प्रश्रेणी : एक विहंगम दृष्टि

जैन, बौद्ध और वैदिक वाङ्मय में श्रेणी और प्रश्रेणी के सम्बन्ध में यत्र-तत्र निरूपण किया गया है। संक्षेप में वह इस प्रकार है—

जैन दृष्टि से—

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में नव नारु और नव कारु इन अठारह श्रेणियों के सम्बन्ध में कहा है—

नवनारु	नवकारु
१ कुम्भकार	१० चर्मकार
२ रेशमी वस्त्र बनाने वाला	११ जन्तु-पीलक (तेली)
३ स्वर्णकार	१२ गंछी (अँगोछा बेचने वाला)
४ सूपकार	१३ छीपा
५ गायक	१४ कंसकार (ठठेरा)
६ नापित	१५ दर्जी
७ मालाकार	१६ ग्वाला
८ कच्छकार	१७ शिकारी
९ तमोली	१८ मछुये

—जम्बूद्वीपपण्णत्ति, वक्षस्कार ३, पत्र १९३

बौद्ध साहित्य में

१ सौवर्णिक—
२ हैरण्यिक—
३ प्रावारिक—चादर बेचने वाले
४ शांखिक—शंख का कार्य करने वाले
५ दन्तकार—हाथी-दांत का कार्य करने वाले
६ मणिकार—
७ पत्थर का कार्य करने वाले—
८ गंधी—
९ रेशमी वस्त्र वाले—
१० कोशविक—ऊनी वस्त्र वाले
११ तेली—
१२ घृतकुम्भिक—घी विक्रय करने वाले
१३ गौलिक—गुड़ विक्रय करने वाले
१४ वारिक—पान विक्रय करने वाले

१५ कार्पासिक—कपास विक्रेता
१६ दाध्यिक—दही विक्रेता
१७ पूपिक—पूये विक्रेता
१८ खण्डकारक—
१९ मोदकारक—
२० कण्डुक—हलवाई
२१ सापित कारक—आटा विक्रेता
२२ सत्तूकारक—
२३ फलवणिज—
२४ मूलवणिज—
२५ सुगन्धित चूर्ण एवं तेल विक्रेता—
२६ गुड़पाचक
२७ शक्कर निर्माता
२८ सौंठ विक्रेता
२९ सीधुकारक
३० शर्करवणिज

—महावस्तु, भाग ३

वेदों में—

१ बढ़ई—यह शिल्पियों में प्रमुख था, जो राजा के युद्ध एवं सवारी के लिए रथ, आदि का निर्माण करता था एवं माल ढोने के लिए छकड़े आदि का भी निर्माण करता था।

२ कर्मार—धातु का कार्य करने वाला यह पक्षियों के पंखों से धोंकनी का निर्माण करता था एवं सूखे काष्ठ से धातु को गलाकर बर्तन बनाता था।

३ हिरण्यकार—यह स्वर्ण-चाँदी के आभूषण बनाता था।

४ चर्मकार—प्रत्यंचा, गोफना, रथ कसने की बद्धियाँ, रास, चाबुक, मशक आदि विविध प्रकार की चर्म की वस्तुएँ बनाता था।

५ बुनकर—बुनाई का कार्य, यह कार्य प्रायः स्त्रियाँ करती थीं।

६ भिषज—वैद्य जो विविध रोगों का उपचार करता था।

७ उपलप्रक्षिणी—चक्की आदि पीसने वाली।

ऋग्वेद—

१ कारि—शिल्पकार
२ रथकार—रथ निर्माता
३ तक्षण—बढ़ई
४ कौलाल—कुम्भकार का पुत्र

५ कर्मार—राजा का मिस्त्री
६ मणिकार—जौहरी
७ वप—बीज वपन करने वाला
८ इषुकार— बाण निर्माता
९ धनुष्कार—धनुष्य का निर्माता
१० ज्याकार—धनुष्य की तांत का निर्माता
११ रज्जुसर्ज—रस्सी का निर्माता
१२ मृगयु—मृगो का विशेषज्ञ और शिकार में दक्ष
१३ श्वनिन—कुत्तो का विशेषज्ञ
१४ पौञ्जिष्ठ—मछुआ
१५ बिदलकारी—बांस को चीरने वाली महिला
१६ कण्टकीकारी—कांटों से कार्य करने वाली महिला
१७ पेशस्कारी—बढई का कार्य करने वाली महिला
१८ भिषज—वैद्य
१९ नक्षत्रदर्श—ज्योतिषशास्त्र में निष्णात
२० हस्तिप—हाथियों का रक्षक
२१ अश्वप—घोड़ों का रक्षक
२२ गोपाल—गायों का पालन करने वाला
२३ अविपाल—भेड़ों का पालक या गडेरिया
२४ अजपाल—बकरियों का पालन करने वाला
२५ कीनाश—किसान
२६ सुराकार—मद्य निर्माता
२७ गृहप—द्वारपाल
२८ अनुक्षत्तृ—द्वारपाल का अनुचर
२९ दार्वाहार—लकड़हारा
३० आग्न्येध—आग उत्पादक
३१ अभिषेक्तृ—अभिषेक करने वाला
३२ पेशितृ—नक्कासी या कढ़ाई करने वाला मिस्त्री
३३ वासः पल्पूली—वस्त्र धोने वाली महिला—धोबिन
३४ रजयित्री—रगरेजिन
३५ अयस्ताप—लुहार
३६ योक्तृ—हल या रथ के जूआ लगाने वाला
३७ आञ्जनीकारी—अञ्जन लगाने वाली
३८ कोशकारी—म्यान बनाने वाली
३९ अजिनसन्ध—खाल स्वच्छ करने वाला और पकाने वाला

४० चर्मम्न—चर्म को मुलायम करने वाला
४१ धैवर—धीवर
४२ दाश—मछुआ
४३ बैन्द—केवल तालाब से ही मछली पकड़ने वाला
४४ शौष्कल—मछली विक्रेता
४५ मार्गार—मछली की अन्वेषणा करने वाला
४६ कैवर्त—मछलियाँ पकड़ने वाला
४७ आन्द—पानी को रोककर मछलियाँ पकड़ने वाला
४८ मैनाल—छिछले पानी में मछली पकड़ने वाला
४९ हिरण्यकार—स्वर्णकार
५० वाणिज—वैश्य
५१ प्रच्छिद—कुट्टी बनाने वाला
५२ वनप—वन की सुरक्षा रखने वाला
५३ दावप—अरण्य मे अग्नि प्रकोप होने पर बचाने वाला।

—यजुर्वेद ३०वाँ अध्याय

देखिए—वैज्ञानिक विकास की भारतीय परम्परा, पृ० २७-३०

उपर्युक्त विवरण में कुछ उद्योग ऐसे हैं जो शब्द परिवर्तन के साथ आये हैं अतः उनकी संख्या में अभिवृद्धि हो गई है।

डा० रमेशचन्द्र मजूमदार ने विभिन्न ग्रंथो के आधार से एक तालिका बनाई है। वह तालिका इस प्रकार है—

१ काष्ठ पर विविध कला-कृतियाँ करने वाले (जातक ६, पृ० ४२७)
२ धातुओं का कार्य करने वाले (जातक ६।४२७)
३ पत्थर का कार्य करने वाले
४ चर्म का कार्य करने वाले
५ हाथी दाँत पर नक्कासी आदि कार्य करने वाले
६ आदेयांत्रिक (नासिक इंस्क्रप्सन ल्यूडर्स ११३७)
७ वासकार (जुन्नार-इंस्क्रप्शन ल्यूडर्स ११६५)
८ कसकार
९ जौहरी
१० जुलाहे (नासिक-इंस्क्रप्शन ल्यूडर्स ११३३)
११ कुम्हार („ „ ल्यूडर्स ११३७)
१२ तेली („ „ ल्यूडर्स ११३७)
१३ टोकरी का निर्माण करने वाले

१४ रंगरेज
१५ चित्रकार (जातक ६, पृ० ४२७)
१६ धान्निक (जुन्नार-इंस्क्रप्शन, ल्यूडर्स ११८०)
१७ कृषक (गौतम धर्मसूत्र ६, २१)
१८ मछुवाहे
१९ पशु-वध करने वाले
२० नापित
२१ माली (जातक ३, ४०५)
२२ जहाजी (जातक ४, १३७)
२३ पशु चराने वाले (गौतम धर्मसूत्र ९।२१)
२४ सार्थवाह [(क) जातक १।३६८, (ख) जातक २।२९५]
२५ डाकू (जातक ३।३८८, ४।४३०)
२६ जंगल में नियुक्त रक्षक (जातक २।३३५)
२७ कर्ज देने वाले (गौतम धर्मसूत्र २९)

—रीस डेविस की बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० ९०

डा० राधाकुमुद मुकर्जी की हिन्दू सभ्यता में ई० पू० ६५०-३२५ के मध्यवर्ती जिन शिल्पों का उल्लेख है कि वे सभी बौद्ध साहित्य के आधार पर हैं। पर यह स्मरण रखना चाहिए कि 'महावस्तु' में जिनका नाम आया है उनसे इसमें कुछ भिन्नता भी है और कुछ समानता है। कुछ शिल्प हीन माने गये हैं और कुछ नहीं।

१ **बड्ढकी**—नाव, शकट, यान, रथ, प्रभृति विविध प्रकार की गाड़ियाँ निर्माण करने वाला।
२ **कर्मार**—सभी प्रकार की धातुओं का कार्य करने वाला।
३ **चर्मकार**—चर्म का कार्य करने वाला
४ **चित्रकार**
५ **थपति**—विविध प्रकार के काष्ठ कर्म करने वाला
६ **तच्छक**—
७ **भ्रमकार**—खरादी
८ **पाषाण कोट्टक**—पत्थर का कार्य करने वाला

विशेष प्रकार के शिल्प

१ **दन्तकर्म**—हस्तीदन्त का कार्य करने वाले
२ **तन्तुवाय**—बुनकर
३ **आप्पयिक कर्म**—मिष्टान्नादि निर्माता—हलवाई
४ **सुवर्णकार कर्म**

५ मणिकर्म—रत्नों का कार्य
६ कुम्भकार—या कुलाल कार्य
७ इषुकार और धनुषकार कर्म
८ मालाकार कर्म

हीन शिल्प

१ व्याघ्र आदि पशुओं को जाल डालकर फँसाना
२ मछुए—मत्स्य-घाती
३ सौनिक—पशुओं की हिंसा करने वाला, और चमड़ा पकाने वाला
४ नट—नर्तक और गायक
५ बेंत और तृण आदि को बुनकर सामान बनाना या वाहन आदि बनाना
ये जंगली जातियों के शिल्प कर्म थे।

☆

परिशिष्ट ४

लिपि कला : एक पर्यवेक्षण

(१) लिपि की उत्पत्ति के विषय में पुरातत्त्ववेत्ताओं का विचार था, कि ईश्वर या किसी देवता द्वारा यह कार्य सम्पन्न हुआ। अनेकों भारतीय विचारक तो ब्राह्मी लिपि को ब्रह्मा की बनाई हुई मानते हैं। इसका सबसे प्रबल प्रमाण उनके पास, लिपि का नाम 'ब्राह्मी लिपि' होना है। वस्तुतः इस लिपि का प्रयोग इतने प्राचीन काल से होता आ रहा है, कि लोगों को इसके निर्माता के बारे में कुछ भी ज्ञात नहीं है, और धार्मिक भावना से ईश्वरवादी दर्शनों ने विश्व की अन्य चीजों की भाँति इसका निर्माण भी 'ब्रह्मा' से होना मान लिया है।

(२) चीनी विश्वकोष 'फा-वान-शु-लिन (६६८ ई०) में इसके निर्माता कोई ब्रह्म या ब्रह्मा (Fan) नाम के आचार्य लिखे गये हैं, अतएव उनके नाम के आधार पर इस लिपि का नामकरण स्वीकार किया गया है।

(३) डॉ० राजबली पांडेय के अनुसार भारतीय आर्यों ने ब्रह्म (ज्ञान) की रक्षा के लिये इसका निर्माण किया। इस आधार पर इसे 'ब्राह्मी' कहा गया है।

ब्राह्मी के विषय में व्यक्त ये मत केवल अनुमान पर ही आधारित हैं। ऐसी स्थिति में इनमे से किसी को भी सनिश्चय स्वीकार नही किया जा सकता। तथापि भारतीय विचारक इस निर्णय पर पहुँचते हैं, कि ब्राह्मी लिपि अपनी प्रौढ़-अवस्था मे और पूर्ण व्यवहार में आती रही है, और उसका किसी बाह्य स्रोत और प्रभाव से निकलना सिद्ध नही होता।

उक्त विचारणाओं की अतल गहराई में पहुँचकर विचार करें, तो प्रतीत होता है, कि ये सब विचार-धाराएँ जैन-दर्शन की मान्यता के अत्यन्त निकट हैं। वस्तुतः लिपि की प्राचीनता इतिहास के आधार पर सिद्ध नही की जा सकती, वह प्रागैतिहासिक है, समय की सीमा से बहुत परे है। अत. वैदिक-साहित्य अपनी कल्पना के आधार पर जिस लिपि की उत्पत्ति 'ब्रह्मा' से मानता है। जैन-दर्शन उसी ब्रह्मा को भगवान ऋषभदेव के रूप में स्वीकार करता है और उन्हीं को ब्राह्मी-लिपि का सस्कर्त्ता मानता है। उन्होंने ही ज्ञान की रक्षा के लिये अपनी पुत्री ब्राह्मी को 'लिपि ज्ञान' की शिक्षा दी थी।

अष्टादश लिपियाँ

प्राचीन काल में आर्यावर्त में मुख्य रूप से 'ब्राह्मी' और 'खरोष्ठी' ये दो

लिपियाँ प्रचलित थीं। ब्राह्मी लिपि बाँये से दाहिने और खरोष्ठी दाहिने से बाँये लिखी जाती थीं। इन दोनों लिपियों का उल्लेख जैन तथा बौद्ध साहित्य में मिलता है। खरोष्ठी लिपि का प्रचार भारत में ई० सन् की तीसरी शताब्दी तक पञ्जाब प्रान्त में था। कालान्तर मे शनैः-शनैः यह लिपि भारतवर्ष में सदा के लिए अदृश्य हो गई, तथापि चाइनीज, तुर्किस्तान आदि देशो में जहाँ बौद्ध धर्म और भारतीय सभ्यता का अधिक प्रचार-प्रसार था, वहाँ कई शताब्दियों तक इसका बोलबाला रहा।

विज्ञो का मन्तव्य है, कि भारतवर्ष मे खरोष्ठी लिपि का प्रचार ईरानवासियों के सहवास से हुआ।[1] इसका लोप होने के पश्चात् भारतवर्ष मे चहुँ ओर 'ब्राह्मी' लिपि का ही साम्राज्य हो गया। आजकल जितनी भी लिपियाँ दृष्टिगोचर होती हैं, वे सब ब्राह्मी-लिपि का ही विस्तार है।

आवश्यकनिर्युक्ति, आवश्यकचूर्णि आदि प्रसिद्ध जैन ग्रंथों मे कहा है कि ऋषभदेव ने अपनी पुत्री ब्राह्मी को दाहिने कर से इस लिपि की शिक्षा दी, अतः यह लिपि 'ब्राह्मी' लिपि के नाम से विख्यात हुई। जैन आगम ग्रंथों में इसे आदरपूर्वक नमस्कार किया गया है।[2]

इस लिपि में ४६ मूल अक्षर (मातृकाक्षर) माने गये हैं।[3] जिनमें ऋ, ॠ, लृ, लॄ और ल ये पाँच अक्षर सम्मिलित नहीं किये हैं। कुछ आचार्य ब्राह्मी को लिपि विशेष न मानकर अष्टादश लिपियों के लिये प्रयुक्त होने वाला सामान्य नाम मानते हैं।[4]

विभिन्न ग्रंथों में भिन्न-भिन्न रूप से अष्टादश लिपियों के नाम गिनाये गये हैं। समवायांगसूत्र में अठारह लिपियों के नाम इस प्रकार दिये हैं—

१ ब्राह्मी	२ यावनी
३ दोषउपरिका	४ खरोष्टिका
५ खरशाविका (पुष्करसारि)	६ पाहारातिगा
७ उच्चत्तरिका	८ अक्षरपृष्टिका

---

१ भारतीय जैन श्रमण सस्कृति अने लेखनकला—पुण्यविजयजी, पृ० ८

२ नमो बभीए लिवीए —भगवतीसूत्र

३ समवायाङ्ग ४६।६५

४ 'अतो ब्राह्मीति स्वरूप विशेषण लिपेरिति' —आचार्य अभयदेव
आमां आचार्यश्री जणावे छे के अही 'ब्राह्मी' ए नाममां ब्राह्मी आदि अढारे लिपिओ नो समावेश करवानो छे, स्वतन्त्र बाह्मी लिपि तरीके आ नमस्कार नथी।' —भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखनकला
—पुण्यविजयजी पृ. ५

९ भोगवतिका	१० वैणकिया
११ निण्हविका	१२ अंकलिपि
१३ गणितलिपि	१४ गन्धर्वलिपि (भूतलिपि)
१५ आदर्शलिपि	१६ माहेश्वरी
१७ दामिलीलिपि (द्राविड़ी)	१८ पोलिन्दीलिपि

—समवायांगसूत्र, समवाय १८

समवायांगसूत्र से प्रज्ञापनासूत्र में उल्लिखित अष्टादश लिपियों के नाम कुछ भिन्नता लिये हुए हैं—

१ ब्राह्मी	२ यावनी
३ दोसापुरिया	४ खरोष्ठी
५ पुक्खरासारिया	६ भोगवइया (भोगवती)
७ पहराइया	८ अन्तक्खरिया[1]
९ अक्खरपुट्ठिया	१० वैनयिकी
११ अंकलिपि	१२ निह्नविकी
१३ गणितलिपि	१४ गन्धर्वलिपि
१५ आयंसलिपि[2]	१६ माहेश्वरी
१७ दोमिलीलिपि	१८ पौलिन्दी

—प्रज्ञापना १/३७

विशेषावश्यकटीका तथा कल्पसूत्र की टीकाओं में तो अठारह लिपियों के नाम समवायांग व प्रज्ञापना से एकदम भिन्न हैं। समवायांग और प्रज्ञापना में 'ब्राह्मी और खरोष्ठी' लिपि का उल्लेख है, पर विशेषावश्यकटीका में उक्त दो नामों का कहीं पर भी उल्लेख नहीं किया है।

वहाँ अठारह लिपियों के नाम निम्न प्रकार से प्राप्त होते हैं[3]—

---

१. प्रज्ञापना सूत्र की भिन्न-भिन्न प्रतियों मे 'अन्तक्खरिया' के स्थान पर 'उय-अन्तरिक्खिया, उयन्तरकरिया और उच्चत्तरिया नाम भी मिलता है।

—जैनचित्रकल्पद्रुम, पृ० ६

२. 'आयंसलिवी' के स्थान पर 'आयासलिवी' नाम भी मिलता है।

—वही, पृ० ६

३. हंसलिवी भूअलिवी जक्खी तह रक्खसी य बोधव्वा।
उड्डी जवणी तुरुक्की, कीरी दविडी य सिंधविया॥
मालविणी नडि नागरि लाडलिवी पारसी य बोधव्वा।
तह अनिमित्ती य लिवी चाणक्की मूलदेवी य॥

—विशेषा० गा० ४६४ की टीका

१ हंस	२ भूत
३ यक्षी	४ राक्षसी
५ उड्डी	६ यवनी
७ तुरुक्की	८ कीरी
९ द्रविड़ी	१० सिंधवीय
११ मालवीनी	१२ नडि
१३ नागरी	१४ लाट
१५ पारसी	१६ अनिमित्ती
१७ चाणक्की	१८ मूलदेवी

कल्पसूत्र में उपर्युक्त नामों के अतिरिक्त निम्न प्रकार से भी अठारह नाम दिये गये हैं—

१ लाटी	२ चौड़ी
३ डाहली	४ कानड़ी
५ गूजरी	६ सोरहठी
७ मरहठी	८ खुरासानी
९ कोंकणी	१० मागधी
११ सिंहली	१२ हाड़ी
१३ कीड़ी	१४ हम्मीरी
१५ परसी	१६ मसी
१७ मालवी	१८ महायोधी

—कल्पसूत्रटीका

चाइनीज भाषा में रचित 'फा युअन् चु लिन्' नामक बौद्ध विश्वकोश में तथा 'ललित विस्तर' में 'ब्राह्मी, खरोष्ठी आदि लिपियों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में लिखते हुए चौंसठ लिपियों के नाम दिये हैं। वे इस प्रकार हैं—

१ ब्राह्मी	२ खरोष्ठी
३ पुष्करसारी	४ अंगलिपि
५ बंगलिपि	६ मगधलिपि
७ मागल्यलिपि	८ मनुष्यलिपि
९ अंगुलीयलिपि	१० शकारिलिपि
११ ब्रह्मवल्लीलिपि	१२ द्राविड़लिपि
१३ कनारिलिपि	१४ दक्षिणलिपि
१५ उग्रलिपि	१६ संख्यालिपि
१७ अनुलोमलिपि	१८ उर्ध्वधनुर्लिपि

१९ दरदलिपि
२० खास्यलिपि
२१ चीनलिपि
२२ हूणलिपि
२३ मध्याक्षरविस्तरलिपि
२४ पुष्पलिपि
२५ देवलिपि
२६ नागलिपि
२७ यक्षलिपि
२८ गन्धर्वलिपि
२९ किन्नरलिपि
३० महोरगलिपि
३१ असुरलिपि
३२ गरुड़लिपि
३३ मृगचक्रलिपि
३४ चक्रलिपि
३५ वायुमरुलिपि
३६ भौमदेवलिपि
३७ अन्तरिक्षदेवलिपि
३८ उत्तरकुरुद्वीपलिपि
३९ अपरगौडादिलिपि
४० पूर्वविदेहलिपि
४१ उत्क्षेपलिपि
४२ निक्षेपलिपि
४३ विक्षेपलिपि
४४ प्रक्षेपलिपि
४५ सागरलिपि
४६ वज्रलिपि
४७ लेखप्रतिलेखलिपि
४८ अनुद्रुतलिपि
४९ शास्त्रावर्त्तलिपि
५० गणावर्त्तलिपि
५१ उत्क्षेपावर्त्तलिपि
५२ विक्षेपावर्त्तलिपि
५३ पादलिखितलिपि
५४ द्विरुत्तरपदसंधिलिखितलिपि
५५ दशोत्तरपदसंधिलिखितलिपि
५६ अध्याहारिणीलिपि
५७ सर्वरुतसंग्रहणीलिपि
५८ विद्यानुलोमलिपि
५९ विमिश्रितलिपि
६० ऋषितपस्तप्तलिपि
६१ धरणीप्रेक्षणलिपि
६२ सर्वौषधनिस्यदलिपि
६३ सर्वसारसंग्रहणलिपि
६४ सर्वभूतरुद्ग्रहणीलिपि[1]

—ललितविस्तर, अध्याय १०

'खरोष्ठी' लिपि के सम्बन्ध में लिखते वहाँ कहा है, कि 'लेखन-कला की खोज दिव्य शक्ति वाले तीन आचार्यों ने की है—उनमें सबसे प्रसिद्ध 'ब्रह्मा' है, उनके नाम से इस लिपि को 'ब्राह्मी' कहा गया है। द्वितीय आचार्य 'किअ-लु' (खरोष्ठ का संक्षिप्त रूप) थे। जिनके नाम से खरोष्ठी लिपि उत्पन्न हुई। ब्राह्मी लिपि बाँये से दाहिने और खरोष्ठी दाँयें से बाँयें पढ़ी जाती है। तीसरे आचार्य 'त्सं-की' है। इनकी

---

१ भा० प्रा० लि० पृष्ठ १७ टी० ३ मे उपर्युक्त ६४ नाम देकर अन्त में लिखा है, कि 'इसमें अनेकों नाम कल्पित हैं।' इन लिपियों का कोई शिलालेख भी अभी तक नहीं मिला है। इससे स्पष्ट होता है, कि ये सभी लिपियाँ प्राचीन समय में ही लुप्त हो गई होंगी और इन सबका स्थान ब्राह्मी लिपि ने ही लिया होगा।

—पुण्यविजयजी 'भारतीय·····' पृ० ५

लिपि 'त्सं-की' ऊपर से नीचे (खड़े रूप में) पढ़ी जा सकती है। इस लिपि (चीनी) का महत्त्व बहुत कम है। ब्रह्मा व खरोष्ठ भारतवर्ष में हुए हैं और 'त्सं-की' चीन में। ब्रह्मा और खरोष्ठ ने ये लिपियाँ देवलोक से भेजी हैं तथा 'त्सं-की' ने पक्षी आदि के पद-चिह्नों से 'त्सं-की' लिपि तैयार की है।[1]

कुछ लिपियाँ किसी विषय को गुप्त रखने, या वैद्य-ज्योतिष या मन्त्र-वादियों द्वारा संक्षिप्त करके किये गये वर्ण-परिवर्तन से उत्पन्न हुई हैं। जैसे—विशेषावश्यक भाष्य की टीका में उल्लिखित अठारह लिपियों में से 'चाणक्य व मूलदेवी लिपि' यह 'नागरी' लिपि के वर्ण-परिवर्तन से उत्पन्न हुई मानी जाती है। ये लिपियाँ वात्स्यायन के 'कामसूत्र' की चौंसठ कलाओं में 'म्लेच्छित' लिपियों में गिनाई गई है।[2]

---

१ देखिये—'भारतीय जैन श्रमण-संस्कृति अने लेखनकला' पुण्यविजयजी, पृ० ४-५

२ 'म्लेच्छितविकल्पाः इति, यत् साधुशब्दोपनिबद्धमप्यक्षरव्यत्यासादनस्पष्टार्थं तद् म्लेच्छितं गूढवस्तुमन्त्रार्थम्'। —जयमंगला टीका

परिशिष्ट ५

भगवान ऋषभदेव और उनका परिवार

श्री ऋषभदेव के पुत्र और पुत्रियों के नाम

पुत्रों के नाम

१ भरत	२ बाहुबली
३ शंख	४ विश्वकर्मा
५ विमल	६ सुलक्षण
७ अमल	८ चित्रांग
९ ख्यातकीर्ति	१० वरदत्त
११ दत्त	१२ सागर
१३ यशोधर	१४ अवर
१५ थवर	१६ कामदेव
१७ ध्रुव	१८ वत्स
१९ नन्द	२० सूर
२१ सुनन्द	२२ कुरु
२३ अंग	२४ बंग
२५ कोसल	२६ वीर
२७ कलिंग	२८ मागध
२९ विदेह	३० संगम
३१ दशार्ण	३२ गम्भीर
३३ वसुवर्मा	३४ सुवर्मा
३५ राष्ट्र	३६ सुराष्ट्र
३७ बुद्धिकर	३८ विविधकर
३९ सुयश	४० यशःकीर्ति
४१ यशस्कर	४२ कीर्तिकर
४३ सुषेण	४४ ब्रह्मसेन
४५ विक्रान्त	४६ नरोत्तम
४७ चन्द्रसेन	४८ महसेन
४९ सुसेन	५० भानु
५१ कान्त	५२ पुष्पयुत
५३ श्रीधर	५४ दुर्द्धर्ष

५५ सुसुमार	५६ दुर्जय
५७ अजयमान	५८ सुधर्मा
५९ धर्मसेन	६० आनन्दन
६१ आनन्द	६२ नन्द
६३ अपराजित	६४ विश्वसेन
६५ हरिषेण	६६ जय
६७ विजय	६८ विजयन्त
६९ प्रभाकर	७० अरिदमन
७१ मान	७२ महाबाहु
७३ दीर्घबाहु	७४ मेघ
७५ सुघोष	७६ विश्व
७७ वराह	७८ वसु
७९ सेन	८० कपिल
८१ शैलविचारी	८२ अरिञ्जय
८३ कुञ्जरबल	८४ जयदेव
८५ नागदत्त	८६ काश्यप
८७ बल	८८ वीर
८९ शुभमति	९० सुमति
९१ पद्मनाभ	९२ सिंह
९३ सुजाति	९४ संजय
९५ सुनाभ	९६ नरदेव
९७ चित्तहर	९८ सुस्वर
९९ दृढ़रथ	१०० प्रभञ्जन[१]

दिगम्बर परम्परा के आचार्य जिन सेन ने १०१ पुत्र माने हैं और उसका नाम वृषभसेन दिया है।[२]

पुत्रियों के नाम

१ ब्राह्मी	२ सुन्दरी

दिगम्बर परम्परा के अनुसार ऋषभदेव के केवल नौ पुत्रों एवं दो पुत्रियों के नाम ही उपलब्ध होते हैं—

१ भरत	२ वृषभसेन

---

१. (क) कल्पसूत्र किरणावली पत्र १५१-५२
(ख) कल्पसूत्र सुबोधिका टीका व्याख्यान ७, पृ० ४९८

२. महापुराण पर्व १६/३४६

३ अनन्तविजय	४ अनन्तवीर्य
५ उच्युत	६ वीर
७ वीरवर	८ ·······
९ बाहुबली	

दो पुत्रियाँ—१. ब्राह्मी २. सुन्दरी

—महापुराण—जिनसेन, पर्व १६

श्रीमद्भागवतपुराण में भरत के अतिरिक्त अठारह नाम और भी मिलते हैं—

१ कुशावर्त	२ इलावर्त
३ ब्रह्मावर्त	४ मलय
५ केतु	६ भद्रसेन
७ इन्द्रस्पृक्	८ विदर्भ
९ कीटक	१० कवि
११ हरि	१२ अन्तरिक्ष
१३ प्रबुद्ध	१४ पिप्पलायन
१५ आविर्होत्र	१६ द्रुमिल
१७ चमस	१८ करभाजन

पूर्वोक्त नौ पुत्र भारतवर्ष के सब ओर स्थित नौ द्वीपों के सम्राट हुए और शेष नौ पुत्र दिगम्बर अवस्था मे रहते हुए, प्राणियों को धर्म का उपदेश देते रहे।

—श्रीमद्भागवतपुराण ११।२

विष्णु पुराण

१ स्वायम्भुव मनु	२ प्रियव्रत
३ आग्नीध्र	४ नाभि
५ ऋषभ	६ भरत
७ सुमति	८ इन्द्रद्युम्न
९ परमेष्ठी	१० प्रतिहार
११ प्रतिहर्त्ता	१२ भव
१३ उद्गीथ	१४ प्रस्ताव
१५ पृथु	१६ नक्त
१७ गय	१८ नर
१९ विराट्	२० महावीर्य
२१ धीमान	२२ महान्त
२३ मनस्यु	२४ त्वष्टा

२५ विरज
२६ रज
२७ शतजित
२८ विष्वग्ज्योति आदि सौ पुत्र

—विष्णुपुराण अंश २, अध्याय १ के आधार से

भरत की वंशावली

१ भरत
२ अर्ककीर्ति
३ स्मितयश
४ बल
५ सुबल
६ महाबल
७ अतिबल
८ अमृतबल
९ सुभद्र
१० सागर
११ भद्र
१२ रवितेज
१३ शशी
१४ प्रभूततेज
१५ तेजस्वी
१६ तपन
१७ प्रतापवान्
१८ अतिवीर्य
१९ सुवीर्य
२० उदितपराक्रम
२१ महेन्द्रविक्रम
२२ सूर्य
२३ इन्द्रद्युम्न
२४ महेन्द्रजित्
२५ प्रभु
२६ विभु
२७ अविध्वंस
२८ वीतभी
२९ वृषभध्वज
३० गरुडांक
३१ मृगांक

—हरिवंशपुराण १३।७-१२

त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र में भरत के आठ उत्तराधिकारियों के नाम आते हैं—

१ सूर्ययशा
२ महायशा
३ अतिबल
४ बलभद्र
५ बलवीर्य
६ कीर्तिवीर्य
७ जलवीर्य
८ दण्डवीर्य

—त्रिषष्टि०

सर्वप्रथम इक्ष्वाकुवंश उत्पन्न हुआ। इक्ष्वाकुवंश से सूर्यवंश और चंद्रवंश उत्पन्न हुए। उसी समय कुरुवंश तथा उग्रवंश आदि अनेक वंश प्रचलित हुए।

—हरिवंशपुराण १३।३३

बाहुबली की वंशावली

१ बाहुबली
२ सोमयश

३ महाबल	४ सुबल
५ भुजबल	

—हरिवंशपुराण—जिनसेन, १३।१६-१७

नमि की वंशावली

१ रत्नमाली	२ रत्नवज्र
३ रत्नरथ	४ रत्नचिन्ह
५ चन्द्ररथ	६ वज्रजंघ
७ वज्रसेन	८ वज्रदंष्ट्र
९ वज्रध्वज	१० वज्रायुध
११ वज्र	१२ सुवज्र
१३ वज्रभृत	१४ वज्राभ
१५ वज्रबाहु	१६ वज्रांक
१७ वज्रसुन्दर	१८ वज्रास्य
१९ वज्रपाणि	२० वज्रभानु
२१ वज्रवान्	२२ विद्युन्मुख
२३ सुवक्त्र	२४ विद्युद्दंष्ट्र
२५ विद्युत्वान्	२६ विद्युदाभ
२७ विद्युद्वेग	२८ विद्युत्

—हरिवंशपुराण—जिनसेन, १३।२०-२५

चौरासी गणधर

आचार्य जिनसेन के मतानुसार ऋषभदेव के चौरासी गणधरों के नाम निम्नलिखित हैं—

१ वृषभसेन	२ कुम्भ
३ दृढ़रथ	४ शत्रुदमन
५ देवशर्मा	६ धनदेव
७ नन्दन	८ सोमदत्त
९ सुरदत्त	१० वायुशर्मा
११ सुबाहु	१२ देवाग्नि
१३ अग्निदेव	१४ अग्निभूति
१५ तेजस्वी	१६ अग्निमित्र
१७ हलधर	१८ महीधर
१९ माहेन्द्र	२० वसुदेव
२१ वसुन्धर	२२ अचल
२३ मेरु	२४ भूति

२५ सर्वसह	२६ यज्ञ
२७ सर्वगुप्त	२८ सर्वप्रिय
२९ सर्वदेव	३० विजय
३१ विजयगुप्त	३२ विजयमित्र
३३ विजयश्री	३४ पराख्य
३५ अपराजित	३६ वसुमित्र
३७ वसुसेन	३८ साधुसेन
३९ सत्यदेव	४० सत्यवेद
४१ सर्वगुप्त	४२ मित्र
४३ सत्यवान्	४४ विनीत
४५ संवर	४६ ऋषिगुप्त
४७ ऋषिदत्त	४८ यज्ञदेव
४९ यज्ञगुप्त	५० यज्ञमित्र
५१ यज्ञदत्त	५२ स्वायंभुव
५३ भागदत्त	५४ भागफल्गु
५५ गुप्त	५६ गुप्तफल्गु
५७ मित्रफल्गु	५८ प्रजापति
५९ सत्ययश	६० वरुण
६१ धनवाहिक	६२ महेन्द्रदत्त
६३ तेजोराशि	६४ महारथ
६५ विजयश्रुति	६६ महाबल
६७ सुविशाल	६८ वज्र
६९ वैर	७० चन्द्रचूड़
७१ मेघेश्वर	७२ कच्छ
७३ महाकच्छ	७४ सुकच्छ
७५ अतिबल	७६ भद्रावलि
७७ नमि	७८ विनमि
७९ भद्रबल	८० नन्दी
८१ महानुभाव	८२ नन्दीमित्र
८३ कामदेव	८४ अनुपम

—हरिवंशपुराण १२/५४-७०

महापुराण में चौरासी गणधरों के नामों में कुछ भिन्नता है—

१ वृषभसेन	२ कुम्भ
३ दृढ़रथ	४ शतधनु
५ देवशर्मा	६ देवभाव

७ नन्दन	८ सोमदत्त
९ सुरदत्त	१० वायुशर्मा
११ यशोबाहु	१२ देवाग्नि
१३ अग्निदेव	१४ अग्निगुप्त
१५ मित्राग्नि	१६ हलभृत्
१७ महीधर	१८ महेन्द्र
१९ वसुदेव	२० वसुंधर
२१ अचल	२२ मेरु
२३ मेरुधन	२४ मेरुभूति
२५ सर्वयश	२६ सर्वयज्ञ
२७ सर्वगुप्त	२८ सर्वप्रिय
२९ सर्वदेव	३० सर्वविजय
३१ विजयगुप्त	३२ विजयमित्र
३३ विजयिल	३४ अपराजित
३५ वसुमित्र	३६ विश्वसेन
३७ साधुसेन	३८ सत्यदेव
३९ देवसत्य	४० सत्यगुप्त
४१ सत्यमित्र	४२ निर्मल
४३ विनीत	४४ सवर
४५ मुनिगुप्त	४६ मुनिदत्त
४७ मुनियज्ञ	४८ मुनिदेव
४९ गुप्तयज्ञ	५० मित्रयज्ञ
५१ स्वयम्भू	५२ भगदेव
५३ भगदत्त	५४ भगफल्गु
५५ गुप्तफल्गु	५६ मित्रफल्गु
५७ प्रजापति	५८ सर्वसंघ
५९ वरुण	६० धनपालक
६१ मघवान्	६२ तेजोराशि
६३ महावीर	६४ महारथ
६५ विशालाक्ष	६६ महाबाल
६७ शुचिशाल	६८ वज्र
६९ वज्रसार	७० चन्द्रचूल
७१ जय	७२ महारस
७३ कच्छ	७४ महाकच्छ
७५ नमि	७६ विनमि

७७. बल	७८. अतिबल
७९. भद्रबल	८०. नन्दी
८१. महाभागी	८२. नन्दीमित्र
८३. कामदेव	८४. अनुपम

—महापुराण ४३/५४-६७

विद्याधरों की सोलह जातियाँ

अपनी-अपनी विद्याओं के नाम से विद्याधरों की सोलह जातियाँ हुईं।

१ गौरी विद्या से गौरेय जाति।
२ मनु विद्या से मनुपर्वक जाति।
३ गंधारी विद्या से गांधार जाति।
४ मानवी विद्या से मानव जाति।
५ कौशिकीपूर्व विद्या से कौशिकीपूर्वक जाति।
६ भूमितुंड विद्या से भूमितुंडक जाति।
७ मूलवीर्य विद्या से मूलवीर्यक जाति।
८ शंकुका विद्या से शंकुक जाति।
९ पांडुकी विद्या से पांडुक जाति।
१० काली विद्या से कालिकेय जाति।
११ श्वपाकी विद्या से श्वपाकक जाति।
१२ मातंगी विद्या से मातंग जाति।
१३ पार्वती विद्या से पार्वत जाति।
१४ वंशालया विद्या से वंशालय जाति।
१५ पांसुमूला विद्या से पांसुमूलक जाति।
१६ वृक्षमूला विद्या से वृक्षमूलक जाति।

इनके दो विभाग किये गये। आठ जातियों के विद्याधर नमि के राज्य में और आठ विद्याधर जातियाँ विनमि के राज्य में हुईं।

—त्रिषष्टि० १।३।२१९-२२४
—पद्मानन्द महाकाव्य सर्ग १३

म्लेच्छ जातियाँ

प्रश्नव्याकरण में म्लेच्छ जातियों का निरूपण है। जिनमें हिंसक वृत्ति की प्रधानता थी उन्हें म्लेच्छ कहा गया। प्रश्नव्याकरण मूल या उसकी वृत्ति में यद्यपि यह निर्देश नहीं है कि इनके नाम का आधार क्या था, तथापि विज्ञों का ऐसा मन्तव्य है

कि इन जातियों के नाम कुछ भगवान ऋषभदेव के पुत्रों के साथ मिलते हैं। संभव है उनका ऋषभदेव के पुत्रों के साथ सम्बन्ध रहा हो। वे नाम इस प्रकार हैं—

(१) शक, (२) यवन, (३) शबर (४) बर्बर (५) गाय, (६) मुरुण्ड (७) उड (८) भटक (९) तित्तिक, (१०) पंक्कणि (भित्तिक) (११) कुलाक्ष, (१२) गौड़, (१३) सिंहल (१४) पारस (१५) कौंच, (१६) अन्ध (आंध्र) (१७) द्राविड (१८) बिल्वलु (१९) पुलिन्द्र (२०) असेष (२१) डोंब (२२) पोक्कण (२३) गन्धहारक (२४) वहलीक (२५) जल्ल (२६) रोम (२७) माष (२८) बकुश (२९) मलय (३०) चुंचक (३१) चूलिक (३२) कोंकणक (३३) मेद (३४) पह्लव (३५) मालव, (३६) महुर (३७) आभाषिक (३८) अणक्क (३९) चीन (४०) ल्हासिक (४१) खस (४२) खासिक (४३) नेहुर, (४४) मरहट्ठ (४५) मूढ-मौष्टिक (४६) आरब (४७) डोबिलक (४८) कुहूण (४९) केकय (५०) हूण (५१) रोमक, (५२) रूस, (५३) मरुक (५४) चिलाती।

—प्रश्नव्याकरण अधर्मद्वार

परिशिष्ट ६

भौगोलिक परिचय

हरिवंशपुराण में आचार्य जिनसेन ने उन देशों के नामों का संकेत किया है जिन्हें भगवान ऋषभ ने अपने ९८ पुत्रों को दिया था, और अन्त में उन्होंने उन्हें त्याग कर दीक्षा ग्रहण की थी। पर यहाँ पर ९३ नाम प्राप्त होते हैं, ९८ नहीं। पाँच नाम कम कैसे हैं, यह अन्वेषणीय है।

१ कुरुजांगल
२ पञ्चाल
३ सूरसेन
४ पटच्चर
५ तुलिङ्ग
६ काशी
७ कौशल्य
८ मद्रकार
९ वृकार्थक
१० सोल्व
११ आवृष्ट
१२ त्रिगर्त
१३ कुशाग्र
१४ मत्स्य
१५ कुणीयान्
१६ कोशल
१७ मोक

ये सत्तरह देश मध्यदेश के हैं।

१८ वाह्लीक
१९ आत्रेय
२० काम्बोज
२१ यवन
२२ आभीर
२३ मद्रक
२४ क्वाथतोय
२५ शूर
२६ वाटवान
२७ कैकय
२८ गान्धार
२९ सिन्धु
३० सौवीर
३१ भारद्वाज
३२ दशेरुक
३३ प्रास्थाल
३४ तीर्णकर्ण

ये सत्तरह प्रदेश उत्तर में स्थित हैं।

३५ खड्ग
३६ अङ्गारक
३७ पौण्ड्र
३८ मल्ल
३९ प्रवक
४० मस्तक

४१ प्राग्ज्योतिष	४२ वङ्ग
४३ मगध	४४ मानवर्तिक
४५ मलद	४६ भार्गव

उक्त बारह प्रदेश पूर्व दिशा में स्थित थे।

४७ बाणमुक्त	४८ वैदर्भ
४९ माणव	५० सककापिर
५१ मूलक	५२ अश्मक
५३ दाण्डीक	५४ कलिङ्ग
५५ आंसिक	५६ कुन्तल
५७ नवराष्ट्र	५८ माहिषक
५९ पुरुष	६० भोगवर्धन

उक्त चौदह प्रदेश दक्षिण दिशा में स्थित थे।

६१ माल्य	६२ कल्लीवनोपान्त
६३ दुर्ग	६४ सूपरि
६५ कर्बुक	६६ काक्षि
६७ नासारिक	६८ अगर्त
६९ सारस्वत	७० तापस
७१ महिम	७२ भरुकच्छ
७३ सुराष्ट्र	७४ नर्मद

उक्त चौदह देश पश्चिम दिशा के हैं।

७५ दशार्णक	७६ किष्कन्ध
७७ त्रिपुर	७८ आवर्त
७९ नैषध	८० नैपाल
८१ उत्तमवर्ण	८२ वैदिश
८३ अन्तप	८४ कौशल
८५ पत्तन	८६ विनिहात्र

उक्त देश विन्ध्याचल के ऊपर स्थित थे।

८७ भद्र	८८ वत्स
८९ विदेह	९० कुश
९१ भङ्ग	९२ सैतव
९३ वज्रखण्डिक	

उक्त सात प्रदेश मध्यदेश के अन्तर्गत थे।

—हरिवंशपुराण ११/६४-७६

'जैनमतसार' पुस्तक में उल्लेख है, कि अंग, बंग, कलिंग, काश्मीर, पञ्चाल, कच्छ, कर्णाटक, कोशल, सिन्धु, कन्धार, यवन, चेदी, वाह्लीक, तुर्क, कम्बोज, कुरुजांगल और चूल इन देशों का नामकरण भगवान ऋषभदेव के पुत्रों के नाम पर हुआ है।

नमि के पचास नगर

नमि की भक्ति-भावना से विभोर होकर इन्द्र ने उनके लिए जिन नगरों को बसाया, उनके नाम इस प्रकार हैं—

१ बाहुकेतु	२ पुंडरीक
३ हरित्केतु	४ सेतकेतु
५ सर्पारिकेतु	६ श्रीबाहु
७ श्रीगृह	८ लोहार्गल
९ अरिंजय	१० स्वर्गलीला
११ वज्रगल	१२ वज्रविमोक
१३ महिसारपुर	१४ जयपुर
१५ सुकृतमुखी	१६ चतुर्मुखी
१७ बहुमुखी	१८ रक्ता
१९ विरक्ता	२० आखंडलपुर
२१ विलासयोनिपुर	२२ अपराजित
२३ कांचिदाम	२४ सुविनय
२५ नभःपुर	२६ क्षेमंकर
२७ सहचिलपुर	२८ कुसुमपुरी
२९ संजयती	३० शक्रपुर
३१ जयन्ती	३२ वैजयन्ती
३३ विजया	३४ क्षेमंकरी
३५ चन्द्रभासपुर	३६ रविभासपुर
३७ सप्तभूतलावास	३८ सुविचित्र
३९ महाघ्रपुर	४० चित्रकूट
४१ त्रिकूटक	४२ वैश्रमणकूट
४३ शशिपुर	४४ रविपुर
४५ विमुखी	४६ वाहिनी
४७ सुमुखी	४८ नित्योद्योतिनी
४९ श्रीरथनुपुर	५० चक्रवाल

उक्त पचास नगर नमि राजा ने वैताढ्य पर्वत के दक्षिण की ओर

बसाए। वे स्वयं रथनुपुर चक्रवाल नामक सर्वोत्तम नगर में रहे। क्योंकि यह नगर शेष सब नगरों के मध्य में था।

जिन-जिन देशों से लोगों को लाकर वहाँ बसाया। उन्हीं के नामों के अनुसार उन देशों के नाम रखे गये।

—त्रिषष्टि० १।३।१८६-१६५

विनमि के साठ नगर

१ अर्जुनी	२ वारुणी
३ वैरसंहारिणी	४ कैलाशवारुणी
५ विद्युद्दीप	६ किलिकिल
७ चारुचूड़ामणि	८ चन्द्रभूषण
९ वशवत	१० कुसुमचूल
११ हंसगर्भ	१२ मेघक
१३ शंकर	१४ लक्ष्मीहर्म्य
१५ चामर	१६ विमल
१७ असुमत्कृत	१८ शिवमंदिर
१९ वसुमति	२० सर्वसिद्धस्तुत
२१ सर्वशत्रुञ्जय	२२ केतुमालांक
२३ इन्द्रकान्त	२४ महानन्दन
२५ अशोक	२६ वीतशोक
२७ विशोकक	२८ सुखालोक
२९ अलकतिलक	३० नभस्तिलक
३१ मन्दिर	३२ कुमुदकुन्द
३३ गगनवल्लभ	३४ युवतीतिलक
३५ अवनितिलक	३६ सगन्धर्व
३७ मुक्तहार	३८ अनिमिषविष्टप
३९ अग्निज्वाला	४० गुरुज्वाला
४१ श्रीनिकेतनपुर	४२ जयश्रीनिवास
४३ रत्नकुलिश	४४ वसिष्टाश्रम
४५ द्रविणजय	४६ सभद्रक
४७ भद्राशयपुर	४८ फेनशिखर
४९ गोक्षीरवरशिखर	५० वीर्यक्षोभशिखर
५१ गिरिशिखर	५२ धरणी
५३ वारणी	५४ सुदर्शनपुर
५५ दुर्ग	५६ दुर्द्धर

५७ माहेन्द्र　　　　५८ विजय
५९ सुगन्धिन सुरत　　　　६० नागरपुर और रत्नपुर

धरणेन्द्र की आज्ञा से विनमि ने उक्त साठ नगर वैताढ्य पर्वत के उत्तर की ओर बसाए और इन्द्र की आज्ञा से ही उसने 'गगनवल्लभ' नाम के नगर में, जो सभी नगरों में सर्वश्रेष्ठ और सर्वमध्य था; अपना प्रमुख निवास केन्द्र रखा। —त्रिषष्टि० १।३।१९९-२०८

भगवान ऋषभ का विहार-स्थल

भगवान ऋषभदेव ने दीक्षा ग्रहण के पश्चात् किन-किन नगरों में विहार किया इस सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से कोई भी जानकारी ग्रंथों में नहीं मिलती है। उनके चरित्र-ग्रंथों में जिन नगरों के नाम आये हैं, उनका संक्षेप में परिचय निम्न प्रकार से है :—

अयोध्या

अयोध्या का वर्णन जैन और जैनेतर सभी साहित्य में एक प्रसिद्ध स्थल के रूप में किया गया है। यह नगरी सरयू व घाघरा नदी के तट पर बारह योजन की परिधि में बसी हुई है। श्री जिनप्रभसूरि ने अयोध्या नगरी के प्राचीन आठ नामों का उल्लेख किया है—

इक्ष्वाकुभूमि, कोशल, कोशला, विनीता, अयोध्या, अवध्या, रामपुरी और साकेतपुरी।

घग्घर और सरयू के संगम पर स्थित होने से इसे 'स्वर्गद्वार' भी कहा है।

भगवान ऋषभदेव, अजितनाथ, अभिनन्दननाथ, सुमतिनाथ और अनन्तनाथ भगवान के जन्म से यह भूमि पवित्र तीर्थभूमि के रूप में विख्यात है।

इनके अतिरिक्त सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र और रामायण के प्रमुख नायक रामचन्द्र आदि अनेकों सूर्यवंशी राजा-महाराजाओं का प्रधान शासन केन्द्र इस पुण्य-भूमि पर रहा है।

जैन साहित्य की दृष्टि से अयोध्या सबसे पहला नगर है, सभ्यता और संस्कृति का प्रादुर्भाव सर्वप्रथम इसी नगरी में हुआ था। अनेकों कथाएँ इस भूमि से सम्बन्धित हैं।

चन्द्रावतंस राजा जो अयोध्या का प्रसिद्ध सम्राट् था, उसने एक दिन यह अभिग्रह किया कि 'मेरे समक्ष यह प्रज्वलित दीपक जब तक निर्वाण को प्राप्त न होगा, तब तक मेरा ध्यान अडोल, अकम्प रहेगा।' ऐसा सोचकर उसने ज्यों ही ध्यान करना प्रारम्भ किया, कि उसका एक सेवक वहाँ आया, दीपक में तेल खत्म होने से यहाँ अँधेरा न हो जाय, इस विचार से उसने दीपक में तेल डाल दिया। दीपक सबेरे तक जलता रहा और सम्राट् का कायोत्सर्ग भी अटल रहा।

ऐसी-ऐसी हजारों घटनाएँ इस भूमि की पवित्रता और महत्ता को सूचित करती हैं।

महावीर और बुद्ध के समय अयोध्या का नाम साकेत अधिक प्रसिद्ध था।

विज्ञों का मत है, कि फैजाबाद से पूर्वोत्तर छह मील पर सरयू नदी के दक्षिण तट पर अवस्थित वर्तमान अयोध्या के समीप प्राचीन साकेत नगर था।

तक्षशिला

पंजाब प्रान्त में रावलपिण्डी से बीस मील दूर तक्षशिला नाम की प्राचीन नगरी सुविख्यात है।

अब वह निर्जन और वीरान स्थान है।

भगवान ऋषभदेव ने भरत को अयोध्या का प्रदेश और बाहुबली को बहली प्रदेश का राज्य सौंपा था। बहली देश की राजधानी तक्षशिला मानी जाती है।

महाभारतकार ने इस नगरी के नामकरण का सम्बन्ध तक्षक नाग से अभिहित किया है, जहाँ जनमेजय राजा ने नागयज्ञ कर तक्षक नाग को पराजित किया था।[1]

प्राचीनकाल में तक्षशिला समग्र भारत का विद्या, कला और शासन का प्रमुख केन्द्र रहा है। गौतम बुद्ध के समय में काशी एवं कोसल के राजकुमार पढ़ने के लिए इसी नगरी में आते थे।

यहाँ देश-विदेश से बड़े-बड़े विद्वान् वेदादि अठारह विद्याएँ—विशेषरूप से अर्थशास्त्र, राजनीति और आयुर्वेद के अध्ययन के लिए आते और उसमें अच्छी जानकारी प्राप्त करते थे। चाणक्य जैसे राजनीतिज्ञ और भृत्य-कौमारजीव जैसे शल्य-चिकित्सक (सर्जन) यहीं अध्यापक थे।

चीनी भाषा में तक्ष का अर्थ है पहाड़। और तक्षशिला वास्तव में है भी पहाड़ों के बीच। इतिहासकारों का कथन है, कि भरत के दो पुत्र थे तक्ष और पुष्कर। पुष्कर ने पुष्करावर्त और तक्ष ने तक्षशिला बसायी थी।

ईस्वी सन् के पाँच सौ वर्ष पूर्व से लेकर छठी शताब्दी पर्यन्त तक्षशिला बहुत ही उन्नतिशील रही। इसके बाद हूण आक्रमणकारियों ने इसका सर्वनाश कर दिया। फिर लगभग ढाई हजार वर्षों के अनन्तर वैज्ञानिकों के कठिन अनुसंधान के पश्चात् वहाँ की खुदाई हुई। और वहाँ उस जमाने के बर्तन, जिनमें चार-चार फीट के मटके भी हैं तथा गान्धारी कला के सर्वोत्कृष्ट नमूने एवं बौद्ध भिक्षुओं के अवशेष सामान भी मिले हैं। इसके अतिरिक्त 'ब्राह्मी' और 'खरोष्ट्री' लिपियों में लिखे शिलालेख भी मिले हैं। ये सभी वस्तुएँ वहाँ की 'म्यूजियम' में रखी गयी हैं।

---

१ आदिपर्व, अध्याय ३, श्लोक २०-१७२

इनके अतिरिक्त तक्षशिला में ब्राह्मण-बौद्ध दर्शन, साहित्य, अर्थशास्त्र एवं वैद्यकग्रन्थ भी लिखे गये थे। उसके पीछे एक महान् देश की समृद्धिशालिनी सभ्यता का महान् इतिहास निहित है।

इस प्रकार यहाँ की सभ्यता संसार की सर्वोत्तम और पुरातन सभ्यताओं में से एक थी।

हस्तिनापुर

हस्तिनापुर नगर उत्तर प्रदेश के मेरठ शहर से २२ मील दूर एक छोटा-सा गाँव है। परन्तु अति प्राचीनकाल में सुख-समृद्धि से भरपूर यह एक विशाल नगर था। इसका उल्लेख जैन, ब्राह्मण और बैदिक ग्रन्थों में प्रचुर मात्रा में मिलता है।

जैन ग्रन्थों के अनुसार कुरु जनपद की राजधानी हस्तिनापुर थी, जबकि बौद्धों की जातक कथाओं में कुरुदेश की राजधानी इन्द्रप्रस्थ को बताया है जो आजकल देहली के नाम से विख्यात है। ऐसा प्रतीत होता है कि वर्तमान में प्रसिद्ध देहली प्रान्त का ही प्राचीन नाम हस्तिनापुर था।

जैनाचार्य श्री नंदिषेण रचित 'अजितशांति' नामक स्तवन में इस नगरी के गयपुर, गजपुर, नागाह्वय, नागसाह्वय, नागपुर, हत्थिणउर, हत्थिणाउर, हत्थिणापुर, हस्तिनीपुर आदि नामों का उल्लेख किया गया है।

वसुदेव हिण्डी में इसे 'ब्रह्मस्थल' कहा गया है। भगवान ऋषभदेव के वर्षीतप का पारणा इसी नगरी के अधिपति श्रेयांसकुमार के हाथों से हुआ था।

जैन परम्परा के अनुसार बारह चक्रवर्ती राजाओं में से छह चक्रवर्ती राजाओं की राजधानी हस्तिनापुर में थी—सनत्कुमार, शांतिनाथ, कुंथुनाथ, अरहनाथ, सम्भम और महापद्म। इसके अतिरिक्त यह स्थान पाण्डवों की जन्मभूमि के रूप में भी प्रसिद्ध है।

पुराणों में कहा गया है, कि जब गंगा की बाढ़ ने हस्तिनापुर नगर को नष्ट कर दिया, तब पाण्डव हस्तिनापुर को छोड़कर कौशाम्बी में बस गये थे।

पुरिमताल

इसकी अवस्थिति के विषय में अनेक मत हैं। कितने ही विद्वान् इसकी पहचान मानभूम के पास 'पुरुलिया' नामक स्थान से करते हैं।[1] आचार्य हेमचन्द्र ने पुरिमताल को अयोध्या का शाखा नगर कहा है।[2] आवश्यकनिर्युक्ति आदि ग्रन्थों में विनीता के

---

१ भारत के प्राचीन जैन तीर्थ, पृ० २३

२ अयोध्याया महापुर्याः शाखानगरमुत्तमम्।
यथौ पुरिमतालाख्यं, भगवानृषभध्वजः॥

—त्रिषष्टि० १।३।३८९

बाहर 'पुरिमताल' नामक उद्यान का उल्लेख किया है। पुरिमताल उद्यान में ही भगवान ऋषभदेव को केवलज्ञान हुआ था और उसी दिन चक्रवर्ती भरत की आयुध-शाला में चक्ररत्न की उत्पत्ति हुई थी।[१] सम्राट् भरत का लघुभ्राता ऋषभसेन पुरिमताल का अधिपति था। जब भगवान ऋषभदेव वहाँ पधारे तो उसने भगवान के पास दीक्षा ग्रहण की। कितने ही विद्वानों का अभिमत है, कि प्रयाग का प्राचीन नाम पुरिमताल था।[२]

चित्र का जीव सौधर्म देवलोक से च्युत होकर पुरिमताल नगर में एक श्रेष्ठी के यहाँ पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ।[३] और वही आगे चलकर महान ऋषि हुआ।

भगवान महावीर एक बार पुरिमताल नगर के बाहर शकटमुख नामक उद्यान में पधारे, तब वग्गुर श्रावक ने भगवान की उपासना की। एक बार भगवान महावीर पुरिमताल के अमोघदर्शी उद्यान में विराजे उस समय विजय चोर सेनापति के पुत्र अभंगसेन के पूर्वभवो का वर्णन किया। भगवान महावीर के समय पुरिमताल में महाबल राजा था।[४]

जार्ज सरपेन्टियर का मन्तव्य है, कि 'पुरिमताल' का वर्णन दूसरे स्थान पर देखने में नही आया, यह 'लिपि-कर्त्ता' का दोष लगता है। इसके स्थान पर 'कुरु' या ऐसा ही कुछ होना चाहिए।[५] उनका यह अनुमान यथार्थ नहीं है, चूँकि अनेक स्थलों पर इस नगरी का वर्णन मिलता है।

---

१ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति सटीक, वक्षस्कार २, सू० ३१, पत्र १४३

२ (क) श्रमण भगवान महावीर पृ० ३७६

(ख) तीर्थंकर महावीर भाग १।२०९

३ उत्तराध्ययन सुखबोधा पत्र १८७

४ विपाकसूत्र ३।५७।२६

५ दी उत्तराध्ययन पृ० ३२८

परिशिष्ट ७

चक्रवर्ती के चौदह रत्न और नौ निधियाँ

१. **चक्ररत्न**—यह रत्न चक्रवर्ती की आयुधशाला में उत्पन्न होता है, और सेना के आगे चलता हुआ चक्रवर्ती को षट्खण्ड-साधन का मार्ग दिखाता है। चक्रवर्ती सम्राट् इसकी सहायता से युद्ध में शत्रु का शिरश्छेदन भी कर सकता है।

२. **छत्ररत्न**—यह रत्न बारह योजन लम्बा और चौड़ा होता है। छत्राकार के रूप में यह सेना की वर्षा, सर्दी, गर्मी आदि से रक्षा करता है। छतरी की तरह इसे समेटा भी जा सकता था।

३. **दण्ड-रत्न**—विषम मार्ग को सम बनाता है और वैताढ्य पर्वत की दोनों गुफाओं का द्वार खोलकर चक्रवर्ती सम्राट् को उत्तर भारत की ओर पहुँचाता है। दिगम्बर परम्परा के अनुसार वृषभाचल पर्वत पर नाम लिखने का काम भी यही रत्न करता है।

४. **असि-रत्न**—यह पचास अंगुल लम्बा, सोलह अंगुल चौड़ा और आधा अंगुल मोटा होता है। यह रत्न अपनी पैनी धार से दूर-स्थित शत्रु का भी विनाश कर डालता है।

५. **मणिरत्न**—यह सूर्य और चन्द्रमा की तरह अन्धकार को नष्ट करता है। इस रत्न को मस्तक पर बाँध लेने से मनुष्य, देव और तिर्यञ्चकृत उपसर्ग नहीं होता। हस्ति रत्न के दक्षिण कुम्भस्थल पर रख देने से सुनिश्चित विजय होती है।

६. **काकिणी-रत्न**—यह रत्न चार अंगुल प्रमाण वाला होता है। उत्तर भारत की ओर प्रयाण करते हुए जब चक्रवर्ती वैताढ्य पर्वत की गुफाओं में से गुजरता है, तब तमिस्रा को नष्ट करने के लिए चक्रवर्ती इस रत्न से एक-एक योजन पर गो-मूत्रिका के आकार से धनुष की तरह गोलाकार, पाँच सौ धनुष विस्तार वाले ४९ मण्डल बनाता है। प्रत्येक मण्डल एक योजन तक का प्रकाशक होता है। चक्रवर्ती की विद्यमानता तक गुफा के किवाड़ खुले रहते हैं। इन्हीं मार्गों से उत्तर भारत से दक्षिण भारत और दक्षिण भारत से उत्तर भारत की ओर यात्राएँ होती हैं। इसी रत्न से चक्रवर्ती ऋषभकूट पर्वत पर चन्द्रबिम्ब की तरह अपना नाम अंकित करता है।

७. **चर्मरत्न**—दिग्विजय के समय जब राह में बड़ी-बड़ी नदियाँ आती हैं, तो यह रत्न चक्रवर्ती के कर-स्पर्श से दिव्य देवशक्ति द्वारा बारह योजन विस्तृत नाव के रूप में बनकर चक्रवर्ती की सारी सेना को पार पहुँचा देता है। उत्तर भरतार्द्ध में

जब भील नरेशों ने भरत चक्रवर्ती की सेना को जल-मग्न करने के लिए घोर-वृष्टि की, तो इस रत्न के द्वारा सेना की सुरक्षा हुई।

८. सेनापति-रत्न—चक्रवर्ती की सेना का प्रमुख, जो वासुदेव के समान बल-शाली होता है। दिग्विजय के समय मध्य के दो खण्डो में चक्रवर्ती पहुँचाता है, भरत क्षेत्र के अन्य चार खण्डों में सेनापति के नेतृत्व में ही युद्ध होता है।

९. गाथापति-रत्न—गाथापति-रत्न चक्रवर्ती की सेना के लिए प्रत्येक मुकाम पर उत्तम भोजन की व्यवस्था करता है।

दिगम्बर परम्परा में गाथापति रत्न को गृहपति रत्न कहा है, और उसका नाम 'कामवृष्टि गृहपति रत्न' दिया है।

१०. वर्धकी-रत्न—दिग्विजय के समय चक्रवर्ती की सेना जहाँ भी पड़ाव डालती है, वहीं विश्वकर्मा के समान कुशल वर्धकी रत्न अपनी दिव्य शक्ति से मुहूर्त्त मात्र में ही सारी आवास-व्यवस्था करता है। वैताढ्य पर्वत की ओर आने वाली 'उन्मग्नजला' और 'निमग्नजला' नदियो पर पुल बाँधने का काम भी करता है।

११. पुरोहित-रत्न—ज्योतिष शास्त्र का प्रकाण्ड पण्डित जो स्वप्न शास्त्र, निमित्तशास्त्र, लक्षण और व्यञ्जनों का ज्ञाता व कुशल उपदेशक होता है। यह दैवी-उपद्रवों का शांति-कर्त्ता भी होता है।

१२. स्त्री-रत्न—वैताढ्य पर्वत की उत्तर श्रेणी के विद्याधर की कन्या जो रूप, कला और गुणों में अद्वितीय होती है, उसके स्पर्श-मात्र से अशेष रोग दूर हो जाते हैं। भरत चक्रवर्ती का स्त्री-रत्न विनमिराज की कन्या सुभद्रा बनी। इसे तीव्र भोगावली कर्म का उदय होता है। चक्रवर्ती के दीक्षा लेने पर यह छह महीने तक अपना सिर दिवाल से फोड़-फोड़ कर आर्तध्यान मे मरकर छठी नरक में जाती है। यह कभी भी साध्वी नहीं बनती और सदा युवती ही बनी रहती है। चक्रवर्ती का भी इस पर अत्यधिक राग होता है।

१३. अश्व-रत्न—अस्सी अगुल ऊँचा और एक सौ आठ अगुल लम्बा होता है। यह एक क्षण में सौ योजन लाँघ जाने की शक्ति रखता है। कीचड़, जल, पहाड़, गुफा या विषम महास्थलो को सहज मे पार कर जाने की सामर्थ्य होती है। भरत चक्रवर्ती के अश्व-रत्न का नाम 'कमलापीड' था।[१]

१४. हस्ती-रत्न—यह सर्वोत्तम, बलिष्ठ और सुन्दर होता है। कार्य मे दक्ष व इन्द्र के ऐरावत हाथी की तरह सर्वगुणसम्पन्न होता है।

१ (क) त्रिषष्टि० १।४
(ख) ठाणांगसूत्र, ठाणा ७
(ग) समवायांगसूत्र, समवाय १४

इन प्रत्येक रत्नों के एक-एक हजार देवता रक्षक होते हैं। इस प्रकार चौदह रत्नों के चौदह हजार देवता रक्षा करने वाले होते हैं।

वैदिक साहित्य में भी चौदह रत्नों के नाम प्राप्त होते हैं। वे इस प्रकार हैं—हाथी, घोड़ा, रथ, स्त्री, बाण, भण्डार, माला, वस्त्र, वृक्ष, शक्ति, पाश, मणि, छत्र और विमान।

चक्रवर्ती की नव निधियाँ[1]

सम्राट् भरत के पास नौ निधियाँ थीं। जिनसे वह मनोवांछित वस्तुएँ प्राप्त करता था।

१. नैसर्प निधि—ग्राम-नगर-द्रोणमुख-मडप आदि स्थानों का निर्माण करने वाली होती है।

२. पांडुक निधि—मान, उन्मान और प्रमाण आदि का ज्ञान कराती है और धान्य तथा बीजों को उत्पन्न करती है।

३. पिंगल निधि—मनुष्य व तिर्यञ्चों के सर्वविध आभूषणों की विधि का ज्ञान कराने वाली; और उनके योग्य आभरण प्रदान करने वाली।

४. सर्वरत्न निधि—इस निधि से वज्र, वैडूर्य, मरकत, माणिक्य, पद्मराग, पुष्पराज आदि बहुमूल्य रत्न प्राप्त होते हैं।

५. महापद्म निधि—सब तरह के शुद्ध, रंगीन वस्त्रों की उत्पादिका। किन्हीं-किन्हीं ग्रन्थों में इसका नाम पद्मनिधि मिलता है।

६. काल निधि—वर्तमान, भूत, भविष्य, कृषिकर्म तथा अन्य भी कलाशास्त्र, व्याकरण शास्त्र आदि का परिज्ञान होता है।

७. महाकाल निधि—सोना, चाँदी, मोती, प्रवाल, लोहा आदि की खानें उत्पन्न होती हैं।

८. माणव निधि—कवच, ढाल, तलवार आदि नाना प्रकार के दिव्य आयुध, युद्ध नीति तथा दण्डनीति आदि की ज्ञापिका।

९. शंख निधि—नाना प्रकार के वाद्य, काव्य, नाट्य-नाटक आदि की विधि का ज्ञान कराने वाली।

उक्त सभी निधियाँ अविनाशी होती हैं, तथा दिग्विजय से लौटते हुए गंगा के

---

१ (क) त्रिषष्टि० १।४

(ख) ठाणांगसूत्र, ठाणा ९, सूत्र १९

(ग) जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, चक्रवर्ती अधिकार

(घ) हरिवंशपुराण, सर्ग ११

(ङ) माघनन्दी विरचित शास्त्रसारसमुच्चय, सूत्र० १८, पृ० ७४

पश्चिम तट पर, चक्रवर्ती सम्राट् को अट्ठम तप के पश्चात् प्राप्त होती हैं। प्रत्येक निधि एक-एक हजार यक्षों से अधिष्ठित होती हैं। इनकी ऊँचाई आठ योजन, चौड़ाई नौ योजन और लम्बाई दस योजन होती है। वैडूर्यमणि के कपाट से उनके मुख आच्छन्न रहते हैं। समान आकृति वाली उक्त नव-निधियाँ स्वर्ण और रत्नों से परिपूर्ण होती हैं। चन्द्र, सूर्य के चिन्हों से चिन्हित होती हैं, तथा पल्योपम की आयु वाले नागकुमार जाति के देव इनके अधिष्ठायक होते हैं।[१]

ये नौ निधियाँ कामवृष्टि नामक गृहपति-रत्न के अधीन थीं और सदा चक्रवर्ती के समस्त मनोरथों को पूर्ण करती थी।[२]

हिन्दू धर्मशास्त्रों में इन नव निधियों के नाम निम्न प्रकार से दिये हैं—

महापद्म, पद्म, शंख, मकर, कच्छप, मुकुन्द, कुन्द, नील और खर्व। ये कुबेर का खजाना भी कही जाती हैं।

---

१ त्रिषष्टि० १।४।५७४-५८७

२ हरिवंशपुराण—जिनसेन, ११।१२३

परिशिष्ट ८

तीर्थंकर और उनकी विशेषताएँ

तीर्थंकर

तीर्थंकर शब्द जैन आगम साहित्य का मुख्य पारिभाषिक शब्द है । यद्यपि बौद्ध-साहित्य में भी अनेक स्थलो पर तीर्थंकर शब्द का प्रयोग हुआ है;[१] तथापि जितना प्रयोग जैन-साहित्य में हुआ है उतना और कहीं भी नहीं ।

तीर्थंकर शब्द तीर्थ उपपद कृञ् + अप् से निष्पन्न हुआ है, इसका अर्थ है, जो तीर्थ-धर्म का प्रचार-प्रसार करे, वह तीर्थंकर है । 'तीर्थ' शब्द भी तृ + थक्' से बना है । शब्द कल्पद्रुम के अनुसार 'तरति संसार महार्णवं येन तत् तीर्थम्' अथवा 'तरति पापादिकं यस्मात् इति तीर्थम्' अर्थात् जिसके द्वारा पापादिक से या संसार-समुद्र से पार हुआ जाय, वह तीर्थ है ।

सस्कृत साहित्य में तीर्थ शब्द 'घाट, सेतु या गुरु के रूप में भी प्रयुक्त हुआ है, अर्थात् जो संसार रूपी सरिता को पार करने के लिए धर्म-तीर्थ की संस्थापना करता है, वह तीर्थंकर है । उस धर्म-तीर्थ को धारण करने वाले साधु-साध्वी, श्रावक और श्राविका होने से इन्हें भी तीर्थ कह दिया है ।

धर्म-तीर्थ की स्थापना करने वाले तीर्थकर अतीत के अनन्तकाल में अनन्त हो चुके हैं, भविष्य में भी अनन्त होंगे । अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी प्रत्येक काल-चक्र में चौबीस-चौबीस तीर्थंकर होते हैं । सभी तीर्थकर अपने-अपने समय में शाश्वत सत्य सिद्धान्त का समान रूप से प्ररूपण करते हैं । उनमें कभी भी मत-भिन्नता न रही है और न कभी रहेगी, केवल बाह्य-क्रियाओं में देश-काल की परिस्थिति के अनुसार किंचित्मात्र परिवर्तन होता है । वर्तमान अवसर्पिणी काल में भी ऋषभ से लेकर महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थंकर हो गये हैं ।

तीर्थंकर और अवतार

जैनधर्म के समान ही वैदिक और बौद्ध-परम्परा ने भी अवतारों और बुद्धों की गणना की है । वैदिक परम्परा अवतारवाद में विश्वास करती है अतः उन्होंने कहीं पर भगवान के असंख्य अवतारों का उल्लेख किया है तो कहीं दूसरी जगह सोलह, बावीस और चौबीस अवतार माने हैं । वहाँ अवतारों की संख्या में विभिन्नता दृष्टिगोचर होती है ।

---

१ बौद्ध-साहित्य का लंकावतार सूत्र

इसी प्रकार बौद्ध-परम्परा ने जो बुद्धों की संख्या परिकल्पित की, वहाँ भी कहीं एकरूपता नहीं दिखाई देती। महायान की एक सूची में बत्तीस बुद्धों का उल्लेख है, तो किसी एक जगह सात मानुषी बुद्ध माने गये हैं, और कहीं बुद्धों की संख्या अनन्त भी मानी है। लंकावतार सूत्र में चौबीस बुद्धों का उल्लेख है। किन्तु जैन-आगमों में इस प्रकार की विभिन्नता नहीं है, चाहे दिगम्बर हो या श्वेताम्बर सभी जगह चौबीस ही तीर्थंकरों का उल्लेख है।

तीर्थंकर नाम गोत्र के कारण

जैन कर्म साहित्य की दृष्टि से तीर्थंकर उत्कृष्ट पुण्य प्रकृति है। कोई भी जीव तीर्थंकर एक भव की साधना से नहीं होता, उसके लिए दीर्घकाल तक साधना करनी होती है। ज्ञाताधर्मकथासूत्र, त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, आवश्यक-निर्युक्ति, आवश्यकचूर्णि आदि श्वेताम्बर ग्रन्थों में तीर्थंकर नाम गोत्र उपार्जन के लिए बीस स्थानों[१] का आराधन आवश्यक माना है—

१ अरिहन्त की भक्ति — २ सिद्ध की भक्ति
३ प्रवचन की भक्ति — ४ आचार्य की भक्ति
५ स्थविर की भक्ति — ६ बहुश्रुत की भक्ति
७ तपस्वी मुनि की सेवा-भक्ति
८ निरन्तर ज्ञान की आराधना करना
९ निर्दोष सम्यक्त्व का परिपालन करना
१० ज्ञान-दर्शन-चारित्र और उपचार विनय करना
११ अतिचार रहित आवश्यक में यत्न करना
१२ शील और व्रतों का निर्दोष पालन करना
१३ प्रतिक्षण वैराग्यभाव की अभिवृद्धि करना
१४ यथाशक्ति तपानुष्ठान करना
१५ चतुर्विध संघ की सेवा-भक्ति करना

---

१ (क) अरहंत सिद्धपवयण गुरुथेरबहुस्सुएतवस्सीसु।
वच्छल्लया य एसिं अभिक्खनाणोवयोगे य॥
दंसण विणए आवस्सए य सीलव्वए निरइयारो।
खणलवतवच्चियाए वेयावच्चे समाही य॥
अपुव्वनाण गहणे सुयभत्ती पवयणे पहावणया।
एएहिं कारणेहिं तित्थयरत्तं लहइ जीवो॥
—आवश्यकनिर्युक्ति १७६-१७८

(ख) णायाधम्मकहाओ १।८

(ग) त्रिषष्टि० पर्व १, ८८२-९०३

१६ व्रताराधना में तल्लीन महापुरुषों की सेवा करना
१७ अपूर्व ज्ञान सीखने की तीव्र अभिलाषा होना
१८ वीतराग देव के वचनों पर दृढ़ आस्था होना
१९ सुपात्र दान देना
२० जिन शासन की प्रभावना करना।

उक्त बीस बोलों में से किसी एक-दो बोलों की उत्कृष्ट साधना-आराधना की जाय तो भी अध्यवसायों की श्रेष्ठता से जीव तीर्थंकर गोत्र का उपार्जन कर लेता है। परन्तु भगवान महावीर और भगवान ऋषभदेव के जीव ने तो बीस ही स्थानों का उत्कृष्ट आराधन किया था।[1]

दिगम्बर-परम्परा में बीस स्थानों के बदले सोलह भावनाओं का उल्लेख प्राप्त होता है। उनमें दर्शनविशुद्धि, विनय-सम्पन्नता को प्राथमिकता प्रदान की गई है, जबकि श्वेताम्बर ग्रन्थों में अर्हद्भक्ति, सिद्धभक्ति आदि को।

उन्होंने सिद्ध, स्थविर, तपस्वी आदि बोलों का अन्तर्भाव षोडश भावनाओं में ही कर दिया है। वस्तुतः श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा में तीर्थंकर बोल की आराधना के विषय में कोई मौलिक भेद नहीं है। वहाँ सोलह भावनाओं का निरूपण निम्न रीति से किया गया है—

१ दर्शन की विशुद्धि
२ विनयसम्पन्नता
३ अतिचाररहित शील और व्रतों का पालन
४ निरन्तर ज्ञानोपयोग
५ वैराग्य-भावना
६ यथाशक्ति तपाराधन
७ संघ-भक्ति
८ साधु की भक्ति
९ तपस्वी की सेवा करना
१० अर्हन्त की भक्ति
११ आचार्य की भक्ति
१२ बहुश्रुत की भक्ति
१३ प्रवचन-भक्ति
१४ आवश्यक का परिपालन
१५ शासन की प्रभावना
१६ प्रवचनवत्सलता।[2]

---

१ (क) त्रिषष्टि १।१।९०३
(ख) आवश्यकनिर्युक्ति १७५
(ग) आवश्यकचूर्णि २-१०९।१३५

२ (क) दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नताशीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्णं ज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी संघसाधुसमाधिवैयावृत्यकरणमर्हदाचार्य बहुश्रुत-प्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावनाप्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकृत्त्वस्य।
—तत्त्वार्थसूत्र ६।२३

तीर्थंकर के चौंतीस अतिशय

सामान्य केवली और तीर्थंकर में यद्यपि आत्मिक गुण समान रूप से प्रगटित होते हैं, तथापि पुण्य-प्रकृति की प्रबलता के कारण सामान्य केवली की अपेक्षा तीर्थंकर में कुछ खास विशेषताएँ होती हैं, जो अन्य किसी में नहीं पाई जातीं। वे प्रमुख, अलौकिक विशेषताएँ ही 'अतिशय' शब्द से अभिहित की गई हैं। वे विशेषताएँ ये हैं :—

१ केश, रोम, नख और स्मश्रु का यथावस्थित रहना
२ शरीर निरोग व निर्मल होना
३ रक्त-मांस गौ-दुग्धवत् उज्ज्वल होना
४ श्वासोच्छ्वास पद्म-कमलवत् सुगन्धित होना
५ आहार-निहार अदृश्य होना
६ भगवान के आगे नभ-मण्डल में धर्म-चक्र चलना

(ख) ततोऽसौ भावयामास भावितात्मा सुधीरधीः ।
स्वगुरोर्निकटे तीर्थकृत्त्वस्याङ्गानि षोडशः ॥
सद्दृष्टिं विनयं शीलव्रतेष्वनतिचारताम् ।
ज्ञानोपयोगमाभीक्ष्ण्यात् संवेगं चाप्यभावयत् ॥
यथाशक्तितपस्तेपे स्वयं वीर्यमहापयन् ।
त्यागे च मतिमाधत्ते ज्ञान-संयम-साधने ॥
सावधानः समाधाने साधूनां सोऽभवन् मुहुः ।
समाधये हि सर्वोऽयं परिस्पन्दो हितार्थिनाम् ॥
स वैयावृत्यमातेने व्रतस्थेष्वामयादिषु ।
अनात्मतरको भूत्वा तपसो हृदयं हि तत् ॥
स तेने भक्तिमर्हत्सु पूजामर्हत्सु निश्चलाम् ।
आचार्यान् प्रश्रयी भेजे मुनीनपि बहुश्रुतान् ॥
परां प्रवचने भक्तिं आप्तोपज्ञे ततान सः ।
न पारयति रागादीन् विजेतुं सन्ततान सः ॥
अवश्यमवशोऽप्येष वशी स्वावश्यकं दधौ ।
षड्भेदं देशकालादि सव्यपेक्षमनूनयन् ॥
मार्गं प्रकाशयामास तपोज्ञानादिदीधितीः ।
दधानोऽसौ मुनिनेनो भव्याब्जानां प्रबोधकः ॥
वात्सल्यमधिकं चक्रे स मुनिर्धर्मवत्सलः ।
विनेयान् स्थापयन् धर्मे जिनप्रवचनाश्रितान् ॥

—महापुराण श्लोक ६८-७७।११।२३३-३४

७ आकाशगत छत्र होना
८ आकाशगत श्वेत चामर होना
९ आकाश में स्फटिक सिंहासन का होना
१० आकाश में सहस्र पताका युक्त इन्द्रध्वज का होना
११ भगवान जहाँ भी ठहरें, वहाँ अशोकवृक्ष का होना
१२ चहुँ दिशा में प्रकाश करने वाले तेजोमण्डल का होना
१३ भूमि-भाग रमणीय होना
१४ काँटों का अधोमुखी होना
१५ सर्व ऋतुएँ अनुकूल होना
१६ शीतल, मंद, सुगन्ध पवन का होना
१७ जल-कणों से रज-कणों का शमन होना
१८ पंच वर्ण युक्त अचित्त पुष्पों का गिरना
१९ अशुभ शब्द, रस, गंध, स्पर्श का अपकर्ष होना
२० शुभ वर्ण, गंध, रस, स्पर्श का उत्कर्ष होना
२१ धर्मोपदेश के समय गम्भीर गिरा का योजन प्रमाण प्रसार होना
२२ अर्द्धमागधी भाषा मे धर्मोपदेश देना
२३ अर्द्धमागधी भाषा का श्रोता की भाषा के अनुरूप परिणमन होना
२४ परस्पर में शत्रुपन का विस्मरण होना
२५ अन्य तीर्थिकों का भी भगवान के प्रति सविनय भक्ति होना
२६ प्रतिवादी का निरुत्तर होना
२७ भगवान जहाँ भी विचरें वहाँ पच्चीस-पच्चीस योजन तक ईति का अभाव होना
२८ भगवान जहाँ भी विचरें वहाँ चारों दिशाओं में पच्चीस-पच्चीस योजन तक महामारी का न होना
२९ स्वचक्र का भय न होना
३० परचक्र का (से) भय न होना
३१ अतिवृष्टि का अभाव
३२ अनावृष्टि का अभाव
३३ दुर्भिक्ष का अभाव
३४ सभी प्रकार के उपद्रवों का अभाव।

चार अतिशय जन्म से, उन्नीस अतिशय देवकृत और ग्यारह अतिशय केवलज्ञान के पश्चात् प्रकट होते हैं।

—समवायांग, समवाय १११

दिगम्बर-परम्परा ने भी चौंतीस अतिशय स्वीकार किये हैं, पर श्वेताम्बर परम्परा की अपेक्षा वे कुछ भिन्न हैं। वे इस प्रकार हैं :—

जन्म के दस अतिशय

१ स्वेदरहित तन
२ निर्मल शरीर
३ दुग्धवत् श्वेत रुधिर
४ अतिशय सुन्दर शरीर
५ सुगन्धित तन
६ उत्तम संहनन
७ उत्तम संस्थान
८ एक हजार आठ लक्षण
९ अपरिमित बल
१० हित-प्रिय निर्दोष वचन ।

केवलज्ञान के दस अतिशय

१ भगवान जहाँ भी विचरें, वहाँ सौ-सौ कोस तक सुभिक्ष होना
२ आकाश में गमन-अर्थात् जमीन पर पैर नहीं रखते
३ सभी प्राणियों का निर्भय होना
४ कवलाहार न होना
५ भगवान पर कोई उपसर्ग न होना
६ समवसरण में चतुर्मुख दिखना
७ स्वयं सर्व विद्याओं के ईश्वर होना
८ शरीर निर्मल और छाया से रहित होना
९ पलकें नहीं झपकना
१० नख केशों का सम होना ।

देवकृत चतुर्दश अतिशय

१ चारों दिशाएँ निर्मल होना
२ गगन-मण्डल स्वच्छ व मेघावरणों से रहित
३ धन-धान्य से परिपूर्ण पृथ्वी होना
४ सुगंधित पवन का चलना
५ दिव्य जलवृष्टि होना
६ योजनपर्यन्त भूमिभाग दर्पण सम स्वच्छ होना
७ पाद-विहार के समय देव-रचित कमलों का होना
८ नभ में जय-जयकार का नाद होना
९ अखिल सृष्टि परम आनन्दमयी होना
१० पृथ्वी कंटक और पाषाणादि से रहित हो
११ धर्मचक्र का चलना
१२ शत्रुता का विस्मरण हो जाना
१३ ध्वजा सहित अष्ट मंगल का साथ चलना
१४ अर्धमागधी भाषा में प्रतिबोध देना ।

—नन्दीश्वर भक्ति

तीर्थंकर की वाणी के पैंतीस गुण

१ लक्षणयुक्त　　२ उच्च स्वभाव युक्त
३ तुच्छता से रहित　　४ मेघवत् गम्भीर
५ प्रतिध्वनि युक्त　　६ सरल व स्पष्ट हो
७ विविध राग युक्त　　८ अर्थ गाम्भीर्यता
९ पूर्वापर अविरोधिता　　१० शिष्टतासूचक
११ संदेहरहित　　१२ पर-दोषों की प्रकटता-रहित
१३ श्रोताओं के हृदय को आनन्द देने वाली
१४ देश-काल के अनुसार हो　　१५ विवक्षित विषयानुसारी
१६ असम्बद्ध व अति विस्तार रहित　　१७ परस्पर पद एवं वाक्यानुसारी
१८ प्रतिपाद्य विषय का उल्लंघन न करने वाली
१९ अमृत से भी मधुर　　२० मर्मवेधी न हो
२१ धर्मार्थरूप पुरुषार्थ की पुष्टि करने वाली
२२ अभिधेय अर्थ की गम्भीरतायुक्त हो
२३ आत्म-प्रशंसा व पर-निन्दा से रहित　२४ श्लाघनीय हो
२५ कारक, काल, लिंग, वचन आदि से निर्दोष
२६ श्रोताओं के मन में आश्चर्य पैदा करने वाली
२७ अद्भुत अर्थ-रचनायुक्त　　२८ विलम्बरहित
२९ विभ्रमादि दोषरहित　　३० विचित्र अर्थयुक्त
३१ सामान्य वचनों से विशेषता लिए हो
३२ वस्तु स्वरूप को साकार रूप में प्रस्तुत करने वाली
३३ सत्त्वप्रधान व साहसयुक्त हो　　३४ स्व-पर के लिए आनन्ददायक
३५ विवक्षित अर्थ की सम्यक् सिद्धि पर्यन्त अविच्छिन्न प्रवाह वाली हो।

अरिहन्त के बारह गुण

१ अनन्तज्ञान　　२ अनन्तदर्शन
३ अनन्तचारित्र (स्वरूप-रमणता)　　४ अनन्त बलवीर्य
५ अशोकवृक्ष　　६ देवकृत पुष्प-वृष्टि
७ दिव्य-ध्वनि　　८ चामर
९ स्फटिक-सिंहासन　　१० छत्र-त्रय
११ देव-दुन्दुभि　　१२ भामण्डल

अन्तिम आठ गुण 'प्रतिहार्य' भी कहलाते हैं।[1] और प्रारम्भ के चार गुण, चार घनघाती कर्मों के क्षय से उत्पन्न होते हैं।

---

१ अशोकवृक्षः सुरपुष्पवृष्टिर्दिव्यध्वनिश्चामरमासनं च,
भामण्डलं दुन्दुभिरातपत्रं अष्टं महाप्रातिहार्यं जिनेश्वराणाम्।
—अभिधान राजेन्द्र कोश १।३१

परिशिष्ट ९

जीवनी के प्रामाणिक स्रोतों का संकेत

श्री ऋषभ के पूर्वभव

८८/५[1] जीवे सव्वजीवाणं माइत्ताए पियत्ताए, भाइत्ताए, भगिणित्ताए, भज्जत्ताए, पुत्तत्ताए, धूयत्ताए, सुण्हत्ताए उववन्न पुव्वे ?

हंता गोयमा ! असइं अदुवा अणंतखुत्तो ।

—भगवती शतक १२।७

८८/६ समणे भगवं महावीरे भगवं गोयमं आमंतेत्ता एवं वयासी—चिरसंसिट्ठोऽसि मे गोयमा ! चिरसंथुओऽसि मे गोयमा ! चिरपरिचिओऽसि मे गोयमा ! चिरजुसिओऽसि मे गोयमा ! चिराणुगओऽसि मे गोयमा ! चिराणुवत्तीसि मे गोयमा ! अणंतरं देवलोए अणंतरं माणुस्सए भवे किं परं······ ।

—भगवती शतक १४।७

९०/४ (क) सो अहाउयं पालइत्ता तेण दाणफलेण उत्तरकुरुमणुतो जातो ।

—आवश्यकचूर्णि, पृ० १३२

(ख) तेण दाणफलेण उत्तरकुराए मणूसो जाओ ।

—आवश्यक हारिभद्रीया वृ०, पृ० ११६

(ग) सो य अहाउयं पालित्ता कालमासे कालं किच्चा तेण दाणफलेण उत्तरकुराए मणूसो जातो ।

—आवश्यक मलय० वृ० पृ० १५८।१

(घ) कालेन तत्र पूर्णायुः कालधर्ममुपागतः ।
आस्थितैकान्त सुषमेषूत्तरेषु कुरुष्वसौ ॥
सीतानद्युत्तरतटे जम्बूवृक्षानुपूर्वतः ।
उत्पेदे युग्मधर्मेण, मुनिदानप्रभावतः ॥

—त्रिषष्टि० १।१।२२६, २२७, पृ० ६

९२/१ (क) तत्थ······भुंजिऊण भोए आउसेसयाए मरिऊण साहुदाणाणुहावेणं तिपलिओवमाऊ सोहम्मे कप्पे देवत्तणेणं समुप्पण्णो त्ति ।

—चउप्पनमहापुरिसचरियं, पृ० १६

(ख) ततो आउक्खएण उव्वट्टिऊण सोहम्मेकप्पे तिपलिओवमठितीओ देवो जाओ ।

—आवश्यकचूर्णि, पृ० १३२

---

१ प्रारम्भ के अंक क्रमशः पृष्ठ एवं तद्गण टिप्पण के सूचक हैं ।

६३/२ तस्याः पतिरभूत्खेन्द्रमुकुटाल्ढशासनः ।
खमेन्द्रोऽतिबलो नाम्ना प्रतिपक्षबलक्षयः ॥

—महापुराण ४।१२२

६३/३ अलकायां मनोहर्यास्तनयोऽतिबलस्य च ।
महाबल इतिख्यातः खेन्द्रोऽभूद् दशमे भवे ॥

—पुराणसार संग्रह ५।१।१

६३/६ परिणाविओ य पिउणा विणयवइं मारियं ।

—चउप्पनमहापुरिसचरियं, पृ० १६

६६/१ अण्णया य मंतिणा चिंतियं—एसो उ अच्चन्त भोगासत्तो पेक्खणरुई य । ता वेरग्गजणएणं णाडएणं एवं बोहेमि ।' त्ति चिंतिऊण सद्दाविओ हरगणाभिहाणो नडो·········। तओ राइणा गरुयसंवेगावण्णहियएणं मंतिणो विमलमइस्स मुहं पलोइय·········।

—चउप्पनमहापुरिसचरियं, पृ० १७, २८

६७/१ (क) आमेत्युदित्वा स्वसुतं स्वे पदे प्रत्यतिष्ठियत् ।
महाबलस्तदाचार्यः प्रासादे प्रतिमामिव ॥
समाहितः स्मरन् पञ्चपरमेष्ठिनमस्क्रियाम् ।
द्वाविंशति दिनान् कृत्वाऽनशन स व्यपद्यत ॥

—त्रिषष्टि० १।१।४५२, ४४६

(ख) बावीसदिवसे भत्तपच्चक्खाणं काउं मरिऊण ।

—आवश्यक मलय० वृ० प० १५८।२

६८/२ (ग) देहभारमथोत्सृज्य लघुभूत इव क्षणात् ।
प्रापत स कल्पमैशानम् अनल्पसुखसन्निधिम् ॥
तत्रोपपादशय्यायाम् उदपादि महोदयः ।
विमाने श्रीप्रभेरम्ये, ललिताङ्ग सुरोत्तमः ॥
पल्योपमपृथक्त्वावशिष्टमायुर्यदास्य च ।
तदोदपादि पुण्यैः स्वैः प्रेयस्य स्वयम्प्रभा ॥
सैषा स्वयंप्रभाऽस्यासीत् परा सौहार्दभूमिका ।
चिरं मधुकरस्येव प्रत्यग्राचूतमञ्जरी ॥
नमस्कारपदान्युच्चैः अनुध्यायन्नसाध्वसः ।
साध्वसौ मुकुलीकृत्य करौ प्रायाददृश्यताम् ॥

—महापुराण ५-६।२५३, २५४, २८६, २८८

६६/३ ·····तस्याः पतिरभून्नाम्ना वज्रदन्तो महीपतिः ।
लक्ष्मीरिवास्य कान्ताङ्गी लक्ष्मीमतिरभूत्प्रिया ॥

—महापुराण ६।५८, ५६

१००/२ पटे वृत्तान्तमालेख्य, श्रीमत्यास्तं च पण्डिता ।
उपायपण्डिता मंक्षु बहिर्दर्शयितुं ययौ ॥

—त्रिषष्टि० १।१।६४८

१००/३ तथेति प्रतिपन्ने च, कुमारेणोदवाहयत् ।
श्रीमतीं भूपतिः प्रीतो, हरिणेवोदधिः श्रियम् ॥

—त्रिषष्टि० १।१।६८७

१०१/४ अन्नया य धवलहरसत्तमभूमियाए ठियस्स वइरजंघस्स य सिरिकंताए मारियाए के से उम्मोयंतीए कण्णासण्णागयं····· समुब्बिग्गाए दंसियं एगं पलियं । तओ तं दट्ठूण वियलियमोहंधयारेण राइणा (? भणियं)-सुंदरि ! किमुब्विग्गासि ? धम्मतरुबीयमेयं पलियच्छलेण समागयं ति····· ··· ।

ताव य संजायमहामोहेणं अमुणियमहारायचित्तेण संसारसुलहेण दुरज्झवसायववसिएण रज्जकंखुएण भोगाहिलासिणा पुत्तेण आसुजीवावहारिणा धूमप्पओगेणं रइहरपसुत्तो सह पियाए वावाइओ ।

—चउप्पन्नमहापुरिसचरियं, पृ० ३०

१०२/२ (क) कालागुरुकधूपाढ्ये शयितौ गर्भवेश्मनि ।
मृत्वोत्तरकुरुष्वास्तामाशु दानेन दम्पती ॥

—पुराणसार ४१।२

१०३/१ कदाचित्सूर्यदेवस्य दृष्ट्वा यानविमानकम् ।
अथ सस्मरतुर्जातिमन्योऽन्यप्रियवर्तिनौ ॥
आगतौ चारणौ वीक्ष्य, सन्निविष्टौ शिलातले ।
मूर्ध्ना प्रणम्य पप्रच्छ, के यूयमागताः कुतः ?
उवाचाहं स्वयंबुद्धस्तत्राकार्यं सुसंयमम् ।
सौधर्मे मणिचूलाख्यो देव आसं स्वयम्प्रभे ॥
प्रच्युतः पुण्डरीकिण्यां सुन्दरी-प्रियसेनयोः ।
भ्राता प्रीतिसुदेवोऽयं ज्यायान् प्रीतिंकरोऽस्म्यहम् ॥
स्वयं प्रभार्हतः पार्श्वे दीक्षितौ प्राप्तलीलिकौ ।
·· ॥
इतोऽन्यदुत्तरं नास्ति न भूतं न भविष्यति ।
इह सेत्स्यन्ति सिद्धाश्च तस्यात्सम्यक्त्वमुत्तमम् ॥
दत्त्वा ताभ्यां त्रिरत्नाद्यं गताम्बरचारिणौ ।

—पुराणसार २।२६।४४-५१

१०४/१ ततो सोहम्मे कप्पे देवो उववन्नो ।

—आवश्यकनिर्युक्ति मलय० वृ० १५८

१०४/३ ततो आउक्खए चइऊण महाविदेहवासे खितिपइट्ठिते नगरे विज्जपुत्तो आयातो ।

—आवश्यक मलय० वृ० पृ० १५८

१०५/२ श्रेष्ठिश्रेष्ठोऽपंपित्वाऽथ तेषां गोशीर्षकम्बली ।
भावितात्मा प्रवव्राज, वव्राज च परं पदम् ॥

—त्रिषष्टि० १।१।७५६

१०६/२ इयरे य पवड्ढमाणसुहविवेया गया य सिद्धायरिय समीवं……भगवया य 'तहत्ति' भणिऊण पव्वाविया ।

—चउप्पनमहापुरिसचरियं, पृ० ३२

१०६/३ पच्छा ते सड्ढा जाया, पच्छा समणा

—आवश्यकनिर्युक्ति मलय० वृ०, पृ० १५६

१०७/१ श्री धरोऽथ दिवश्च्युत्वा जम्बूद्वीपमुपाश्रिते ।
प्राग्विदेहे महावत्सविषये स्वर्गसन्निभे ॥
सुसीमानगरे जज्ञे सुदृष्टिनृपतेः सुतः ।
मातुः सुन्दरनन्दायाः सुविधिर्नाम पुण्यधीः ॥
नृपस्तु सुविधिः पुत्रस्नेहाद् गार्हस्थ्यमत्यजन् ।
उत्कृष्टोपासकस्थाने तपस्तेपे सुदुश्चरम् ॥
अथावसाने नैर्ग्रन्थीं प्रव्रज्यामुपसेदिवान् ।
सुविधिर्विधिनाराध्य, मुक्तिमार्गमनुत्तरम् ॥

—महापुराण १०।१२१, १२२, १५८, १६६

११०/१-२ तत्थ बाहू तेसिं अन्नेसिं च साहूण वेयावच्चं करेइ, जो सुबाहू सो साहुणो विस्सामेइ । एवं ते करेते भयवं वइरनाभो-अणुवूहइ अहो सुलद्ध जम्मं सहली कय जीवियं जं साहूण वेयावच्चं कीरइ, परिस्सन्ते वा साहुणो विस्सामेइ । एवं पसंसिज्जंतेसु तेसु तेसिं पच्छिमाणं दोण्हवि पीढ महापीढाणं अप्पत्तियं भवति, अम्हे सज्झायन्ता न पसंसिज्जामो जो करेइ सो पसंसिज्जइ, सच्चो लोगववहारोत्ति ।

एवं ताभ्यां गुरुषु मात्सर्यमुद्वहद्भ्यां तथाविधतीव्रामर्षवशान्मिथ्यात्वमुपगम्य स्त्रीत्वमुपचित स्वल्पोऽपि दोषोऽनालोचिता प्रतिक्रान्तो महानर्थफलो भवति ।……तेषां पञ्चानां मध्ये द्वितीयो बाहुनामा वैयावृत्त्य-भक्तपानादि नोपष्टम्भलक्षणं भोगफलं चक्रवर्तिभोगफलमकार्षीत् । तृतीयः सुबाहुनामा कृतिकर्म्म-साधुविश्रामणारूप बहुफलं बाहुबलमकार्षीत् ।

—आवश्यकनिर्युक्ति मलय० वृ०, १६०।१

११०/१-२ ततो पंचवि अहाउयं पालइत्ता काल काऊण सव्वट्ठ सिद्धिमहाविमाणे तेत्तीस सागरोवमट्ठिइया देवा उववण्णा ।

—आवश्यकनिर्युक्ति मलय० वृ०, पृ० १६२

१११/१ अतिगृद्धः पुरा पश्चात्सारकोऽनुचमूरकः ।
दिवाकरप्रभो देवस्तथा मतिवराह्वयः ॥

ततोऽहमिन्द्रस्तस्माच्च सुबाहुरहमिन्द्रताम् ।
प्राप्य त्वं भरतो जातः षट्खण्डाखण्डपालकः ॥
आद्यः सेनापतिः पश्चादार्यस्तस्मात्प्रभङ्करः ।
ततोऽकम्पनभूपालः कल्पातीतस्ततस्ततः ॥
महाबाहुस्ततश्चाभूद् अहमिन्द्रस्ततश्च्युतः ।
एष बाहुबली जातो, जातापूर्वं महोदयः ॥

—महापुराण ४७।३६३-३६६

१११/२ धनश्रीरादिमे जन्मन्यतो निर्णामिका ततः ।
स्वयम्प्रभा ततस्तस्माच्छ्रीमत्यार्या ततोऽभवत् ॥
स्वयंप्रभः सुरस्तस्माद् अस्मादपि च केशवः ।
ततः प्रतीन्द्रस्तस्माच्च, धनदत्तोऽहमिन्द्रताम् ॥
गतस्ततस्ततः श्रेयान् दानतीर्थस्य नायकः ।
आश्चर्यं पञ्चकस्यापि प्रथमोऽभूत प्रवर्त्तकः ॥

—महापुराण ४७/३६०-३६२

१११/४ चेत्तबहुलट्ठमीए जातो उसभो असाढनक्खत्ते ।
जम्मणमहो य सव्वो नेयव्वो जाव घोसणयं ॥

—आवश्यकनिर्युक्ति, १८४

११२/१ (क) बाहुजीवपीठ जीवौ, च्युत्वा सर्वार्थसिद्धतः ।
कुक्षौ सुमङ्गलादेव्या युग्मत्वेनाऽवतेरतुः ॥
तौ सुबाहु महापीठ जीवौ सर्वार्थसिद्धतः ।
च्युत्वा कुक्षौ सुनन्दायास्तद्वदेवाऽवतेरतुः ॥

—त्रिषष्टि० १।२।८८४, ८८५

(ख) बाहुणा वेयावच्च करणेण चक्किभोगा णिव्वत्तिया । सुबाहुणा वीसामणाए बाहुबलं निव्वतिअं । पच्छिमेहिं दोहिं ताए मायाए इत्थिनामगोत्तं कम्ममज्जितं त्ति ।

—आवश्यकहारिभद्रीया वृत्ति १२०

गृहस्थ-जीवन

११६/४ पढमेत्थ विमलवाहण, चक्खुम जसमं चउत्थमभिचन्दे ।
तत्तो य पसेणइए, मरुदेवे चेव नाभी य ॥

—आवश्यकनिर्युक्ति मलय० वृ० गा० १५२

१२१/१ भ्राम्यतेतस्तः स्वैरमन्येद्युस्तेन दन्तिना ।
स युग्मधर्मीपुरतः, प्राग्जन्मसुहृदैक्ष्यत ॥
तद्दर्शनामृतासारस्फारीभूततनोस्ततः ।
बीजस्येवाऽङ्कुरस्तस्य, स्नेहः समुदपद्यत ॥

हस्तिना तेन हस्तेनाऽऽदायाऽऽलिङ्ग्य यथासुखम् ।
अनिच्छन्नपि स स्कन्धप्रदेशमधिरोपितः ॥
शङ्खकुन्देन्दुविमलं गजमारूढ इत्यसौ ।
ततः प्रोच्यत मिथुनैर्नाम्ना विमलवाहनः ॥

—त्रिषष्टि० १।२।१४१-१४३, १४६

१२२/२ तेण मणुआ हक्कारेण दंडेणं हया समाणा लज्जिआ, विलज्जिआ, वेड्डा, भीआ, तुसिणीआ विणओणया चिट्ठन्ति ।

—जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, कालाधिकार, पृ० ७६

१२२/४ आगस्यल्पे नीतिमाद्यां, द्वितीयां मध्यमे पुनः ।
महीयसि द्वे अपि ते, स प्रायुङ्क्त महामतिः ॥

—त्रिषष्टि० १।२।१७६

१२३/१ तेण मणुआ पगईउवसन्ता, पगइ पयणुकोह-माण-माया-लोहा, मिउ-मद्दव-सम्पण्णा, अल्लीणा, भद्दगा, विणीआ, अप्पिच्छा, असण्णिहिसंचया, विडिमन्त-रपरिवसणा जहिच्छिअ कामकामिणो ।

—जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति वक्षस्कार सू० १४

१२३/३ एतौ तौ प्रतिदृश्येते सूर्याचंद्रमसौ ग्रहौ ।
ज्योतिरङ्ग प्रभापायात् कालह्रासवशोद्भवात् ॥
सदाप्यधिनभोभागं भ्राम्यतोऽमू महाद्युति ।
न वस्ताभ्यां भयं किञ्चिदतो माभैष्ट भद्रकाः ॥

—महापुराण ३।७०,७१

१२४/१ चक्षुष्मानिति तेनाभूत् तत्काले ते यतोऽर्भकाः ।
जनयित्रोः क्षणं जाताश्चक्षुर्दर्शनगोचरम् ॥

—महापुराण ३।१२४

१२४/२ यशस्वानित्यभूतेन शशंसुस्तद्यशो यतः ।
प्रजा सुप्रजसः प्रीताः पुत्राशासन देशनात् ॥

—महापुराण ३।१२८

१२४/४ तस्य काले सुतोत्पत्तौ नाभिनालमदृश्यत ।
स तन्निकर्तनोपायमादिशन्नाभिरित्यभूत् ॥ —महापुराण ३।१६४

१२५/१ गजकुम्भस्थले तेन मृदा निर्वर्तितानि च ।
पात्राणि विविधान्येषां स्थाल्यादीनि दयालुना ॥ —वही ३।२०४

१२५/२ पूर्वं व्यावर्णिता ये ये प्रतिश्रुत्यादयः क्रमात् ।
पुरा भवे बभूवुस्ते विदेहेषु महान्वयाः ॥
इमं नियोगमाध्याय प्रजानामित्युपादिशन् ।
केचिज्जातिस्मरास्तेषु, केचिच्चावधिलोचनाः ॥ —वही ३।२०७,२१०

१२८/६ गजेन्द्रमैन्द्रमामन्द्रवृंहितं त्रिमदस्रुतम् ।
ज्वलन्तमिव सासारं सा ददर्श शरद्घनम् ॥

—महापुराण १२।१०४

१३०/१ तेण भणियं तुज्झ पुत्तो वड्ढो कुलगरो होहितित्ति ।

—आवश्यकचूर्णि, पृ० १३५

१३०/१ उसभे अरहा कोसलिए जे से गिम्हाणं पढमे मासे पढमे पक्खे चित्तबहुले तस्सणं चित्तबहुलस्स अट्ठमीपक्खेणं नवण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं अद्धट्ठमाण य राइन्दियाणं जाव आसाढाहिं नक्खत्तेणं जोगमुवागएणं आरोग्गा आरोग्गं पयाया ।

—कल्पसूत्र, पुण्य० सू० १९३

१३०/२ प्राचीव बन्धुमब्जानां सा लेभे भास्वरं सुतम् ।
चैत्रे मास्यसिते पक्षे नवम्यामुदये रवेः ॥

—महापुराण १३।२

१३०/३ (ग) जायं च तक्खणमेव उवसन्तरयं पसण्णदिसावलय मणहरसुहालोयं गयणमंडलं ।

—चउप्पन्नमहापुरिसचरियं, पृ० ३४

१३१/४ वृषो हि भगवान्धर्मः तेन यद्नाति तीर्थकृत् ।
ततोऽयं वृषभस्वामीत्याह्वास्तैन पुरन्दरः ॥

—महापुराण १४।१६१

१३२/१ आसाढमासबहुलप्रतिपद्दिवसे कृती ।
कृत्वा कृतयुगारम्भं प्राजापत्यमुपेयिवान् ॥

—महापुराण १६।१९०

१३२/३ सैषा हिरण्मयी वृष्टिः धनेशेन निपातिता ।
विभोर्हिरण्यगर्भत्वमिव बोधयितुं जगत् ॥

—वही १२।९५

१३२/७ पुव्वगा य भगवतो इक्खुरसं पिबिताइता तेण गोत्तं कासवति, इक्खवश्व तदा पानीयवल्लीवद्रसं गलंति, छिन्ना बद्धा वा ।

—आवश्यकचूर्णि, पृ० १५२

१३४/१ पढमो अकालमच्चू तहिं तालफलेण दारको उ हतो ।
कन्ना य कुलगरेहिं य सिट्ठे गहिया उसभपत्ती ॥

—आवश्यकनिर्युक्ति गा० १९०

१३४/३ भोगसमत्थं नाउं, वरकम्मं तस्स कासि देविन्दो ।
दोण्हं वरमहिलाण, बहुकम्मं कासी देवीतो ॥

—आवश्यकनिर्युक्ति गा० १९१

१३५/४ इत्येकान्नशतं पुत्रा बभूवुर्वृषभेशिनः ।
भरतस्यानुजन्मानश्चरमाङ्गा महौजसः ॥ —महापुराण १६।४

१२९/३ अथान्यदा महादेवी सौधे सुप्ता यशस्वति ।
स्वप्नेऽपश्यत् महीं ग्रस्तां मेरुं सूर्यञ्च सोडुपम् ।।
सरः सहंसमब्धिञ्च चलद्वीचिकमैक्षत् ।
स्वप्नान्ते च व्यबुद्धासौ मागधनिःस्वनैः ।।

—महापुराण, आदिपुराण, १५।१००, १०१

१३५/६ ....ततो य तलरुक्खाओ तलफलं पक्कं समाणं वातेण आहतं तस्स दारगस्स उवरि पडितं तेण सो अकाले चेव जीवतातो ववरोवितो ।

—आवश्यकचूर्णि, पृ० १५२

१३६/४ सा य अतीव उक्किट्ठसरीरा देवकण्णाविव तेसु णं वणंतरेसु अह वणदेवता तहा विहरति, तं च एक्कलियं दट्ठुं केति पुरिसा साहन्ति, ताहे नाभी तं दारियं गहाय भणति—उसभस्स भारिया भविस्सइ त्ति ।

—आवश्यकचूर्णि जिनदास० १५३

१४०/२ तेऽप्यूचुर्भव राजा नस्त्वमेव किमुपेक्षसे ?
ईक्ष्यते नाऽपरः कोऽपि मध्येऽस्माकं य ईदृशः ।।

—त्रिषष्टि० १।२।८९६

१४२/२ अद्धभरहमज्झिल्लुतिभागे गंगासिंधुमज्झम्मि ।
इत्थ बहुमज्झदेसे उप्पण्णा कुलगरा सत्त ।।

—आवश्यकहारिभद्रीया वृ० गा० १५१

१४२/४ उग्गा भोगा रायण्ण खत्तिया, संगहो भवे चउहा ।
आरक्खगुरुवयंसा सेसा जे खत्तिया ते उ ।।

—आवश्यक निर्युक्त गा० १९८

१४२/५ ओंकार इव मन्त्राणां, नृपाणां प्रथमो नृपः ।
अपत्यानि निजानीव पालयामास स प्रजाः ।।
असाधुशासने साधुपालने कृतकर्मणः ।
प्रत्यङ्गानि स्वकानीव, मन्त्रिणो विदधे विभुः ।।
चौर्यादिरक्षणे दक्षानारक्षानप्यसूत्रयत् ।
सुत्रामेव लोकपालान्, राजा वृषभलाञ्छनः ।।
अनीकस्याङ्गमुत्कृष्टमुत्तमाङ्गं तनोरिव ।
राजस्थित्यै राजहस्ती, हस्तिनः स समग्रहीत् ।।
आदित्यतुरगस्पर्द्धयेवात्युद्धुरकन्धरान् ।
बन्धुरान् धारयामास, तुरगान् वृषभध्वजः ।।
सुश्लिष्टकाष्ठघटितान्, स्यन्दनान् नाभिनन्दनः ।
विमानानीव भूस्थानि, सूत्रयामास च स्वयम् ।।
सुपरीक्षितसत्त्वानां पत्तीनां च परिग्रहम् ।
नाभिसूनुस्तदा चक्रे चक्रवर्तिभवे यथा ।।

नव्यसाम्राज्यसौधस्य, स्तम्भानिव बलीयसः ।
अनीकाधिपतींस्तत्र, स्थापयामास नाभिभूः ॥

—त्रिषष्टि० १।२।९२५-९३२

१४२/६ स्वामी सामदामभेददण्डोपायचतुष्टयम् ।
जगद्व्यवस्थानगरीचतुष्पथमकल्पयत् ॥

—त्रिषष्टि० १।२।९५९

१४६/२ आसी य कंदहारा मूलाहारा य पत्तहारा य ।
पुप्फफलभोइणोऽवि य जइया किर कुलगरो उसभो ।
आसीय पाणिघंसी तिम्मिय तंदुलपवालपुडभोई ।
हत्थयलपुडाहारा जइया किल कुलगरो उसभो ॥
घंसेऊणं तिम्मण घंसणतिम्मणपवालपुडभोई ।
घंसणतिम्मपवाले हत्थउडे कक्खसेए य ॥
पक्खेवडहणमोसहि कहण निग्गमण हत्थिसीसम्मि ।
पयणारंभपवित्ती ताहे कासीय ते मणुया ॥

—आवश्यकनिर्युक्ति गा० २०३, २०६, २०७, २०९

१४७/३ स्यादारेका च षट्कर्मजीविनाम् गृहमेधिनाम् ।
हिंसादोषोऽनुसङ्गी स्याज्जैनानां च द्विजन्मनाम् ॥

—आदिपुराण ३९।१४३

१४८/१ भरतायार्थशास्त्रञ्च भरतञ्च ससंग्रहम् ।
अध्यायैरतिविस्तीर्णैः स्फुटीकृत्य जगौ गुरुः ॥
विभुर्वृषभसेनाय गीतवाद्यर्थसंग्रहम् ।
गन्धर्वशास्त्रमाचख्यौ यत्राध्यायाः परश्शतम् ॥
अनन्तविजयायाख्यद् विद्यां चित्रकलाश्रिताम् ।
नानाध्यायशताकीर्णां साकलाः सकलाः कलाः ॥
विश्वकर्ममतं चास्मै वास्तुविद्यामुपादिशत् ।
अध्यायविस्तरस्तत्र बहुभेदोऽवधारितः ॥
कामनीतिमथ स्त्रीणां पुरुषाणाञ्च लक्षणम् ।
आयुर्वेदं धनुर्वेदं तन्त्रं चाश्वेभगोचरम् ॥

—आदिपुराण १६।११९-१२३

१४८/६ इत्युक्त्वामुहुराशास्य विस्तीर्णे हेमपट्टके ।
अधिवास्य स्वचित्तस्थां श्रुतदेवीं सपर्यया ॥
विभुः करद्वयेनाभ्यां लिखन्नक्षरमालिकाम् ।
उपादिशल्लिपिं संख्यास्थानं चाङ्कैरनुक्रमात् ॥

—आदिपुराण १६।१०३, १०४

१५०/१ आसा हत्थी गावो गहिआइं रज्जसंगहनिमित्त ।
चित्तूण एवमाई चउव्विहं संगहं कुणइ ।।

—आवश्यकहारिभद्रीया वृ० भा० २०१

१५२/१ चातुर्वर्णस्य वर्णेन यदि वर्णो विभिद्यते ।
सर्वेषां खलु वर्णानां दृश्यते वर्णसंकरः ।।
कामः क्रोधः भयं लोभः शोकश्चिन्ता क्षुधा श्रमः ।
सर्वेषां नः प्रभवति कस्माद् वर्णो विभिद्यते ।।
स्वेदमूत्रपुरीषाणि श्लेष्मा पित्तं सशोणितम् ।
तनुः क्षरति सर्वेषां कस्माद् वर्णो विभिद्यते ।।
जङ्गमानामसंख्येयाः स्थावराणां च जातयः ।
तेषां विविधवर्णानाम् कुतो वर्णविनिश्चयः ।।
न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत् ।
ब्राह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम् ।।
कामभोगप्रियास्तीक्ष्णाः क्रोधनाः प्रियसाहसाः ।
त्यक्तस्वधर्मा रक्ताङ्गास्ते द्विजाः क्षत्रतां गताः ।।
गोभ्यो वृत्तिं समास्थाय पीताः कृष्युपजीविनः ।
स्वधर्मान्नानुतिष्ठन्ति ते द्विजाः वैश्यतां गताः ।।
हिंसानृतप्रिया लुब्धाः सर्वकर्मोपजीविनः ।
कृष्णाः शौचपरिभ्रष्टास्ते द्विजाः शूद्रतां गताः ।।
इत्येतैः कर्मभिर्व्यस्ता द्विजा वर्णान्तिर गताः ।
धर्मो यज्ञक्रियास्तेषां नित्यं न प्रतिषिद्ध्यते ।।

—महाभारत शा० अ० १८८।६-१४

१५३/१-३ स्वदोर्भ्यां धारयन् शस्त्रं क्षत्रियानसृजद् विभुः ।
क्षतत्राणनियुक्ता हि क्षत्रियाः शस्त्रपाणयः ।।
उरुभ्यां दर्शयन् यात्राम् अस्राक्षीद् वणिजः प्रभुः ।
जलस्थलादियात्राभिः तद्वृत्तिर्वार्त्तया यतः ।।
न्यग्वृत्तिनियतान् शूद्रान् पद्भ्यामेवासृजत् सुधीः ।
वर्णोत्तमेषु शुश्रूषा तद्वृत्तिर्नैकधा स्मृता ।।

—महापुराण १६।२४३-२४५

साधक-जीवन

१५८/१ भगवतर्षभेण परिरक्ष्यमाण एतस्मिन् वर्षे न कश्चन पुरुषो वाञ्छत्यविद्यमान-मिवात्मनोऽन्यस्मात् कथञ्चन किमपि कर्हिचिदवेक्षते भर्तर्यनुसेवनं विजृम्भित-स्नेहातिशयमन्तरेण ।

—श्रीमद्भागवत ५।४।१८

१५९/२ एवं खेलायमानेषु तत्रपौरजनेष्वथ।
दध्यौ स्वामी किमीदृक्षा, क्रीड़ाऽन्यत्रापि कुत्रचित् ?
ज्ञेऽथाऽवधिना स्वामी स्वःसुखं चोत्तरोत्तरम्।
अनुत्तरस्वर्गसुखं, भुक्तपूर्वं स्वयं च यत्॥
भूयोऽप्यचिन्तयदिदं, विगलन्मोहबन्धनः।
धिगेष विषयाक्रान्तो, वेत्ति नाऽऽत्महितं जनः॥

—त्रिषष्टि० १।२।१०१७-१०१९

१६०/१ एगा हिरण्णकोडी अट्ठेव अणूणगा सहस्सा।
सूरोदयमाईयं दिज्जइ जा पायरासाओ॥

—आवश्यकनिर्युक्ति गा० २३९

१६०/४ जाव विणीयं रायहाणिं मज्झंमज्झेणं निगच्छई, निगच्छइत्ता जेणेव सिद्धत्थवणे उज्जाणे जेणेव असोगवरपायवे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता असोगवरपायवस्स अहे जाव सयमेव चउमुट्ठियं लोयं करेइ करित्ता छट्ठेणं भत्तेणं अप्पाणएणं····

—कल्पसूत्र० सू० १९५

१६२/१ षण्मासानशनं धीरः प्रतिज्ञाय महाधृतिः।
योगैकाग्रनिरुद्धान्तर्बहिष्करणविक्रियः॥

—महापुराण १८।२

१६२/२ भयवमदीणमणसो संवच्छरमणसिओ विहरमाणो।
कन्नाहि निमंतिज्जइ वत्थाभरणासणेहिं य॥

—आवश्यकनिर्युक्ति गा० ३४१

१६४/२ अह ते छुहाकिलन्ता, फलाइं गिण्हन्ति पायवगणेसु।
अम्बरतलम्मि घुट्ठं, मा गेण्हह समणरूवेण॥
ताहे वक्कलचीवर-कुसपत्तनियंसणा फलाहारा।
सच्छन्दमइवियप्पा, बहुभेया तावसा जाया॥

—पउमचरियं ३।१४२, १४३

१६५/१ क्व तच्चीनांशुकमिदं, किराताहं क्व वल्कलम् ?
क्व सोऽङ्गरागो वपुषि ? भूरजः क्व पशूचितम् ?
क्व माल्यगर्भो धम्मिल्लः ? क्व जटा वटवृक्षवत् ?
क्व गजारोहणं ? क्वैष पादचारः पदातिवत् ?
एवं विचिन्तयन्तौ तौ, प्रणम्य पितरौ तदा।
पप्रच्छतुः कच्छमहाकच्छावप्येवमूचतुः॥

—त्रिषष्टि० १।३।१२७-१२९

१६७/३ सम्यक्त्वन्तावक्षीणकोशौ विद्याधरीवृत्तौ।
त्रिवर्गाबाधया राज्यं, यथावत् तौ प्रचक्रतुः॥

—त्रिषष्टि० १।३।२३३

१६७/४ छउमत्थो य वरिसं बहलीअंडबइल्लेहिं विहरिऊणं गजपुरं गतो, तत्थ भरहस्स पुत्तो सेज्जंसो, अन्ने भणन्ति बाहुबलिस्स सुतो सोमप्पभो सेयंसो य, ते य दोऽवि जणा णगरसेट्ठी य सुमिणे पासन्ति तं रत्तिं, समागता य तिन्निवि सोमस्स समीवे कहेंति, सेयंसो—सुणह अज्जं मया जं सुमिणे दिट्ठं—मेरु किल चलितो, इहागतो मिलायमाणप्पभो मया य अमयकलसेण अभिसित्तो साभावितो जातो पडिबुद्धो यऽम्हि ।

—आवश्यकचूर्णि, पृ० १६२-१६३

१६८/१ नगरसेट्ठी सुबुद्धिनामो, सो सूरस्स रस्सीसहस्सं ठाणाओ चलियं पासति, नवरं सिज्जंसेण हक्खुत्त सो य अहिअयरं तेयसम्पुण्णो जाओ ।

—आवश्यकहारिभद्रीयावृत्ति, पृ० १४५।१

१६८/३ सुमेरुमैक्षतोत्तुङ्गं हिरण्मयमहातनुम् ।
कल्पद्रुमञ्च शाखाग्रलम्बिभूषणभूषितम् ॥
सिंहं संहार सन्ध्याभ केसरोद्धुरकन्धरम् ।
श्रृङ्गाग्रलग्नमृत्स्नञ्च वृषभं कूलमुद्रुजम् ॥
सूर्येन्दु भुवनस्येव नयने प्रस्फुरद्द्युती ।
सरस्वन्तमपि प्रोच्चैर्वीचि रत्नचितार्णवम् ॥
अष्टमंगलधारीणि भूतरूपाणि चाग्रतः ।
.... ॥ —आदिपुराण २०।३४-३७

१६९/१ जाइस्सरणं जायं

—आवश्यक मलय० वृ०, पृ० २१८

१६९/४ काशो नाम इक्खु भण्णइ, जम्हा तं इक्खु पिबंति तेन काश्यपा अभिधीयन्ते ।

—दशवैकालिक—जिनदास चूर्णि, पृ० १३२

तीर्थङ्कर-जीवन

१७३/१ अथ व्रतात् सहस्राब्दां फाल्गुनैकादशी दिने ।
कृष्णे तथोत्तराषाढा स्थिते चन्द्रे दिवामुखे ॥
उत्पेदे केवलज्ञानं त्रिकालविषयं विभोः ।
हस्तस्थितामिवाऽशेष, दर्शयद् भुवनत्रयम् ॥

—त्रिषष्टि० १।३।३९६-३९७

१७५/१ स्वामिना मरुदेवाऽपि भरतायाऽऽशिषं ददौ ।
हृदमान्तीं शुचमिव, गिरमित्युज्जगार च ॥
मां त्वां महीं प्रजां लक्ष्मीं, विहाय तृणवत् तदा ।
एकाकी गतवान् वत्सो, दुर्मरा मरुदेव्यहो ॥
अहो कष्टमहो कष्टं ! यन्मे सूनुस्तपास्यये ।
पद्मखण्ड इव मृदुः सहते वारिविद्रवम् ॥

इति दुःखाकुलां देवीं मरुदेवीमुदञ्जलिः ।
वाचाऽभोवन्नवसुधासध्रीच्या वसुधाधवः ॥
स्थैर्याद्रिवज्रसारस्य महासत्त्वशिरोमणेः ।
तातस्य जननी भूत्वा, किमेवं देवि ! ताम्यसि ?
क्षुत्पिपासातपप्राया दुःसहा ये परीषहाः ।
सहायाः खलु तातस्य ते कर्मद्विषि सूदने ॥
न चेत् प्रत्येषि मद्वाचा, प्रत्येष्यसि तथाऽपिहि ।
तातस्य न चिराज्जात केवलोत्सववार्त्तया ॥

—त्रिषष्टि० १।३।४६०, ६१, ६६, ५०४, ५०५-५०६

१७५/२ प्रणम्य यमकस्तत्र भरतेशं व्यजिज्ञपत् ।
दिष्ट्याऽद्य वर्धसे देवाऽनया कल्याणवार्त्तया ॥
पुरे पुरिमतालाख्ये कानने शकटानने ।
युगादिनाथपादानामुदपद्यत केवलम् ॥
प्रणम्य शमकोप्युच्चैः स्वरमेवं व्यजिज्ञपत् ।
इदानीमायुधागारे, चक्ररत्नमजायत ॥

—त्रिषष्टि० १।३।५११-५१३

१७६/४ तायम्मि पूइए चक्कं पूइअं पूअणारिहो ताओ ।
इहलोइअ तु चक्कं परलोअसुहावहोताओ ॥

—आवश्यकनिर्युक्ति गा० ३४३

१७७/१ भगवतो य माता भणंति भरहस्स रज्जविभूतिं दट्ठूणं—मम पुत्तो एव चेव णग्गओ हिंडति । ताहे भरहो भगवतो विभूतिं वन्नेति, सा ण पत्तियति ।

—आवश्यकचूर्णि, पृ० १८१

१७७/२ भगवतो य छत्तादिच्छत्त पेच्छंतीए चेव केवलनाणं उप्पन्नं ।

—आवश्यकचूर्णि, पृ० १८१

१७७/३ भइयं भयस्स देहो तं मरुदेवीए पढमसिद्धोत्ति ।

—आवश्यकनिर्युक्ति

१७८/३ फग्गुणबहुले इक्कारसीइ अह अट्ठमेण भत्तेण ।
उप्पन्नंमि अणंते महव्वया पंच पन्नवए ॥

—आवश्यक निर्युक्ति गा० ३४०

१७९/२ श्रुतकीर्तिर्महाप्राज्ञो गृहीतोपासकव्रतः ।
देशसंयमिनामासीद्धौरेयो गृहमेधिनाम् ॥
उपात्ताणुव्रताधीरा प्रयतात्मा प्रियव्रता ।
स्त्रीणां विशुद्धवृत्तीनां बभूवाग्रेसरी सती ॥

—महापुराण २४।१७७-१७८

१७९/६ एभ्यो हिंसादिभ्य एकदेशविरतिरणुव्रतं, सर्वतो विरतिर्महा[illegible]

—त[illegible]र्थभाष्य ७।२

१८०/१ तत्थ उसभसेणो नाम भरहपुत्तो पुव्वभवबद्धगणहरनाम[illegible] जायसंवेगो पव्वइओ। —आवश्यकमलय०वृ० २२९

१८०/२ योऽसौ पुरिमतालेशो भरतस्यानुजः कृती।
प्राज्ञः शूरः शुचिर्धीरो, धौरेयो मानशालीनाम् ॥
श्रीमान् वृषभसेनाख्यः प्रज्ञापारमितो वशी।
स सम्बुध्य गुरोः पार्श्वे दीक्षित्वाभूद्‌ गणाधिपः ॥

—महापुराण २४।१७१-१७२

१८०/७ तमाहुर्वासुदेवांशं मोक्षधर्मविवक्षया।
अवतीर्णं सुतशतं तस्यासीद् ब्रह्मपारगम् ॥

—श्रीमद्भागवत ११।२।१६

१८३/२ प्रचचाल महीपालः पूर्वं पूर्वां दिशं प्रति।
संव्यानमिव तन्वानः, सैन्योत्थैः पांशुभिर्दिशाम् ॥

१८३/३ गत्वा योजनपर्यन्ते तच्च चक्रमवास्थित।
जज्ञे योजनमानं च, तत्प्रयाणानुमानतः ॥
ततो योजनमानेन प्रयाणेन व्रजन् नृपः।
गंगाया दक्षिण कूलं, प्रापत् कतिपयैर्दिनैः ॥ —त्रिषष्टि० १।४।५६-५७

१८५/१ नाम्ना सुभद्रास्त्रीरत्नं स स्वां दुहितरं ततः।
राज्ञे विश्राणयामास स्थिरीभूतामिव श्रियम् ॥

—त्रिषष्टि० १।४।५३४

१८५/२ अथ राज्ञा विसृष्टौ तौ, राज्यान्यारोप्य सूनुषु।
विरक्तावृषभेशांघ्रिमूले जगृहतुर्व्रतम् ॥

—त्रिषष्टि० १।४।५३६

१८६/२ (क) सुन्दरी पव्वयंती भरहेण इत्थीरयणं भविस्सइत्ति निरुद्धा साविया जाया।
—आवश्यक मलय० वृ०, पृ० २२९

(ख) विमुक्ता बाहुबलिना जिघृक्षुः सुन्दरी व्रतम्।
भरतेन निषिद्धा तु श्राविका प्रथमाऽभवत् ॥

—त्रिषष्टि० १।३।६५१

१८६/३ एवं जाहे बारस वरिसाणि महारायाभिसेगो वत्तो, रायाणो विसज्जिता ताहे णियगवग्गं सारिउमारद्धो, ताहे दाइज्जंति सव्वे णियलग्गा एवं पडिवाडिए सुन्दरी दाइत्ता, सा पंडुल्लुइतमुही, सा य जद्दिवसं रुद्धा चेव तद्दिवसमारद्धा चेव आयंबिलाणि करेति, तं पासित्ता रुट्ठो ते कोडुंबिये भणति······

—आवश्यकचूर्णि, पृ० २०९

१८७/१ [illegible] जं एसा एरिसी रूवेणं जाता ? वेज्जा वा नत्थि ?

—आवश्यकचूर्णि, पृ० २०९

१८७/२ भणति—[illegible] तातं भजसि तो वच्चतु पव्वयतु, अह भोगट्ठी तो अच्छतु, ताहे पाकेसु पडिता, विसज्जिया, पव्वइया ।

—आवश्यकचूर्णि, पृ० २०९

१८९/१ अह अन्नया कयाइ गिम्हे उण्हेण परिगयसरीरो ।
अण्हाण यहओ इमं कुलिंगं विचिंतेइ ॥
मेरुगिरीसमभारे न हुवि समत्थो मुहुत्तमवि वोढु ।
सामन्नए गुणे गुणरहिओ संसारमणुकंखी ॥
एवमणुचिंतयंतस्स तस्स निअगा मई समुप्पन्ना ।
लद्धो मए उवाओ जाया मे सासया बुद्धि ॥
समणा तिदंडविरया भगवंतो निहुअसंकुइअअंगा ।
अजिइंदिअदंडस्स उ होउ तिदंडं महं चिंधं ॥
लोइंदियमुंडा संजया उ अहय खुरेण ससिहो अ ।
थूलगपाणिवहाओ, वेरमणं मे सया होउ ॥
निक्किंचणा य समणा अकिंचणा मज्झ किंचण होउ ।
सीलसुगंधा समणा अहयं सीलेण दुग्गंधो ॥
ववगयमोहा समणा मोहाच्छन्नस्स छत्तय होउ ।
अणुवाणहा य समणा मज्झं तु उवाहणे हुंते ॥
सुक्कंबरा य समणा निरंबरा मज्झ धाउरत्ताइं ।
हुंतु इमे वत्थाइं अरिहो मि कसायकलुसमई ॥
वज्जंतऽवज्जभीरु बहुजीवसमाउल समारंभ ।
होउ मम परिमिएणं जलेणण्हाणं च पिअणं च ॥
एवं सो रुइयमई निअगमइविगप्पिअं इमलिंगं ।
....

—आवश्यकनिर्युक्ति गा० ३५०-३५९

१९०/३ तत्थ मरीई नामा आइपरिव्वायगो उसभनत्ता ।
सज्झायज्झाणजुओ एगते झायइ महप्पा ॥
तं दाएइ जिणिंदो एव नरिंदेण पुच्छिओ सन्तो ।
धम्मवरचक्कवट्टी अपच्छिमो वीरनामुत्ति ॥
तथा-आइगरुदसाराणं तिविट्ठु नामेण पोअणाहिवई ।
पियमित्तचक्कवट्टी मूआइविदेहवासम्मि ॥

—आवश्यकनिर्युक्ति गा० ४२२-४२४

१९०/४ नावि अते पारिवज्जं वंदामि अहं इमं च ते जम्मं ।
जं होहिसि तित्थयरो अपच्छिमो तेण वंदामि ॥

—आवश्यकनिर्युक्ति गा० ४२८

१९०/५ जइ वासुदेव पढमो मूआइ विदेहं चक्कवट्टित्तं ।
चरिमो तित्थयराणं होउ अलं इत्तिअं मज्झ ॥

—आवश्यकनिर्युक्त गा० ४३१

१९०/६ अहयं च दसाराणं पिया मे चक्कवट्टिवंसस्स ।
अज्जो तित्थयराणं अहो कुलं उत्तम मज्झ ॥

—आवश्यकनिर्युक्ति गा० ४३२

१९२/१ स्वपितामहसन्त्यागे स्वयञ्च गुरुभक्तितः ।
राजभिः सह कच्छाद्यैः परित्यक्तपरिग्रहः ॥

—उत्तरपुराण ५४।७२

१९३/२ गते शतधृतौ क्षत्तः कर्दमस्तेन चोदितः ।
यथोदितं स्वदुहितः प्रादाद्विश्वसृजां ततः ॥
मरीचये कलां प्रादादनसूयामथात्रये ।
श्रद्धामंगिरसेऽयच्छत्पुलस्त्याय हविर्भुवम् ॥

—भागवत ३।२४।२१-२२

१९८/२ नूनं प्रमत्तः कुरुते विकर्म,
यदिन्द्रियप्रीतय आपृणोति ।
न साधु मन्ये यत आत्मनोऽय-
मसन्नपि क्लेशद आस देहः ॥

१९८/३ पराभवस्तावदबोध-जातो,
यावन्न जिज्ञासत आत्मतत्त्वम् ।
यावत्क्रियास्तावदिदं मनो वै,
कर्मात्मकं येन शरीरबन्धः ॥

१९९/१ एवं मनः कर्मवशं प्रयङ्क्ते
अविद्ययाऽऽत्मन्युपधीयमाने ।
प्रीतिर्न यावन्मयि वासुदेवे,
न मुच्यते देहयोगेन तावत् ॥

१९९/२ यदा न पश्यत्ययथा गुणेहां,
स्वार्थे प्रमत्तः सहसा विपश्चित् ।
गतस्मृतिर्विन्दति तत्र तापा—
नासाद्य मैथुन्यमगारमज्ञः ॥

—भागवत ५।५।४-७

१९९/४ आणवण भाउआणं समुसरणे पुच्छ दिट्ठन्तो।

—आवश्यकनिर्युक्ति गा० ३४८

२००/१ ताहे ते सव्वे पव्वइत्ता ताहे भरहेण बाहुबलिस्स पत्थवितं, ताहे सो ते पव्वइते सोऊण आसुरुत्तो भणति—ते बाला तुमे पव्वाविता, अहं पुण जुद्धसमत्थो। किं वा ममंमि अजिते तुमे जितं ति ? ता एहि अह वा राया तुमं वा।

—आवश्यकचूर्णि, पृ० २१०

२०१/१ (क) ताहे ते सव्वबलेण दोवि देसंते मिलिया, ताहे बाहुबलिणा भणितं—किं अणवराहिणा लोगेण मारिएण ? तुम अहं च दुयगा जुज्झामो एवं होउत्ति

—आवश्यकचूर्णि, पृ० २१०

(ख) अथोचिरे सुरा राजन् ! महत् संगामकारणम्।
अल्पेन कारणेनेदृक्, प्रवृत्तिर्न भवादृशाम् ॥

—त्रिषष्टि० १।५।४७१

२०३/१ अन्योऽन्य सैनिकानेवं गृणतः प्रेक्ष्य चक्रभृत्।
भावज्ञ इंगिताकारैः समाहूयेत्यभाषत।
....
हृष्यन्तः स्वामिनः स्थाम्ना सैन्यास्तद्बाहुशृङ्खलाः।
प्राक्कृतामिव दुःशङ्कामुञ्झाञ्चक्रुः क्षणादपि ॥

—त्रिषष्टि० १।५।५५२-५७०

२०४/१ जलदृष्टि नियुद्धेषु योऽन्ययोर्जयमाप्स्यति।
स जयश्रीविलासिन्याः पतिरस्तु स्वयंवृतः ॥

—महापुराण ३३।४५

२०४/२ तेसिं पढमं दिट्ठिजुद्धं जात, तत्थ भरहो पराजितो। पच्छा वायाए, तहिंपि भरहो पराजितो, एव बाहुजुद्धेऽवि पराजितो, ताहे मुट्ठिजुद्ध जातं तत्थवि पराजितो।

—आवश्यकचूर्णि, पृ० २१०

२०४/५ भरतस्त तथा दृष्ट्वा विचार्यं स्वं कुकर्म च।
बभूव न्यञ्चितग्रीवो, विविक्षुरिव मेदिनीव ॥

—त्रिषष्टि० १।५।७४६

२०६/३ भरतोऽपि भ्रातृप्रव्रज्याकर्णनात् सञ्जातमनस्तापोऽधृतिं चक्रे, कदाचिद्भोगादीन् दीयमानान् पुनरपि गृह्णन्तीत्यालोच्य भगवत्समीपं चागम्य निमन्त्रयंश्चतान् भोगैर्निराकृतश्चिन्तयामास एतेषामेवेदानी परित्यक्तसंगाना आहारदानेऽपि तावद्धर्मानुष्ठानं करोमीति पञ्चभिः शकटशतैर्विचित्रमाहारमानाय्योपनमन्त्र्या-धाकर्माहृत च न कल्पते यतीनामिति प्रतिषिद्धेऽकृतकारितेनान्येन निमन्त्रितवान् देवराडाह—गुणोत्तरान् पूजयस्व। सोऽचिन्तयत् के मम साधुव्यतिरेकेण जात्या-दिभिरुत्तरा ? पर्यालोचयता ज्ञातं—श्रावका विरताविरतत्वाद् गुणोत्तराः तेभ्यो

दत्तमिति····भरतश्च श्रावकानाहूयोक्तवान् भवद्भिः प्रतिदिनं मदीयं भोक्तव्यं १. कृष्यादि च न कार्यं, २. स्वाध्यायपरैरासितव्यं, ३. भुक्ते च मदीयगृहद्वारा-सन्नव्यवस्थितैर्वक्तव्यम् 'जितो भवान् वर्द्धते भयं तस्मान्मा हन मा हनेति' ते तथैव कृतवन्तः ।

—आवश्यकमलय० वृ० २३५।१

२१२/२ अर्द्धवर्षेऽर्धवर्षे च परीक्षां चक्रिरे नवाः ।
श्रावका काकिणीरत्नेनाऽऽलम्भ्यन्त तथैव हि ॥

—त्रिषष्टि० १।६।२४२

२१३/१ इयं भरतराज्येऽभूत् स्थितिरर्कयशाः पुनः ।
स्वर्णयज्ञोपवीतानि चक्रे काकिण्यभावतः ॥
महायशः प्रभृतयः केचिद् रौप्याणि चक्रिरे ।
पट्टसूत्रमयान्यन्येऽपरे सूत्रमयानि तु ॥
भरतादित्य-यशास्ततश्चाऽऽसीन्महायशाः ।
अतिबलो बलभद्रो बलवीर्यस्ततोऽपि च ॥
कीर्तिवीर्यो जलवीर्यो दण्डवीर्यस्ततोऽष्टमः ।
इत्यष्टौ पुरुषान् यावदाचारोऽयं प्रवृत्तवान् ॥

—त्रिषष्टि० १।६।२४९-२५२

२१३/३ वेदाश्चार्हत्स्तुति यति श्राद्धधर्ममयास्तदा ।
पश्चादनार्याः सुलसायाज्ञवल्क्यादिभिः कृताः ॥ —त्रिषष्टि० १।६।२५६

२१५/१ तो अन्नपाण-दाणाऽऽसणेसु संपूइयाण उप्पन्नं ।
गव्वं चिय अइतुङ्गं वहन्ति इत्थं कयत्थऽम्हे ॥
मइसायरेण भणिओ, भरहनरिन्दो सहाए मज्झम्मि ।
जह जिणवरेण भणियं··· ··· ··· ॥
जाणं तुमे नराहिव ! सम्माणो पढमसावयाण कओ ।
ते वीरस्सऽवसाणे, होहिन्ति कुतित्थपासण्डा ॥
सोऊण वयणमेयं परिकुविओ नरवइ भणइ एवं ।
सिग्घं चिय नयराओ, सव्वेवि करेह निद्देसा ॥
लोगेण हम्ममाणा, सरणं तित्थकरं समल्लीणा ।
तेण य निवारिया ते, पत्थर पहरेसु हम्मन्ता ॥
मा हणसु पुत्त ! एए जं उसभजिणेण वारिओ भरहो ।
तेण इमे सयलच्चिय, वुच्चन्ति य 'माहणा' लोए ॥

—पउमचरियं ४।२।७७-७९, ८२-८४

२२०/१ अथ चक्रधरः काले व्यतिक्रान्ते कियत्यपि ।
स्वप्नान्यशामयत् काञ्चिचद् एकदाऽमुद्रतदर्शनात् ॥

सिंहो,[१] मृगेन्द्रपोतश्च,[२] तुरगः करिभारभृत् ।[३]
छागा[४] वृक्षलतागुल्मशुष्कपत्रोपभोगिनः ॥
शाखामृगा द्विपस्कन्धम् आरूढाः,[५] कौशिकाः[६] खगैः ।
विहितोपद्रवा ध्वाङ्क्षैः, प्रमथाश्च[७] प्रमोदिनः ॥
शुष्कमध्यं तडागं[८] च पर्यन्तप्रचुरोदकम् ।
पांसुधूसरितो रत्नराशिः,[९] श्वार्थ मर्गाहितः[१०] ॥
तारुण्यशाली वृषभः[११] शीतांशुः परिवेषयुक्[१२] ।
मिथोऽङ्गीकृतसाङ्गत्यौ पुंगवौ संगलच्छ्रियौ[१३] ॥
रविराशावधू[१४] रत्नवतंसोऽब्दैस्तिरोहितः ।
संशुष्कस्तरुरच्छायो[१५] जीर्णपर्ण समुच्चयः[१६] ॥

—महापुराण ४१।१, ३६-४०

२३३/४ सङ्घपरिषदि श्रीमान् बभौ सप्तविधस्तदा ।
विचित्रगुणपूर्णानामृषीणां वृषभेशिनः ॥
सहस्राणि च चत्वारि तत्र सप्तशतानि च ।
पञ्चाशच्च महाभागा बभुः पूर्वधरास्तदा ॥
तावन्त्येव सहस्राणि शतं पञ्चाशतायुतम् ।
श्रुतस्य शिक्षकाः प्रोक्ताः संयताः संयताक्षका ॥
सहस्राणि नवाधीता मुनयोऽवधिलोचनाः ।
विंशतिस्ते सहस्राणि केवलज्ञान लोचनाः ॥
विंशतिस्ते सहस्राणि षट् शतानि च वैक्रियाः ।
विक्रियाशक्ति योगेन जयन्तः शक्रमप्यलम् ॥
द्वादशैव सहस्राणि तथा सप्तशतानि च ।
पञ्चाशच्च युतास्तत्र मत्या विपुलया बभुः ॥
तावन्त एव संख्याताः सख्यया ऽसंख्यसद्गुणाः ।
जेतारो हेतुवादज्ञा वादिन. प्रतिवादिनाम् ॥
सपञ्चाशत्सहस्रास्ता शुद्धशा बभुरार्यिकाः ।
श्राविकाः पञ्चलक्ष्यस्तास्त्रिलक्षाः श्रावकाश्चते ॥—हरिवंशपुराण १२।७१-७८

२३३/५ .... ।
दृढव्रतादिभिर्लक्षत्रयोक्तैः श्रावकैः श्रितः ॥
श्राविकाभिः स्तुतः पञ्चलक्षाभिः सुव्रतादिभिः ।
.... ॥ —महापुराण ४७।२९६।२९७

२३४/२ सतां सत्फल सम्प्राप्त्यै विहरन् स्वगणैः समम् ।
चतुर्दशदिनोपेत सहस्राब्दोनपूर्वकम् ॥
लक्षं कैलासमासाद्य श्री सिद्ध शिखरान्तरे ।
पौर्णमासीदिने पौषे निरिच्छः समुपाविशत् ॥

तदा भरत राजेन्द्रो महामन्दरभूधरम् ।
अप्राग्भारं व्यलोकिष्ट स्वप्ने दैर्घ्येण संस्थितम् ॥
तदैव युवराजोऽपि स्वर्गादेत्य महौषधिः ।
द्रुमश्छित्वा नृणां जन्मरोगं स्वार्यन्तमैक्षत ॥
कल्पद्रुममभीष्टार्थं दत्वा नृभ्यो निरन्तरम् ।
गृहेट् निशामयामास स्वर्गप्राप्तिसमुद्यतम् ॥
रत्नद्वीपं जिघृक्षुभ्यो नानारत्नकदम्बकम् ।
प्रादायाभ्रगमोद्युक्तम् अद्राक्षीत् सचिवाग्रिमः ॥
वज्रपञ्जरमुद्भिद्य कैलासं गजवैरिणम् ।
उल्लङ्घयितुमुद्यन्तं सेनापतिमपश्यत ॥

—महापुराण ४७।३२२-३२६

२३४/३ एवमालोकितस्वप्ना राजराजपुरस्सराः ।
पुरोधसं फलं तेषाम् अपृच्छन्नर्यमोदये ॥
कर्माणि हत्वा निर्मूलं मुनिभिर्बहुभिः समम् ।
पुरोः सर्वेऽपि शंसन्ति स्वप्नाः स्वर्गाग्रगामिताम् ॥

—महापुराण ४७।३३२-३३३

२३८/१ अथ कदाचिदसौ वदनाम्बुजं,
समभिवीक्ष्य समुज्ज्वल दर्पणे ।
पलितमैक्षत दूतमिवागतं,
परमसौख्यपदात् पुरुसन्निधेः ॥
आलोक्य तं गलितमोहरसः स्वराज्यं,
मत्वा जरत्तृणमिवोद्गतबोधिरुद्यन् ।
आदातुमात्महित मात्मजमर्ककीर्ति,
लक्ष्म्या स्वया स्वयमयोजयदूर्जितेच्छः ॥

—महापुराण ४७।३६२-३६३

२३८/२ एवं च भरतः पूर्वलक्षाणां सप्तसप्ततिम् ।
कुमारभावेऽगमयत्, प्रभौ शासति मेदिनीम् ॥ —त्रिषष्टि० १।६।७५१

२३९/१ नवाभवन् महाभागा मुनयोह्यर्थशंसिनः ।
श्रमणा वातरशना आत्मविद्याविशारदाः ॥
कविर्हरिरन्तरिक्षः प्रबुद्ध पिप्पलायनः ।
आविर्होत्रोऽथ द्रुमिलश्चमसः करभाजनः ॥

—श्रीमद्भागवत ११।२।२०-२१

२३९/२ अथ विश्वम्भरामारं सोढुंभरतजन्मनः ।
राज्याभिषेकमकरोदादित्ययशसो हरिः ॥ —त्रिषष्टि० १।६।७४६

———

शब्दानुक्रमणिका

(व)

(श)

(ष)

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

(अ)

अमरकोष

अथर्ववेद

अहिंसा वाणी (मासिक पत्रिका)

अष्टाध्यायी

अभिधान चिंतामणि कोष

अभिधान राजेन्द्र कोष

अभिज्ञान शाकुन्तलम्—कालिदास

(आ)

आवश्यकभाष्य

आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग (प्रकाशक—ऋषभदेव केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था, रतलाम)

आवश्यक हारिभद्रीयावृत्ति, प्रथम विभाग, (प्रकाशक—आगमोदय समिति)

आवश्यकमलयगिरिवृत्ति, पूर्व भाग, (प्रकाशक—आगमोदय समिति)

आचारांग

आवश्यकनिर्युक्ति, पूर्वभाग (प्रकाशक—श्री आगमोदय समिति)

आदिनाहचरियं—वर्धमानाचार्य

आदिपुराण—उत्तरपुराण—भट्टारक सकलकीर्ति विरचित

आदिनाथचरित्र—वर्धमानाचार्य विरचित

आदिदेवस्तव—रामचन्द्रसूरि

आदिजिनस्तोत्रम्— उपाध्याय यशोविजय (प्रकाशक—यशोभारती जैन प्रकाशन समिति, बम्बई)

आर्य मंजुश्री मूल कल्प (बौद्धग्रन्थ)

आजकल (मासिक पत्रिका)

आवश्यकमूलभाष्य

आग्नेय पुराण

(इ)

इण्डियन ऐंटिक्वेरी, खण्ड १६

(ई)

ईशान संहिता

ईशावस्योपनिषद्

(उ)

उत्तराध्ययनसूत्र

उपायहृदयशास्त्र—चिरसंग विरचित

उर्दू-हिन्दी शब्दकोष—सं० रामचन्द्र वर्मा (प्रकाशक—हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई)

उत्तराध्ययन—सुखबोधा टीका

उपासकदशांगसूत्र

उदाहरणमाला—आचार्य जवाहरलालजी महाराज; जवाहर किरणावली खण्ड १

(ऋ)

ऋषभशतक—हेमविजयजी

ऋषभजिनस्तुति—जिनवल्लभसूरि

ऋषभजिन स्तवन—जिनप्रभसूरि

ऋग्वेद

ऋग्वेद—सायणाचार्य भाष्य, पूना संस्करण

(ए)

एन्सियेण्ट इंडिया ऐज डिस्क्राइब्ड बाय मेगस्थनीज एण्ड एरियन, कलकत्ता

(औ)

औपपातिक सूत्र

(अ)

अंगुत्तरनिकाय

(क)

कल्पसूत्र—सं० देवेन्द्र मुनि शास्त्री (प्रकाशक—श्री अमर जैन शोध-संस्थान, गढ़ सिवाना)

कहावलि—भद्रेश्वरसूरि विरचित

कूर्मपुराण

कल्पसूत्र भूमिका (Introduction)—लेखक श्री स्टीवेन्सन

काललोकप्रकाश

कल्पसूत्र—सुबोधिका टीका

कामसूत्र—वात्स्यायन

कल्पसूत्र किरणावली

कल्पसूत्रकल्पलता

कल्पसूत्रकल्पार्थबोधिनी

कल्पसूत्रकल्पद्रुमकलिका

कृष्ण यजुर्वेद

कालमाधवीय नागरखण्ड

(ग)

गौतम—धर्मसूत्र

गुरु गौतम स्वामी—लेखक रतिलाल दीपचन्द देसाई

(च)

चउप्पन महापुरिस चरियं—आचार्य शीलांक विरचित—सं० पंडित अमृतलाल मोहनलाल भोजक (प्रकाशक—प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, वाराणसी)

चतुर्विंशति जिनेन्द्र संक्षिप्त चरितानि—अमरचन्द्रसूरि विरचित

चौबीस तीर्थंकर चरित्र—बड़ गच्छीय हरिभद्रसूरि विरचित

चार तीर्थंकर—प्रज्ञामूर्ति पं० सुखलाल जी संघवी, (प्रकाशक—श्री जैन संस्कृति संशोधन मंडल, बनारस)

चर्पट पंजरिका—आचार्य शंकर

चतुर्विंशतिस्तव

छ

छान्दोग्योपनिषद्

ज

जैन आगमों में आश्चर्य

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिसूत्र—सं० श्री अमोलक ऋषिजी, शान्तिचन्द्र विहित वृत्ति सहित (प्रकाशक—देवचन्द लाल-भाई जैन पुस्तकोद्धारक फंड बम्बई; धनपतसिंह, कलकत्ता)

जैन धर्म का मौलिक इतिहास—आचार्य हस्तीमलजी महाराज (प्रकाशक–जैन इतिहास प्रकाशन समिति, जयपुर)

जैन साहित्य का इतिहास—पं० कैलाश-चन्द्र शास्त्री (प्रकाशक—गणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला, वाराणसी)

जिनसहस्रनाम—पंडित आशाधर

जैनधर्म की प्राचीनता—वरदाकांत मुखोपाध्याय एम० एन० ए०

जैन रामायण—केशराज जी

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिवृत्ति

जयमंगला टीका

जैनमतसार

जैनप्रकाश (सामयिक पत्रिका)

जैन इतिहास की प्राचीन कथाएँ

जैन साहित्य का वृहद् इतिहास

ट

ट्रान्सलेशन आव द फ्रेगमेन्ट्स आव द इण्डिया आव मैगस्थनीज

ठ

ठाणांग—सं० दलसुख मालवणिया

त

तिलोयपण्णत्ति—यतिवृषभ आचार्य विरचित (प्रकाशक—जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर)
तिसट्ठि महापुरिसगुणालंकार—महाकवि पुष्पदन्त
तैत्तिरीय संहिता
तैत्तिरीयारण्यक भाष्य—सायणाचार्य
तैशोत्रिपिटिक
तीर्थंकर महावीर

द

दी फिलासाफीज आफ इण्डिया
दशवैकालिक—अगस्त्यसिंह चूर्णि
दर्शन अने चिन्तन, भाग ६, भगवान ऋषभदेव अने तेमनो परिवार

ध

धम्मपद

न

नाभिनेमि द्विसंधान काव्य—बृहद्गच्छीय हेमचन्द्रसूरि विरचित
नाभिस्तव—रामचन्द्रसूरि
नियमसार तात्पर्यवृत्ति
नारदपुराण
न्यायबिन्दु
नन्दीसूत्र
निशीथचूर्णि
नीतिसार—शुक्राचार्य
नन्दीश्वर भक्ति

प

पण्णवणासुत्तं (प्रज्ञापनासूत्र) स० मुनि पुण्यविजयजी (प्रकाशक—महावीर जैन विद्यालय, बम्बई)
पउम चरियं—श्री विमलसूरि विरचित सं० श्री पुण्यविजयजी (प्रकाशक—प्राकृत ग्रंथ परिषद, वाराणसी)
पुराणसार—मुनि श्रीचन्द्र विरचित
पुराणसार संग्रह—दामनंदी आचार्य विरचित
पद्मानन्द महाकाव्य—अमरचन्द्र सूरि विरचित
प्रागैतिहासिक जैन-परम्परा—डा० धर्मचन्द्र जैन (प्रकाशक—रांका चेरिटेबिल ट्रस्ट, बम्बई)
प्रभास पुराण
पद्मपुराण
प्राचीन भारत का भौगोलिक स्वरूप—डा० अवध बिहारीलाल अवस्थी (प्रकाशक—कैलाश प्रकाशन, लखनऊ)
प्रश्नव्याकरण सूत्र
पम्परामायण—(कन्नड़ भाषा में रचित रामचरित)
पम्प आदि पुराण—कवि चक्रवर्ती
प्राचीन भारत—गंगाप्रसाद एम० ए०

फ

फा युअन्द चू लिन्द (चीनी भाषा में रचित बौद्ध विश्व कोष)

ब

बृहदारण्यक उपनिषद्
ब्रह्मांड पुराण
बुलेटिन आफ दी डेक्कन कालेज रिसर्च इन्स्टीट्यूट, भाग १४
बौद्ध धर्म क्या कहता है ?—लेखक कृष्णदत्त भट्ट
ब्रह्म भाष्य—आचार्य शंकर
बुद्धचर्या—राहुल सांकृत्यायन
बृहत्स्वयंभू स्तोत्र—समन्तभद्राचार्य
बुद्ध गौतमीय धर्मशास्त्र
बुद्धिस्ट इण्डिया—रीस डेविस

भ

भगवतीसूत्र(भगवई) अंग सुत्ताणि भाग २, (प्रकाशक—जैन विश्व भारती, लाडनूं, राजस्थान)

भरतेश्वर-बाहुबली वृत्ति—शुभशीलगणी विरचित—भाषान्तरकार शाह मोतीचन्द ओघवजी, (प्रकाशक—शाह अमृतलाल ओघवजी, अहमदाबाद)

भरत-बाहुबली महाकाव्यम्—पुण्य-कुशलगणी विरचित, अनुवादक—मुनि दुलहराज (प्रकाशक—जैन विश्वभारती, लाडनूं, राजस्थान)

भक्तामर स्तोत्र—आचार्य मानतुंग

भक्तामर समस्यापूर्ति स्तोत्र—भावप्रभ सूरि

भक्तामर टीका—मेघविजय उपाध्याय

भक्तामर स्तोत्र वृत्ति—गुणाकर

भरतेश्वर अभ्युदय—पंडित आशाधर

भरत-मुक्ति—आचार्य तुलसी (प्रकाशक—आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली)

भारत का आदि सम्राट—स्वामी कर्मानन्द (प्रकाशक—दिगम्बर जैन समाज, मुलतान)

भरत और भारत—प्रेमसागर जैन(प्रकाशक—दिगम्बर जैन कालिज प्रबन्ध समिति, बड़ौत)

भगवती सूत्र—अभयदेव वृत्ति

भारतीय जैन संस्कृति अने लेखनकला—पुण्यविजयजी महाराज

भारत के प्राचीन जैन तीर्थ

भरत चरित

भरतेश वैभव

भारत की मौलिक एकता—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल

म

महापुराण—जिनसेनाचार्य विरचित, आदिपुराण, सं० पन्नालाल जैन (प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी)

महापुराण—मुनि मल्लिषेण

महापुरुषचरित—मेरुतुंग विरचित

महाभारत

मैत्रायणी उपनिषद्

मनुस्मृति

मेदिनी कोष

मार्कण्डेय पुराण : सांस्कृतिक अध्ययन—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल

महावंश

महावस्तु

मुंडकोपनिषद्

महावीर चरियं

महावीर पुराण—आचार्य सकलकीर्ति

मार्कण्डेय पुराण

य

युगादिदेव द्वात्रिंशिका—रामचन्द्रसूरि

यजुर्वेद

र

रिसभदेव चरियं—भुवनतुंग सूरि विरचित

रायमल्लाभ्युदय—उपाध्याय पद्मसुन्दर विरचित

रुद्रसूक्त

रामायण—वाल्मीकि ऋषि विरचत

राजप्रश्नीय सूत्र

रघुवंशम्—कालिदास

ल

लघु त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित—मेघविजय उपाध्याय विरचित

लघुपुराण अथवा लघु त्रिषष्टि लक्षण-महापुराण—चन्द्रमुनि विरचित

लिंग पुराण
ललित विस्तर
लंकावतार सूत्र (बौद्ध साहित्य का ग्रंथ)
लोकप्रकाश

(व)

विशेषावश्यकभाष्य—जिनभद्रगणी विरचित—सं० दलसुख मालवणिया (प्रकाशक—लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर, अहमदाबाद)
वसुदेव हिंडी, प्रथम खण्ड, सं० पुण्यविजय जी (प्रकाशक—श्री जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर)
वाजसनेयी संहिता
विष्णुपुराण
वाराहपुराण
वीमेन इन बुद्धिस्ट लिटरेचर—बी. सी. लाहा
वैज्ञानिक विकास की भारतीय परम्परा
विशेषावश्यक टीका
विशेषणवती—जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण
वायु महापुराण

(श)

शतपथ ब्राह्मण
शिवपुराण
शतरुद्रिय स्तोत्र
श्वेताश्वतर उपनिषद्
श्रीमद्भागवत
शिवतत्त्व रत्नाकर—केलदि श्रीबसव राजेन्द्र विरचित
श्रमण भगवान महावीर
शास्त्रसारसमुच्चय—माघनन्दी
शुक्रनीति—शुक्राचार्य
शुक्ल यजुर्वेद संहिता

(ष)

षट्शास्त्र—आर्यदेव विरचित

(स)

सूत्रकृतांगसूत्र
सूत्रकृतांगचूर्णि
सूत्रकृतांगनिर्युक्ति
स्थानांगसूत्र—मुनि कन्हैयालाल कमल (प्रकाशक—आगम अनुयोग, सांडेराव, राजस्थान)
समवायांगसूत्र, सं० दलसुख मालवणिया
सिरि उसहणाहचरियं—विजयकस्तूरसूरि विरचित—सं० चन्द्रोदय विजयगणी (प्रकाशक—श्री नेमविज्ञान कस्तूर-सूरि ज्ञान मंदिर, सूरत)
सामवेद
सायण भाष्य
स्कन्दपुराण
सिद्धान्त कौमुदी
सिद्धान्त संग्रह
संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी—मोन्योर-मोन्योर विलियम
सेन प्रश्न
सार्थ एकनाथी भागवत
सूरसागर—हिन्दी कवि सूरदास विरचित
संस्कृति के चार अध्याय—रामधारीसिंह दिनकर

(ह)

हरिवंशपुराण—पुन्नाट संघीय आचार्य जिनसेन (प्रकाशक—भारतीय ज्ञान-पीठ, काशी)
हिन्दू सभ्यता—राधाकुमुद मुकर्जी
हिन्दी विश्वकोष—नगेन्द्रनाथ वसु

(त्र)

त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित महाकाव्य

—हेमचन्द्राचार्य विरचित, सं० मुनि-चरणविजयजी, (प्रकाशक—आत्मानन्द सभा, भावनगर, सौराष्ट्र)
त्रिषष्टि स्मृतिशास्त्र—पंडित आशाधर विरचित—(प्रकाशक—माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई)
त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित—विमलसूरि विरचित
त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित—वज्रसेन विरचित
त्रिषष्टिशलाका पंचाशिका—कल्याण विजयजी के शिष्य द्वारा विरचित
त्रिषष्टिशलाकापुरुष विचार

(ज्ञ)

ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र

ऋषभदेव-सम्बन्धी कन्नड साहित्य

(१) आदिपुराण—पम्प
(२) चामुण्डरायपुराण—चामुण्डराय (त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र)
(३) महापुराणसार—मिर्जि अण्णाराय
(४) ऋषभदेव (उपन्यास)—मिर्जि अण्णाराय
(५) आदिपुराण (प्राचीन कन्नड)—हस्तिमल कवि
(६) आदिदेव (बाल साहित्य) प्रकाशक—इण्डिया बुक हॉउस, बेंगलोर
(७) चदुर चन्द्रम
(८) पञ्चबाण कवि
(९) पद्मण पण्डित
(१०) भरतेश वैभव—ले० रत्नाकर वर्णि